तिरंगा गणेश : (हुबली) :
में सजे तिरंगे

...४] जनवरी, सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २२

सम्पादक

...क मूल्य २)

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

...ा के लिये २।।)

श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१—अनुरञ्जन—[श्री कवि "कर्ण" महोदय] ३६१

२—यज्ञोपवीत या जनेऊ—श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] ३६४

३—तपोवन की कथाएं—शृ गी मुनि का तपस्तेज—[श्री पं० शंकरदेव विद्यालङ्कार गुरुकुल सूपा] ३७४

४—राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन और दयानन्द—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] ३७६

५—समालोचना— ३८०

६—वेदों की झांकी— ३८१

७—वैदिक राहु—[श्री पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र काव्य मध्यम, एम० एस-सी०] ३८३

८—सम्भाषण—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] ३८५

९—ऋषि की स्मृति—[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] ३९५

१०—आर्य्य-समाज के निर्माता—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ३९६

११—सम्पादकीय—ज्योतिष पर पाश्चात्य वैज्ञानिक ३९८
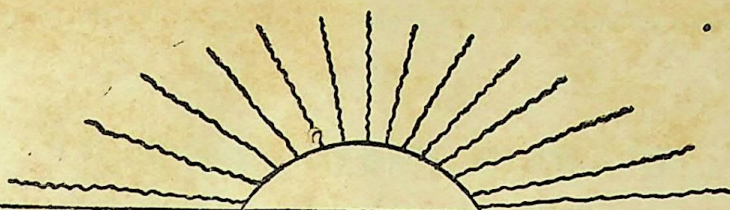
ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति ।

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४	पौष संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, जनवरी १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२	संख्या ४ पूर्ण सं २२

अनुरञ्जन

[श्री० कवि "कर्ण" महोदय]

८

जहाँ पपीहा पीव—पीव दो अक्षर द्वारा ।

करता हो सुतराम, प्रकट निज आशय सारा ॥

जहाँ कलापी कुहू, कुहू मन को भाती हो ।

पञ्चम स्वर में राग, जहां कोकिल गाती हो ॥

जोड़ी सारस की प्रीत की, रीति सिखाती हो जहां ।

कवि "कर्ण" सीखना चाहिये; अपने को भी कुछ वहां ॥

९

जहां जलाशय जलज-पूर्ण शोभादायी हों।
गूँज रहे अविराम, जहाँ अलि समुदायी हों॥
मृग शावक मिल जहां, छलागें नित भरते हों।
उपवन जहाँ प्रदान, नया जीवन करते हों॥

कवि "कर्ण" पुष्प-परिमल लिये, पवन बह रहा हो जहाँ।
निर्विषय और निर्द्वन्द्व हो, किया जाय विचरण वहां॥

१०

आनन-सरसिज जहां; सभी के खिले हुये हों।
हृदय परस्पर जहां, सभी के मिले हुये हों॥
उन्नत सब को देख, जहां सब सुख पाते हों।
सब-सब के अनुकूल, जहां पाये जाते हों॥

कवि "कर्ण" जहां पर एक ही; ध्येय और उद्देश हो।
कर धारण भावुकता घनी; सत्वर वहां प्रवेश हो॥

११

जहां भक्ति के भाव, जगाये जाते हों नित।
जहां प्रेम के अश्रु, बहाये जाते हों नित॥
जहां व्यक्ति-गत भेद, मिटाये जाते हों नित।
जहां सम्मिलित मोद-मनाये जाते हों नित॥

कवि "कर्ण" सभी अनुराग रत, पाये जाते हों जहां।
वस्तुतः बिताने चाहिये, जीवन के वासर वहां॥

१२

सायं प्रातः जहां नियम से यज्ञ हवन हो।
मिल कर सब का जहां, नित्य संध्या वन्दन हो॥
जहां मनोहर भक्ति-भाव मय भजन गान हो।
जहां परस्पर बैठ, प्रेम-पीयूष पान हो॥

आनन्द सदा सत्सङ्ग का, लूटा जाता हो जहां।
कवि "कर्ण" किया जावे अतः, अधिक कालयापन वहां॥

१३

द्विजगण जहां विभोर, वेद व्याख्या करने में।
यज्ञादिक शुभ कर्म्म, जहां वह आचरने में॥
रत हों सभी प्रकार, भरा जिनमें विवेक हो।
जिनका प्रिय उद्देश; सभी के लिये एक हो॥

जिन के द्वारा सत् असत् का, "कर्ण" सभी को ज्ञान हो।
पद—पद्मों में उन के कहीं? आदरभाव महान् हो॥

१४

जहाँ निरन्तर ज्ञान-प्रदीप जला करता हो।
जहाँ अहर्निश धर्म-प्रसङ्ग चला करता हो॥
जहाँ निराला नाद-निनाद हुआ करता हो।
जहाँ शान्त सब वाद-विवाद हुआ करता हो॥

कवि "कर्ण" जहाँ रहता बना, गुरु जन का आलाप हो।
विश्राम वहाँ करते हुये, मन अपना निष्पाप हो॥

यज्ञोपवीत या जनेऊ

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

दिक सोलह संस्कारों में दो को सब से अधिक गौरवान्वित समझा जाता है, एक यज्ञोपवीत और दूसरा विवाह। रहे अन्य! उनका मान्य तो शायद विरले ही घरों में होगा। परन्तु आजकल लोग इन दो संस्कारों से भी तंग आगये हैं। विवाह के बंधनों से मुक्त होने का घोर प्रयत्न पाश्चात्य देशों तथा उनके अंध-विश्वासी अनुयायी पूर्व देशीय युवकों में भी हो रहा है। फिर विचारा यज्ञोपवीत किस गिनती में है।

कुछ समय पूर्व यज्ञोपवीत ऊंच और नीच जातियों का भेदक चिह्न समझा जाता था और बहुत सी नीच समझी जाने वाली जातियां बड़े चाव से अपना यज्ञोपवीत संस्कार कराके उच्च जातियों में मिलने की कोशिश किया करती थीं। परन्तु कालान्तर में भाव बदल गया और जिन जातियों ने यवनों के अत्याचार के समय में अपने रक्त से अपने जनेऊ की रक्षा की थी उन्हीं की संतान तीन धागों का बोझ कन्धों पर न सहार सकी और उसे व्यर्थ का ढौंग समझ कर तोड़ने लगी।

इस युग के प्रसिद्ध वंगाली बिद्वान् श्री बाबू केशवचन्द सेन ने सब से पहले जनेऊ तोड़ फेंकने का श्रेय अपने सिर लिया था और उनके अनुकरण रूप में उनके नव-विधान धर्मानुयायी यज्ञोपवीत को उसी घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे जिससे चोरी आदि अन्य कर्म देखे जाते हैं। कोई यज्ञोपवीत धारी ब्रह्मसमाज की वेदी पर चढ़ नहीं सकता था।

कुछ दिनों तक यह केवल ब्रह्मसमाज की ही विशेषता रही। शनैः २ जनेऊ तोड़कों का मण्डल बढ़ा। यहां तक कि आज कल कभी कभी कान में यह आश्चर्य-जनक भनक भी पड़ जाती है कि अमुक आर्य्य-सामाजिक विद्वान् यज्ञोपवीत पर विश्वास नहीं रखते और उसे ढौंग समझते हैं।

जो वैदिक धर्मी नहीं उनके विषय में तो सुगमता से समझ में आ जाता है कि उनकी यज्ञोपवीत पर श्रद्धा न हो। परन्तु जिस वेदाध्ययन का अधिकार ही मनुष्य को यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत होने के पश्चात् प्राप्त होता है उसको वेदानुकूल न मानना अवश्य आश्चर्य जनक प्रतीत होता है।

यज्ञोपवीत संस्कार के विषय में निम्न प्रश्न हैं :—

(१) क्या वेदों में जनेऊ धारण करना लिखा है ?

(२) क्या वेदों के पीछे के वैदिक ग्रन्थों में यज्ञोपवीत का वर्णन है ?

(३) यज्ञोपवीत का क्या उपयोग है ?

(४) यज्ञोपवीत धारण न करने में क्या हानि है ?

(५) यज्ञोपवीत किसको धारण करना चाहिये ?

(६) क्या यज्ञोपवीत के समान कोई संस्कार अन्य धर्मों में भी हैं ? और उनकी जनेऊ से किस प्रकार तुलना की जा सकती है?

कुछ लोगों का कहना है कि वेदों में जनेऊ का वर्णन नहीं है। इस लिये सब से पहले हम इसी को लेते हैं।

(१)

स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे। नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम् ॥

(ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ८६, मंत्र ३२)

यहां उस ब्रह्मचारी का वर्णन है जो गुरुकुल से निकल कर संसार में विद्या का प्रचार करता है :—

(स) वह ब्रह्मचारी (यथा विदे) ज्ञान पूर्वक (त्रिवृतं तन्तुं तन्वानः) तीन धागों का जनेऊ धारण करता हुआ (सूर्य्यस्य रश्मिभिः परिव्यत) सूर्य्य की किरणों के समान प्रकाश से प्रकाशित होता है। (ऋतस्य प्रशिषः नवीयसीः नयन्) ईश्वर के सृष्टि-नियम की प्रशंसा युक्त नई नई बातों को फैलाता हुआ (जनीनाम् पतिः) मनुष्यों का नेता (निष्कृतं उप याति) स्वतंत्र विचरता है। इस मंत्र में स्पष्ट वर्णन है कि ब्रह्मतेज धारी ब्रह्मचारी तीन धागों का जनेऊ धारण करता है।

(२)

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि ॥

ऋग्वेद १०।५७।२

(यः) जो (यज्ञस्य) यज्ञ को (प्रसाधनः) पूरा करने वाला (तन्तुः) सूत्र (देवेषु) विद्वानों में (आततः) फैला हुआ अर्थात् प्रचरित है (तम्) उस (आहुतं) पूज्य सूत्र को (नशीमहि) हम भी प्राप्त होवें।

इस मंत्र में बताया गया है कि विद्वानों में जनेऊ का प्रचार है, बिना जनेऊ के यज्ञ पूरा नहीं होता। (इसी लिये इसको यज्ञोपवीत कहते हैं)। यह सूत्र पूज्य है। इसको अवश्य धारण करना चाहिये।

(३)

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

ऋग्वेद ३।८।४

(युवा) नौजवान (सुवासाः) अच्छे वस्त्र पहने हुये (परिवीतः) कन्धे के चारों ओर जनेऊ धारण किये हुये ब्रह्मचारी (आगात्) आया है। (स) वह (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) सब संसार का हित करने वाला (भवित) होता है ! (धीरासः) धीर (स्वाध्यः) अच्छी तरह ध्यान करने वाले (मनसा देवयन्तः) मन से ईश्वर की कामना करने वाले (कवयः) विद्वान लोग (तं) ऐसे विद्वान को (उन्नयन्ति) आगे बढ़ाते हैं ॥

जिस प्रकार ऊपर के दो मंत्रों में विद्वान् ब्रह्मचारी को सूत्रधारी बताया गया है उसी प्रकार इस मंत्र में उस को "परिवीत" अर्थात् यज्ञोपवीत से युक्त बताया गया है। 'परिवीत' का अर्थ है 'परि'=चारों ओर, + 'वीत'=आवेष्टित या लपेटा हुआ। यहां जनेऊ के कंधे के चारों ओर पड़े होने की ओर संकेत है।

(४)

तस्मात्* प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥

(अथर्व वेद ३ । १ । २४)

(तस्मात्) इस लिये (प्राचीन उपवीतः) सामने जनेऊ धारण करके (तिष्ठे) खड़ा हो और प्रार्थना कर कि (प्रजापते) हे ईश्वर (मा) मुझ पर (अनु बुध्यस्व) कृपा कीजिये । (एवं) ऐसे पुरुष पर (प्रजा) लोग और (प्रजापति) ईश्वर (अनु बुध्यते) कृपा करते हैं (य एवं वेद) जो इस रहस्य को समझता है।

इस मंत्र में उपवीत शब्द आया है। तात्पर्य यह है कि जो विधि पूर्वक जनेऊ धारण करके विद्या की प्राप्ति और ईश्वर की प्रार्थना करता है उस पर ईश्वर और मनुष्य सभी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

(५)

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्
देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत् सर्वमाप्नोति यज्ञे
सौत्रामणी सुते ॥

(यजुर्वेद १९ । ३१)

(यज्ञस्य) यज्ञ का (एतावद् रूपं) इतना रूप (यद्) जितना (ब्रह्मणा) ईश्वर ने (देवैः) विद्वानों द्वारा (कृतं) सम्पादित कराया। (तत् एतत् सर्वम्) वह सब (सौत्रामणी सुते यज्ञे) जनेऊ धारण करने के निमित यज्ञ में (आप्नोति) प्राप्त होता है। 'सौत्रामणी' शब्द का अर्थ ऋषि दयानन्द कृत भाष्य में इस प्रकार है :—

सूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिंस्तस्मिन् ।

---

* प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीनः... (शतपथ २ । ६ । १ । ८)

अर्थात् जनेऊ आदि धागे की गांठ बनाकर जिसमें पहनी जाती है वह यज्ञ।

इसी मंत्र का अन्वय करते हुये ऋषि के भाष्य में इस प्रकार लिखा है :—

यो मनुष्यो यद् देवैर्ब्रह्मणा यज्ञस्यैतावद् रूपं कृतं तदेतत् सर्वं सौत्रामणी सुते यज्ञ आप्नोति स द्विजत्वारम्भं करोति।

अर्थात् सौत्रामणी यज्ञ में मनुष्य द्विज बनता है। इससे स्पष्ट है कि सौत्रामणी यज्ञ यज्ञोपवीत संस्कार ही तो है। वैदिक शब्द-माला में सूत्र शब्द यज्ञोपवीत का वाचक होता ही है। जैसा 'शिखा और सूत्र' के वाक्यांश से प्रकट होता है।

इन ऊपर के मंत्रों से स्पष्ट होता है कि यज्ञोपवीत या जनेऊ का वेदों में विधान न बताना बड़ी भूल है। हमने ऊपर अथर्व ३।१।२४ वाला जो मंत्र दिया है उसमें "प्राचीनोपवीत" शब्द आया है। शतपथ ब्राह्मण में "प्राचीनोपवीती" और "यज्ञोपवीती" शब्द बहुत आया है। उदाहरण के लिये शतपथ काण्ड २ के ६ अध्याय का पहला ब्राह्मण देखिये। इसमें पितृ-यज्ञ का वर्णन है। इसमें दो प्रकार के कृत्य हैं। कुछ क्रियाओं में जनेऊ सामने करने की प्रथा थी। उसी को 'प्राचीनोपवीती' कहते थे। यदि जनेऊ या उपवीत का विधान वेद और ब्राह्मणों में न होता तो 'प्राचीनोपवीती' शब्द का क्या अर्थ होता !

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मंत्र के द्वितीय पाद की व्याख्या करते हुये 'व्रत' की महिमा इस प्रकार बताई गई है :—

व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति अशून्यों भवति अविच्छिन्नो भवति। अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुः। अविच्छिन्नं जीवनं भवति॥

(गोपथ पूर्व भाग प्र० १। क० ३५)

अर्थात् व्रत से ब्राह्मण ज्ञानी हो जाता है, भरपूर हो जाता है। अखण्ड होजाता है। उस का जनेऊ खण्डित नहीं होता। उसका जीवन खण्डित नहीं होता।

यहां कहा गया है कि जो ब्राह्मण व्रत का पालन करता है उसी का 'तन्तु' अर्थात् जनेऊ (Sacred thread) खण्डित नहीं होता। उसीका जीवन पूर्ण समझना चाहिये। जनेऊ की महिमा कान पर चढ़ाने से नहीं किन्तु व्रत के पालने से है। यही बात यहाँ बताई गई है। इसी ब्राह्मण के प्रपा० २ की चौथी कण्डिका में है:—

उपनयेतैनम्। (गो० पूर्व० २।४)

अर्थात् आचार्य्य को चाहिये कि वह ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करे।

मनु में भी तो यही आशय है। देखिये:—

उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षेते॥

(मनु० २। १४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कराके वेद-को कल्प और रहस्य आदि के साथ पढ़ाता है वही आचार्य्य कहलाता है।

ऐसा तो शायद ही कोई मनुष्य हो जो ग्रह्यसूत्रों में भी यज्ञोपवीत संस्कार के प्रतिपादन का निषेद करे क्योंकि यह संस्कार होता ही गृह्य-सूत्रों में दिये हुये विधि के अनुसार है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में लिखा है कि "अष्टमें वर्षे ब्राह्मण मुपनयेद् गर्भाष्टमेवा। एकादशे क्षत्रियं। द्वादशे वैश्यम्।" (आश्व० गृ० १। १९)

अर्थात् ब्राह्मण का यज्ञोपवीत् संस्कार आठवें वर्ष या गर्भ के आठवें वर्ष करे ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष वैश्य का।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है:—

उपनयनं विद्यार्थस्यश्रुतितः संस्कारः।

(आपस्तम्ब प्र० १। पा०)

अर्थात विद्या के इच्छुक का वैदिक संस्कार उपनयन है। यहां "श्रुतितः" शब्द पड़ा हुआ है। इससे विदित होता है कि आपस्तम्ब के मतानुसार वेदों में भी यज्ञोपवीत संस्कार की विधि है। आपस्तम्ब ने किस वेद मंत्र के आधार पर ऐसा कहा यह कहना कठिन है क्योंकि प्रचीन काल में जब वेदों का पठन पाठन भली भांति प्रचरित था सभी जानते थे कि अमुक वेद मंत्र अमुक बात का प्रतिपादन करता है।

गोभिलीय गृह्यसूत्र तो विस्तार के साथ देता है:—

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति । दीक्षणं कक्षमन्वलम्ब्य भव त्येवं यज्ञोपवीती भवति।

(गो० गृ० प्रपा० १, कण्डिका २, मंत्र २)

अर्थात् दाहिनी भुजा को उठाकर शिर के ऊपर से बायें कन्धे पर, दाहिनी बग़ल में होकर जनेऊ डाला जाता है।

यह तो हुआ उन लोगों के लिये जो कहते फिरते हैं कि वेदादि शास्त्रों में यज्ञोपवीत संस्कार का ढकोसला नहीं है, यह पीछे के लोगों ने मिला दिया है।

अब यज्ञोपवीत का उपयोग संक्षेपतः लिखा जाता है। प्रत्येक संस्कार आन्तरिक शुद्धि का एक वाह्यचिह्न है। इसमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही कृत्य होते हैं। वाह्य कृत्य आत्मिक उन्नति के लिये होते हैं। परन्तु वाह्य कृत्य या वाह्य चिह्न व्यर्थ नहीं होते। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य पर शरीर की त्वचा और उसके सौन्दर्य का भी प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार संस्कार की क्रियाओं का है। इन संस्कारों में केवल यह देखना होता है कि व्यर्थ का आडम्बर तो नहीं है और इतना कठिन तो नहीं है कि उपयोग करने में समय या धन अधिक व्यय हो और उसके अनुकूल फल निकले।

वैदिक ग्रन्थों में लिखा है कि मनुष्य उत्पन्न ही ऋणी होता है। प्रत्येक० को देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण चुकाने पड़ते हैं। ऋणों की यह वार्त्ता ढकोसला नहीं है। आज कल राजनीति के शब्दों में कहा जाता है कि मातृ-भूमि का हम पर ऋण है क्योंकि उसी के जल वायु से हमारा शरीर बना है। यह ऋणों का केवल भौतिक अङ्ग (Material aspect) है। देव कहते ही जल-वायु को हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त माता, पिता के भी तो हम ऋणी हैं जिन्होंने हमको जना और पाला! इसके बाद ऋषियों की कृपा से ही हम अपनी प्राचीन भाषा, प्राचीन सभ्यता और प्राचीन संस्कृति को प्राप्त कर सके। इसलिये ऋणों का आध्यात्मिक रूप ऋषि-ऋण है। इन ऋणों को चुकाने के प्रयत्न को ही वेदों में व्रत बताया गया है। नीचे के ऋग्वेदीय मंत्र में आर्य्य और दस्यु की पहचान की गई है।

विजानी ह्यार्यान् ये च दस्यवो।
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान॥
(ऋ० १ । ५१ । ८)

अर्थात् हे राजन् तुम शासन के हेतु जानो कि आर्य कौन हैं और अव्रत (व्रत-रहित) दस्यु कौन हैं।

आर्य्य वह है जो सव्रत है। दस्यु वह है जो अव्रत है। जो ऋणी होता हुआ ऋण को स्वीकार नहीं करता वही अव्रत है। आज कल यदि कोई कहे कि भारत माता का हमारे ऊपर क्या ऋण है? हम उसके उद्धार के लिये क्यों यत्न करें। तो आप क्या कहेंगे? यही न कि यह धूर्त्त है विश्वासघाती है, देश शत्रु है! भारत माता का कपूत है। वेद इन्हीं भावों को 'दस्यु' शब्द से प्रकट करते हैं। जो अपने दायित्व को समझ कर उसके चुकाने में दत्त चित्त है वही आर्य्य है। इस दत्त-चित्तता का व्रत मनुष्य को आरम्भ में ही लेना होता है। कोई योग्य माता पिता नहीं चाहते कि उनकी सन्तान दस्यु हो। इसलिये आरम्भ से ही आर्य्यत्व का बीज बोया जाता है। आर्य्यत्व का अर्थ ही दायित्व है। दायित्व आर्य्यत्व है आर्य्यत्व दायित्व है। इस दायित्व का व्रत दिलाने के समय ही बालक को तीन धागों का जनेऊ पहनाया जाता है, जिसको वेदों ने यज्ञ का महान् साधन बताया है (ऋ० १० । ५७ २) यह त्रिवृत्त तन्तु या तीन धागों का जनेऊ बालक को उसके तीन ऋणों की याद दिलाता है और नित्य प्रति उसके कान में घोषणा करता है कि अपने दायित्व पर ध्यान रक्खो।

आज कल बिल्लों और बैजों (badges) का बड़ा रिवाज है। यदि तुम बालचर हो तो तुमको अमुक प्रकार का बिल्ला लगाना चाहिये। यदि तुम स्वयंसेवक हो तो अमुक प्रकार का पट्टा

गले में डालना चाहिये। यदि तुम किसी सभा में प्रतिनिधि हो तो तुमको एक चिह्न धारण करना चाहिये। यह सब क्या ढकोसला है? क्या इसका कोई उपयोग नहीं? यदि उपयोग न होता तो न मित्रों को उन पर इतनी श्रद्धा होती और न शत्रुओं को इतना विरोध? जिस प्रकार प्राचीनकाल में लोग मरना पसन्द करते थे परन्तु जनेऊ तुड़वाना सहन न कर सकते थे उसी प्रकार आज भी लोग अपनी अपनी पार्टी के वाह्य चिह्नों की रक्षा प्राणों को संकट में डाल कर कर रहे हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि लोग अपने चिह्नों को आवश्यक और दूसरे के चिह्नों को ढकोसला बतलाते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि यह वाह्य चिह्न तीन भागों का जनेऊ ही क्यों हो? परन्तु एक बात पर दृष्टि रखिये। भारतीय प्राचीन संस्कृति का आदर्श सरलता भी है। क्या जनेऊ से अधिक सरल और सुगम चिह्न भी कोई हो सकता है। कितने बिल्ले हैं वे सब जनेऊ से अधिक आडंबर रखते हैं। इतना सरल चिह्न ध्यान में भी नहीं आ सकता। एक सज्जन ने एक पत्र में लिखा था कि यदि जनेऊ वाह्य चिह्न है तो लोग उसे वस्त्रों के ऊपर क्यों नहीं पहनते। परन्तु उन महाशय ने गहरी दृष्टि से नहीं देखा जो बिल्ले कपड़ों के ऊपर लगाये जाते हैं उनका प्रभाव मनुष्य के आन्तरिक जीवन पर नहीं पड़ता। जनेऊ केवल दूसरों को दिखाने का ही चिह्न तो नहीं है। यह तो मनुष्य को सोते जागते उस के दायित्व को बताने के लिये है। मनुष्य कोट या कुर्त्ता सदा ही नहीं पहन सकता। परन्तु जनेऊ तो उसे नित्य ही पहने रहना चाहिये। क्या जनेऊ से भी सरल कोई चिह्न आविष्कृत हो सकता है जो इन सब बातों का बोध भी करता हो।

कुछ लोग कहेंगे कि क्या जो जनेऊ धारण करता है वह स्वयं ही आर्य्य और श्रेष्ठ बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि वाह्य चिह्न तो केवल वाह्य चिह्न ही हैं। किसी वाह्य चिह्न में यह शक्ति नहीं कि वह किसी मनुष्य को किसी विशेष कार्य्य के करने के लिये उद्यत कर सकें। क्या यूनीवर्सिटी की गाउन किसी को ग्रेजुएट बना सकती है? फिर भी गाऊन आवश्यक है। यदि मनुष्य समाज जनेऊ के नियमों का पालन करे और करावे तो अवश्य ही जनेऊ धारी श्रेष्ठ बन सकता है। अन्य सब चिह्नों के समान जनेऊ के लिये भी सामाजिक पोषण (Social sanction) आवश्यक है। यदि जनेऊ धारण करने वाले को जनेऊ का मूल्य बताया जाय और यदि समाज जनेऊ का आदर करे तो अवश्य ही यज्ञोपवीत से लोगों का कल्याण हो सकता

है। यह तो सृष्टि की आदि से अब तक किसी ने नहीं माना कि तीन धागे डाल लिये और मनुष्य का मन शुद्ध हो गया।

क्या यज्ञोपवीत न धारण करने से हानि भी है? हां है। वाह्य चिह्न सिद्ध-पुरुषों के लिये नहीं होते। परन्तु असिद्धों के लिये अवश्य होते हैं। जो ऋषि, मुनि, परिव्राजक और सच्चे सन्यासी हैं वह तो वाह्य चिह्नों की सीमा को अतीत कर चुके। वह ऐसे पद पर पहुंच चुके जहाँ जनेऊ आदि की आवश्यकता नहीं परन्तु जो अभी उस पद के इधर हैं उनको जनेऊ न पहनने से हानि ही हानि है। उनके लिये तीन ही बातें हैं या तो जनेऊ धारण करें। या अन्य कोई वाह्य चिह्न जनेऊ के सदृश या उसका स्थानापन्न बनावें या बिना वाह्य चिह्न के रहें। तीसरी बात से तो कुछ लाभ नहीं। वाह्य चिह्नों की आवश्यकता तो सहस्रों प्रकार के चिह्नों के प्रचरित हो जाने से ही प्रतीत होती है। परन्तु दूसरी बात भी उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई। अब तक कोई ऐसा चिह्न निकाला नहीं गया जो जनेऊ की बराबरी कर सकता। इसके अतिरिक्त जनेऊ की अति-प्राचीनता और इसका सारगर्भित इतिहास ही इसके गौरव के लिये पर्य्याप्त है। जिस चिह्न के साथ याज्ञवल्क्य और आसुरि, अङ्गिरा और शौनक, कणाद, कपिल और पतंजलि, शंकर, और रामानुज आदि आदि महात्माओं की स्मृति सम्बद्ध हो उसका तिरस्कार कैसे उचित हो सकता है। लोग आज गांधी टोपी का सम्मान करते हैं। क्यों? क्या टोपी मात्र में कुछ रक्खा है? टोपी तो गांधी जी से बहुत पहले प्रचलित थी। परन्तु आजकल इस टोपी का केवल इसलिये मान है कि महात्मा गांधी के सिर पर शोभा पाती रही है। इस टोपी में तो कोई दीक्षा का भी चिह्न नहीं है। परन्तु यज्ञोपवीत तो व्रत और दीक्षा का चिह्न है। ऐसी वस्तु की उपयोगिता में कुछ सन्देह नहीं हो सकता।

कुछ लोग जनेऊ को इस लिये घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कि वह शूद्र और द्विज का भेदक-चिह्न है। आज कल के साम्यवादी युग में इस प्रकार के भेद रखना उपयुक्त नहीं। परन्तु वह लोग कुछ विचारें तो सही। क्या ग्रेजुएट का चोला ग्रेजुएट और नौन-ग्रेजुएट (Non-graduate) में भेद नहीं करता? क्या स्काउट की वर्दी स्काउट और नौन-स्काउट का भेदक चिह्न नहीं है। चिह्न तो सभी भेदक होते हैं। यही तो चिह्न का लक्षण है। चिह्न तो तभी तक चिह्न है जब तक वह भेद कर सके। क्या आप चाहते हैं कि श्रेष्ठ और कुत्सित, विद्वान् और मूर्ख, आर्य्य और दस्यु में कोई भेद ही न रहे? यदि आप थोड़ी देर न्याय पूर्वक बिचार करेंगे तो

आप को यह बात अनुचित प्रतीत होगो।

हाँ आप एक बात कह सकते हैं। वह यह कि कोई योग्य पुरुष या स्त्री यज्ञोपवीत से वंचित न रक्खी जाय। यह ठीक है। आप प्रत्येक विद्यार्थी को जो ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययन का व्रत करना चाहता है यज्ञोपवीत दीजिये। यदि किसी युग में जन्म और कुल का ढकोसला लगा कर जनेऊ का प्रयोग संकुचित् कर दिया गया तो आप इस अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाइये। न कि जनेऊ के विरुद्ध।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री और शूद्रों के लिये भी जनेऊ की आज्ञा है ? इसका उत्तार यह है कि स्त्रियाँ तो पहले बिना किसी बाधा कि जनेऊ पहना करती थीं। ऋण की जो उपर्युक्त बात पुरुषों पर लागू होती है वही स्त्रियों पर भी। वह भी तो देव ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से ऋणी हैं। उनके लिये भी तो यज्ञ करना, वेदादि विद्या पढ़ना और श्रेष्ठ बनना आवश्यक है, इसके अतिरिक्त प्रमाण भी हैं जिनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं :—

(१) कादम्बरी में महाश्वेता के लिये लिखा है :—

ब्रह्म सूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्

अर्थात् वह शरीर पर पवित्र ब्रह्म-सूत्र या जनेऊ धारण किये हुये थी।

(२) तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्या इति

(हारीतस्मृति २१ । १३)

अर्थात् ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये उपनयन, वेदाध्ययन और अपने घर में भिक्षाचर्या विहित है।

(३) स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च।

(पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात् स्त्रियों के यज्ञोपवीत होते भी हैं और नहीं भी होते।

(४) प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्यु-दानयन् जपेत् 'सोमोददद् गन्धर्वायेति।'

अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाली कन्या को दान करके 'सोमोददद्' वाला मन्त्र जपे।

(५) पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जी बन्धनीमष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।

—यमस्मृति (पाराशरमाधव)

अर्थात् पहले कल्प में कुमारियों का जनेऊ तथा मौञ्जीबन्धन होता था। उनको वेद भी पढ़ाया जाता था। और गायत्री भी सिखाई जाती थी। स्त्रियाँ और शूद्र एक कोटि में नहीं आ सकते। जिस प्रकार पुरुष सव्रत और अव्रत हो सकते हैं इसी प्रकार स्त्रियां भी सव्रता और अव्रता या आर्या और अनार्या

हो सकती हैं। जो पुरुष या स्त्री व्रत लेना ही नहीं चाहते या ऋणों को चुकाने का दायित्व अनुभव करने में असमर्थ हैं उनको यज्ञोपवीत देने का प्रश्न ही नहीं उठता ! चाहे वह ब्राह्मण कुलोत्पन्न हो चाहे शूद्र-कुलोत्पन्न। परन्तु जो कर्तव्य पाल सकते हैं उनको यज्ञोपवीत का पूर्ण अधिकार है। यों तो ब्राह्मण कुलोत्पन्न पागल या ऐसे रोगी को जो ब्रह्मचर्य्यव्रत नहीं ले सकता जनेऊ का कोई अधिकार नहीं है। यदि हम समझ लें कि पहले वर्ण गुणकर्म और स्वभाव के अनुसार होते थे न कि जन्म के तो अधिकार अनाधिकार का झगड़ा निबट जाता है। अब एक बात शेष रह जाती है। क्या यज्ञोपवीत संस्कार के समान अन्य धर्मों में भी कोई संस्कार होता है ? ईसाई, मुसल्मान आदि छोटे बड़े सभी धर्मों में कोई न कोई क्रिया ऐसी की जाती है जिससे मनुष्य उस धर्म सम्बंधी कृत्यों के करने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु पार्सी धर्म में जो इन सब की अपेक्षा वेदों से मिलता जुलता और निकटतम है यज्ञोपवीत के समान ही एक संस्कार होता है, जिसको 'नवजोत' संस्कार कहते हैं। यह बालक के सातवें वर्ष होता है और अधिक से अधिक अवधि १५ वर्ष की है। इसमें दो वस्तुयें दी जाती हैं एक 'सुदरेह' जो श्वेत वस्त्र का कुर्त्ता सा होता है। इसके गले के सामने एक गांठ होती है जिसे उनकी भाषा में "कीस्से ये केर्फ़े" या 'सवाव नी कोथरी' (पुण्य की थैली) कहते हैं। दूसरी "कुस्ती" है जो कमर बन्द के समान एक चीज़ है। यह वैदिक मौञ्जी बंधन के सदृश होती है। इस नवजोत संस्कार के पश्चात् मनुष्य जरथुस्ती धर्म के कृत्यों का अधिकारी हो जाता है। यह नवजोत संस्कार बहुत सी बातों में वैदिक उपनयन से मिलता जुलता है। परन्तु जो सरलता उपनयन में है वह 'नवजोत' में नहीं।

———

श्रृंगी मुनि का तपस्तेज

[श्री पं० शंकरदेव विद्यालङ्कार गुरुकुल सूपा]

गा नदी का पवित्र किनारा था। शमिक ऋषि वहाँ पर सुंदर पर्णशाला बना कर निवास करते थे।

मुनि बहुत सबेरे से ही उठ कर ध्यान प्रारंभ कर देते थे। उषा की लाली फूटते ही पंखी आश्रम वृक्षों पर मधुर गान प्रारंभ कर देते थे। मुनि हवन करते, जप जाप करते और वेद मंत्र गाते थे। मध्याह्न होता और मुनि का ध्यान समाप्त हो जाता। वे कुछ वन फल खाते और पानी पीते थे। यही उनका नित्य का कार्य-क्रम था।

❀ ❀ ❀

मुनि का एक सुपुत्र था। खूब ही सुंदर। मानों दूसरा चाँद। बड़ा ललाट और तेजभरी आँखें। मुनि ने उसका नाम रक्खा था — श्रृंगी।

श्रृंगी प्रति दिन पिता की सेवा करता और जब वे जप ध्यान में लग जाते तो स्वयं गंगा के किनारे खेलता कूदता रहता। एक दिन की बात है। मध्याह्न बीत गया था। आश्रम में शमिक मुनि अपने ध्यान में मग्न थे। श्रृंगी गंगा तट पर अपनी खेल कूद में मशगूल था। इतने में राजा परीक्षित आश्रम में आ पहूंचे!

राजा जी आज मृगया (शिकार) करने वन में निकले थे! वन में घूमते घूमते उनका गात थक गया। प्यास के

मारे कण्ठ भी सूख गया ! "चलूं—इस आश्रम में जाऊँ—वहां पर कोई मुनि होगा तो पानी माँग लूंगा।" यह सोच कर राजा जी आश्रम में आए थे।

शमिक मुनि के समीप आकर राजा ने जल मांगा ! पर वहाँ कौन सुने ? मुनि जी तो अपनी समाधि में मग्न थे ! न हिले न डुलें।

राजा ने दो तीन बार पानी माँगा ! पर वहां उत्तर कौन दे ??

राजा ने सोचा यह मुनि दंभी प्रतीत होता है। सच्चे मुनि ऐसे नहीं होते ! आज इस दंभी को ऐसी सजा दूंगा कि आगे को ऐसा दंभ कभी न करे।

❀　❀　❀

आश्रम के बाहिर एक मरा हुआ साँप पड़ाथा। राजा जी ने धनुषद्वारा सांप को उठाया और शमिक मुनि के गले में लपेट कर राज महल की ओर चलते बने !

उधर खेलते खेलते श्रृंगी को एका-एक पिता जी की याद आई ! वह आश्रम में आया ! आते ही देखा पिता जी के गले में तो साँप पड़ा है। वह रोने लगा और सोचने लगा—"पिता जी के साथ ऐसी भयंकर मस्खरी किसने की है ?" क्रोध और विषाद से उसका हृदय जल उठा। वह प्रभु से अभ्यर्थना करने लगा। "हे प्रभु, पिता जी का अपकार करने वाले को दण्डित करो !"

❀　❀　❀

मुनि की समाधि खुली-उन्होंने अपने लोचन खोले ! मुनि ने देखा कि श्रृंगी तो रो रहा है।

मुनि ने पूछा—"तात, क्या बात है, रोता क्यों है ?"

श्रृंगी ने सब घटना कह सुनाई ! शमिक मुनि ने पुनः ध्यान लगाकर देखा और कहा—"वत्स, वह तो राजा परीक्षित था, उसे ऐसा दंड नहीं दिया जा सकता।"

उधर राजा के मन में भी बहुत खेद हुआ कि मैंने नाहक ही एक मुनि का अपमान किया है इस पाप से मेरा उद्धार कैसे होगा ! मैंने बहुत बुरा किया !

राजा ने सोचा कुछ यज्ञ याग औरसत्कार्य करके पाप से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।

राजा ने गङ्गातीर पर बड़ा उत्सव किया अनेक ऋषि मुनियों को बुलाया ! और परमेश्वर का भजन करना प्रारम्भ किया ! वहाँ पर श्री शुकदेव जी भी पधारे ! उन्होंने भी प्रेम से प्रभु के गीत गाए ! बहुत दिनों तक इसी प्रकार प्रभु भक्ति का मेला होता रहा।

एक दिन राजा परिक्षित फूल लेने को वाटिका में गया। वहाँ पर एक सर्प ने राजा को काट लिया। राजा वहीं पर मरण को प्राप्त हुआ !!

लोग कहने लगे यह जरूर किसी ऋषि या ब्रह्मचारी के ब्रह्मवर्चस् का प्रभाव है। और सचमुच ही श्रृंगी के हृदय की दीर्घ वेदना और विषाद ही मानो राजा के लिए शाप बन गई थी।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

इतने उद्धरणों को देकर राममोहन-राय जी कहते हैं कि इतने स्थान-भेद, क्रिया भेद और व्यक्तित्व-भेदों के होते हुये कैसे सम्भव है तीनों की एकता कैसे मानी जाय जब एक पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य कर रहा हो तब दूसरा स्वर्ग में उसके काम के ऊपर प्रसन्नता प्रकट कर रहा हो और तीसरा दूसरे की इच्छा नुसार पहले पर उतर रहा हो। यदि शरीरों की भिन्नता स्थानों की भिन्नता और कार्य्यों की भिन्नता भी व्यक्तियों को भिन्न भिन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है तो एक आदमी और दूसरे आदमी में पहचान हो कैसे हो सकेगी और वृक्ष का पत्थर से या चिड़िया का मनुष्य से कैसे भेद जान सकेंगे ? जिसके कुछ भी बुद्धि है वह ऐसा कदापि नहीं मान सकता ईसाई कहता है कि ईश्वर-बेटे ने अपनी महिमा को थोड़ी देर के लिये अलग रख दिया। क्या एक इस अखण्ड ईश्वर के लिये सम्भव है कि वह अपनी प्रकृति के किसी अंश को अलग रखदे और फिर उसके लिये प्रार्थी हो ? क्या इस संसार के रचयिता ईश्वर के गुण के अनुकूल है कि वह कुछ समय के लिये भी सेवक रूप धारण कर सके ? क्या ईश्वर का यही भाव है जो ईसाई मानता है ? जो मूर्त्ति पूजक हिन्दू अपने बहु- ईश्वर-वाद के लिये युक्तियां देते हैं वे इन युक्तियों से कहीं अधिक सारगर्भित होती हैं। जब ईसाई मानता है कि पवित्र-आत्मा फाख़्ता चिड़िया के रूप में उतरी और कहता है कि "when God renders himself visible to man, it must be by appearing in some form." जब ईश्वर अपने को मनुष्य के प्रति प्रकट करना चाहता है तो कोई न कोई रूप तो धारण ही करैगा" तो आ-श्चर्य है कि वह पौराणिकों के गाय या मछली के अवतारों पर आक्षेप करे क्योंकि जैसी फ़ाख़्ता सीधी सीधी, वैसा ही मछली या गाय।

राम मोहन राय का आक्षेप—They say that God must be worshipped in spririt and yet they worship Jesus Christ as very God, although he is possessed of a material body. अर्थात् ईसाई लोग कहते हैं कि ईश्वर को आत्मा करके पूजना चाहिये फिर भी वे ईसू मसीह को ईश्वर के स्थान में

पूजते हैं यद्यपि ईसू मसीह शरीर धारी है।

ईसाई का उत्तर :—Christians Worship Jesus Christ and not his body seperaetety from him. ईसाई लोग ईसू मसीह को पूजते हैं, उससे अलग उस के शरीर को नहीं।

राय जी का प्रत्युत्तर—यदि हम मान लें कि शरीर धारी आत्मा की पूजा आत्मा की ही पूजा है जड़ पदार्थ की नहीं, तो किसी सम्प्रदाय को मूर्तिपूजक होने का दोष न लग सकेगा। क्या यूनानी और रोमन लोग ज्यूपिटर और जूनो आदि देवी देवतों के शरीरों को उनके आत्मा से अलग मान कर पूजा करते थे? क्या हिन्दू लोग अवतारों की मूर्तियों को आत्मा मान कर नहीं पूजते? वह भी तो प्राण प्रतिष्ठा करके ही मूर्तियों को पूजते हैं। लोग अंगरेजों की बुद्धि और नीति को देखकर समझ लेते हैं कि इनके धार्मिक विचार भी उच्च होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है।

ईसाई ने लिख दिया था कि हिन्दू लोग आचार-सम्बन्धी मृत्यु (moral death) की ओर जा रहे हैं। श्रीराम मोहन राय जी के जाति-प्रेम के लिये यह बात असत्य थी। उन्होंने लिखा है कि प्रसंग से बाहर होने के कारण हम यूरोप और हिन्दुस्तान वासियों के पारिवारिक चरित्रों की तुलना नहीं करते अन्यथा संसार को ज्ञात हो जाता कि सब से अधिक त्रुटियां किस में हैं।

दो वर्ष तक इसका उत्तर न मिला। दो वर्ष पीछे १८२३ ई० में ईसाइयों ने एक ट्रैक्ट लिखा जिसमें वेदों पर नास्तिकता का लांछन लगाया गया। राजा राम मोहनराय ने तुरन्त ही उसका उत्तर दिया। और ईसाइयों के त्रित्ववाद पर बड़े प्रबल आक्षेप किये। उन्होंने कहा कि न तो बाइबिल के पढ़ने से त्रित्व की बात समझ में आती है न ईसाई विद्वान् ही कुछ समझे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार हिन्दू बचपन से काली माई की महिमा सुनते सुनते काली के उपासक बन जाते हैं इसी प्रकार ईसाई लोग भी पिता, पुत्र, और पवित्र-आत्मा की रहस्यमय एकता को सुनते सुनते उसके उपासक हो जाते हैं। अन्ध विश्वास ही दोनों का आधार है। यहां उन्होंने इंगलैण्ड के चर्च (The Church of England) के कुछ पादरियों के मत दिये हैं:—

(१) डाक्टर वाटर लैण्ड (Water Land) डा० टेलर (Taylor) और लाट पादरी सेकर (Archbishop Secker) मानते हैं कि तीन भिन्न २, स्वतंत्र और समान पुरुषों का एक ही ईश्वर मानना ईसाई त्रैत है। इस प्रकार बाप, बेटा और पवित्र-आत्मा एक ईश्वरत्व के

अन्तर्गत तीन अलग २ द्रव्य हैं। The Trinity consists of three distinct, independant, and equal Persons consisting one & the same God)

(२) डाक्टर वालिस (Wallis) और शायद लाटपादरी टिलौटसन (Tillotson) मानते है कि त्रैत के पुरुष केवल तीन प्रकार या सम्बन्ध हैं जो ईश्वर के प्राणियों के साथ हैं। अर्थात पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा तीन गुण हैं जो ईश्वरत्व के भाव के अन्तर्गत हैं।

(३) पादरी पियर्सन (Bishop Pearson) पादरी बुल (Bull) और डा० ओविन (Owen) मानते हैं कि पिता एक अनुत्पन्न और मुख्य सत्ता (an Underived and essential Essence) है और पुत्र में यह सब बातें पिता-ईश्वर के संपर्क से आती हैं। विशप पियर्सन का कथन है :— "There can be but one person originally of himself, subsisting in that infinite being, because a plurality of more persons so subsisting would necessarily infer a multiplicity of Gods" अर्थात् आदि में केवल एक ही पुरुष हो सकता है जो अनन्त सत्ता हो क्योंकि एक से अधिक मानने से बहु-ईश्वर-वाद आ जायगा। और "The son possessed the whole nature by *communication* not by *participation* and *in such way* that he was as really God as the Father." और पुत्र ने संपर्क से, न कि बटवारे से और इस प्रकार इस पूर्ण स्वभाव को धारण कर लिया कि वह पिता के समान ही ईश्वर हो गया।

(४) विशप बर्जेस (Burgess) कहता है कि "The Scriptures declare that there is but only one God—The same scriptures declare that there are three omnipresent persons; but three cannot be two omnipresent beings; therefore the three omnipresent persons can be only one God"

अर्थात् बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर एक ही हैं। बाइबिल में यह भी लिखा है कि तीन सर्व-व्यापक पुरुष हैं लेकिन दो सर्व व्यापकों का होना भी असम्भव है। अतः तीन सर्वव्यापक पुरुष एक ही ईश्वर हो सकते हैं।"

(५) डाक्टर टामस बर्नेट (Dr. Thomas Burnet) के अनुसार पिता स्वतन्त्र सत्ता है और पुत्र और पवित्र-आत्मा आश्रिता।

(६) मिस्टर वैक्सटर (Mr. Baxter) का मत है कि यह तीन पुरुष बुद्धि (Wisdom) शक्ति (Power) और प्रीति (Love) हैं।

(७) विशप गैस्ट्रल (Bishop Gastrell) कहता है कि ईश्वर के तीन नाम अर्थात पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा ईश्वर के तीन भेदों । (Three gold differenc or distinction) को प्रकट करते हैं ।

परन्तु इस प्रकार कि ईश्वरत्व की एकता और मिश्रणरहितता बनी रहे । क्योंकि हर एक से ईश्वर का पूर्ण भाव तथा कुछ अधिक भी पाया जाता है ।

(८) मि० होवे (Mr. Howe) के मत में तीन भिन्न २ चेतन सत्तायें इस अनिर्वचनीय विधि से मिल गई हैं कि एक ईश्वर हो गया । उसी प्रकार जैसे शरीर, इन्द्रियां और बुद्धि मिलकर एक मनुष्य बन जाता है ।

(९) डा० शरलक (Sherlock) का कथन है कि "The Father, Son, and Holy Ghost, are as really distinct Persons as Peter, James John each of which is God" अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा अलग २ सत्तायें हैं जैसे पीटर जेम्स और जौन । इन में से हर एक ईश्वर है ।

(१०) डा० हीबर (Dr. Heber) कलकत्ते का तत्कालीन विशप मानता है कि त्रैत के दूसरे और तीसरे पुरुष मिकाईल और जिब्राईल फरिश्ते हैं ।

श्री राजा राम मोहन राय कहते हैं कि वस्तुतः ईसाई त्रैत-वाद एक पहेली है जिसका आधार अज्ञान और अन्ध-विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता । कुछ लोग कहते हैं कि ईसाई धर्म की व्यावहारिक बातों को क्यों नहीं लेते । इस त्रित्व के झमेले में क्यों पड़ते हो ? राम मोहन राय उत्तर देते हैं कि यदि इस त्रैत पर ईसाई लोग बल न देते, यदि वे इसको अपना गौण सिद्धान्त ही समझते तो हम ऐसा ही कर सकते थे । परन्तु जब विना त्रैत माने कोई ईसाई तो हो ही नहीं सकता तो फिर शास्त्रार्थ के समय त्रैत की जांच न करना बड़ी भूल है । यह बाल की खाल खींचना नहीं है किन्तु एक अत्यन्त आवश्यक सिद्धान्त की जांच करना है ।

यह थे राजा राममोहन राय जी के विचार । इन्हीं के प्रचार के लिये उन्होंने ब्रह्म-समाज स्थापित किया और इस का ८ जनवरी सन् १८३० ई० को ट्रस्ट डीड (Trust decd) लिखा गया । उस समय ब्रह्म समाज के सिद्धान्त यह थे ।

(१) वेद और उपनिषदों को मानना चाहिये ।

(२) इन में एक ईश्वर का प्रतिपादन है ।

(३) मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है । इसलिये त्याज्य है ।

(४) बहु विवाह, बाल विवाह, सती की वर्तमान प्रथा यह सब वेद विरुद्ध और त्याज्य हैं ।

(५) ईसाइयों में बहुत से अच्छे लोग हैं परन्तु ईसाई धर्म हिन्दू धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि शासकों के धार्मिक विचार भी अच्छे ही हों। और यह शासकों की बड़ी भूल है कि वह पराजित और शासित जातियों पर अपने दोष-पूर्ण धर्म को आरोपित करें।

क्रमशः

समालोचना

सुधा

संपादक श्री पं० दुलारेलाल भार्गव,

प्रकाशक गंगा पुस्तकमाला कार्य्यालय, लखनऊ।

श्री पं० दुलारेलाल भार्गव तथा गंगापुस्तक-माला से हिन्दी संसार परिचित है। इन दोनों के द्वारा हिन्दी साहित्य का जो कल्याण हुआ है उसका वर्णन करना कठिन है। उत्तम पुस्तकों का प्रकाशन तो हुआ ही है उसके अतिरिक्त अनेकों ग्रन्थ जो अप्राप्य से हो रहे थे, गंगा-पुस्तक माला ने उनको सुचारु रूप देकर पुनः हिन्दी प्रेमियों को उपलब्ध करा दिया है। सुधा नाम की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका निकालने का श्रेय भी पण्डित दुलारेलाल जी भार्गव तथा गंगापुस्तक माला को है। यह पांच वर्ष से हिन्दी जाति की सेवा कर रही है। यह लिखने में थोड़ी सी भी हिचक नहीं कि हिन्दी में इस समय इतनी उत्कृष्ट पत्रिका दूसरी है ही नहीं। विद्वत्ता पूर्ण लेख, सुन्दर कहानियां, मनोहर कवितायें बढ़िया चित्र प्रति मास निकलते हैं। पाठकों की सुविधा के विचार से अब इस पत्रिका ने अपना वार्षिक चन्दा भी कम कर दिया है।

———
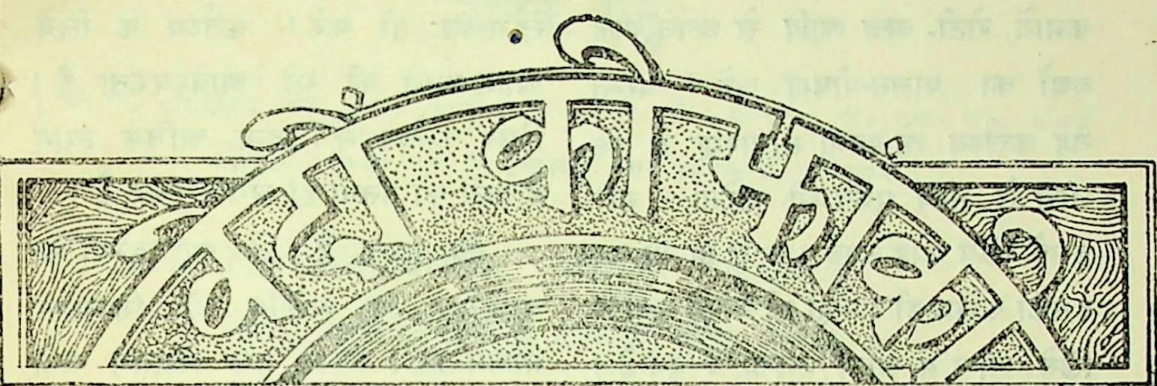
(२२)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति । यः पूर्वोतिथेरश्नाति ।

(अथर्ववेद काण्ड ९, सूक्त ६ (३) मंत्र १)

(यः) जो मनुष्य (अतिथेः) अतिथि के (पूर्वः) पहले (अश्नाति) खाता है (एषः) वह (गृहाणाय) घरों की (इष्टं) कामनाओं को (वा) और (पूर्तं) पूर्णता को (अश्नाति) खाजाता अर्थात् नष्ट कर देता है ।

इस वेद मन्त्र में गृहस्थ लोगों का अपने अतिथियों के प्रति क्या कर्त्तव्य है यह बताया गया है। अतिथि वह है जिस के आने की कोई तिथि न हो। जो अचानक आ पड़े। साधु, सन्त, सत्य उपदेष्टा, महात्मा नित्य प्रति विचरते रहते हैं। वह तिथि नियत करने के बन्धन में नहीं पड़ते। वह आज यहां तो कल वहां ! यह लोग गृहस्थियों की परिस्थिति को देखते और उसको सुधार ने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह लोग अपने खान-पान का कोई प्रबन्ध नहीं करते। इनके पास पैसा कमाने या रोटी बनाने के लिये समय ही नहीं। इनकी आवश्यकतायें इनके वश में हैं। यह अल्प आहार, अल्प वस्त्र आदि से ही गुजारा कर लेते हैं। परन्तु इनके पास शरीर है। इसी शरीर के सहारे यह परोपकार का कार्य्य करते हैं। शरीर के चलाने के लिये भोजन और वस्त्र की आवश्यकता है। अतः गृहस्थियों का यह कर्त्तव्य है कि वह अतिथियों का सत्कार करें।

वेद ने इस कर्त्तव्य को बड़े सुन्दर शब्दों में दर्शाया है। गृहस्थ का अतिथि-सेवारूपी कर्त्तव्य उसके अन्य कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक है। गृहस्थ का

साधारण कर्त्तव्य तो यह है कि धन कमाये, रोटी, वस्त्र आदि से अपने बाल बच्चों का पालन-पोषण करे। परन्तु यह कर्त्तव्य तो इतना साधारण हैं कि नीच से नीच पुरुष भी करेगा। यदि इसके लिये कोई उपदेश न दे तो भी वह इसको करेगा ही। पक्षी भी अपने बच्चों के लिये चौंच में खाना लाकर दे देते हैं। जो पुरुष अपने बाल-बच्चों के पालने का भी कष्ट नहीं सहन करता उसकी तो पशुओं से भी अधम अवस्था है।

परन्तु सद् गृहस्थों के लिये इस से उच्च कर्तव्य चाहिये। कर्तव्य वही नहीं है जिसे मनुष्य श्वास प्रश्वास की भांति स्वभावतः ही करे। कर्तव्य के लिये आत्म-त्याग की भी आवश्यकता है। जिस कर्तव्य में जितना अधिक त्याग है उसी का उतना ही श्रेय अधिक है।

वेद कहता है कि सद्‌गृहस्थी को चाहिये। कि अतिथि को खिलाकर भोजन करे। बिना उसे खिलाये कभी भोजन न करे। जो गृहस्थी अतिथि से पहले भोजन कर लेता है वह अपने घरों की ही पूर्ति का नष्ट कर देता है। अतिथि से पूर्व खाना अपने ही कल्याण को खाजाने के समान है।

वेदोदय को अपना कर वेदों के प्रचार में हाथ बटाइये।

वैदिक राहु

[श्री पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी (गणित) बी० एस० सी० ऑनर्ज़ (भौतिक) मेम्बर आव दि इंस्टीट्यूट आव ऐक्टुअरीज़ (लण्डन)]

विद्वत्त्वस्थापनार्थाय, नमएष परिश्रमः।
किन्तु नानाविवादानां शान्तये युक्ति पूर्वकम।

मुझे इस लेख के लिखने की आवश्यकता न पड़ती यदि मैंने जयपुर राजकीय पाठशाला में गणित ज्योतिः शास्त्र के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक महा महोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी-प्रणीत 'क्षेत्रमिति' (Geometry) की भूमिका में ऋग्वेद के मण्डल ५ सूक्त ४० मन्त्र ९ का अर्थ न देखा होता।

यद्यपि पण्डित जी का लक्ष्य उस स्थल पर इस मन्त्र का अर्थ लिखकर वेदों में आधुनिक पौराणिकता प्रतिपादित करना नहीं है फिर भी जो अर्थ उन्होंने किया है वह कुछ अंशों में असङ्गत होने के अतिरिक्त कालूराम ऐसे लोगों को वेदों का अनर्थ करके आधुनिक पौराणिकता सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न कराने से बाज़ नहीं रह सकता।

प्रथम इसके कि हम पण्डित जी का किया हुआ अर्थ उद्धृत करके उसकी आलोचना करें, हम यह उचित समझते हैं कि पाठकों को एक बार इस बात से भली भांति वाक़िफ़ करा दिया जाय कि गणित ज्योतिः शास्त्र के अन्तर्गत 'राहु' और 'केतु' ग्रह हैं क्या चीज़।

हमने कई फलित ज्योतिषियों से पूछा:—"आज रात को जब नक्षत्र तारा और ग्रह उदय होंगे" तो क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि 'राहु' और 'केतु' कौन से खगोल हैं।

उन सब बेचारों ने यही उत्तर दिया "ये दोनों 'अस्तग्रह' है; हमेशा अस्त ही रहते हैं उदय कभो नहीं होते।"

यह विचित्र उत्तर मैं बिलकुल न समझ सका। परन्तु 'राहु और 'केतु' वास्तव में क्या चीज़ हैं इस बात का जान लेना कोई कठिन बात नहीं है।

भारतवर्षीयपञ्चाङ्गों के मिश्र मान पर दृष्टिपात करने से यह सुस्पष्ट विदित हो जाता है कि भारतीय पञ्चाङ्गों में जिनको 'राहु' और 'केतु' बताया गया है इन्हीं को सिद्धान्त ग्रन्थों में 'उच्च' और 'नीच' पात कहा है और पश्चिमीय देशों में 'असेंण्डिङ्ग' और 'डिसेंण्डिङ्ग' नोञ्ज कहा है क्योंकि मिश्रमानों में।

(१) राहु और 'केतु' सदा वक्री रहते हैं अर्थात् उल्टे चलते हैं।

(२) और इन दोनों का अन्तर सदा छे राशियों यानी १८०° अंशों (180° degrees) का रहता है।

इन बातों तथा ग्रहण सम्बन्धी नियमों से यही कहा जा सकता है कि 'राहु' और 'केतु' चन्द्र के उच्च और नीच सम्पातों के सिवा और कुछ नहीं हैं।

ये......कोई भौतिक पदार्थ नहीं किन्तु ये वे दो विन्दुमात्र है जिनमें चन्द्र का पृथ्वी के गिर्द परिवर्त्तनशील मार्ग उस धरातल (Plane) को काटता है (intersects) जिसमें सब ग्रहगण सूर्य्य का परिक्रमण करते हैं अथवा भारतीय पञ्चाङ्गों के मत से जिस धरातल सूर्य्यादिग्रह पृथ्वी का परिक्रमण करते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा काशीद्वारा प्रकाशित 'हिन्दी वैज्ञानिक कोष' में भी श्री पं० सुधाकर द्विवेदीजी ने ज्योतिर्गणित भाग में 'असेण्डिङ्ग' और 'डिसण्डिङ्ग' 'नोड्ज' का अनुवाद 'राहु' और 'केतु' ही किया है।

'राहु' और 'केतु' का व्युत्पन्न अर्थ भी इन दोनों सम्पातों में घट जाता है:—

रहत्यपसरतिचन्द्रात्सर्वेभ्यो ग्रहेभ्यो वेति राहुः।

हसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्॥ उणादिसूत्रेषु॥ १॥ ३॥

अर्थात् 'रह' धातु से जिसका अर्थ त्यागना या छोड़ना है 'ञुण्' प्रत्यय करने पर 'राहु' बनता है जिसकी व्युत्पत्ति यह हुई:—

जो चन्द्र अथवा सब ग्रहों को परित्यक्त करता अर्थात् उलटी ओर चलने के कारण जो चन्द्र अथवा सब ग्रहों से दूर हटता जाता है वह 'राहु' कहाता है॥

निशामयति श्रावयति ग्रहण समयं वा सकेतुः।

चायः की॥ उणादिसूत्रेषु॥ १॥ ७४॥

अर्थात् 'चाय्' धातु को जिसका अर्थ पूजा करना और सुनाना है 'की' आदेश होकर 'तु' प्रत्यय होता है, तब 'सार्व धातु कार्धधातुकयोः इस पाणिनीय सूत्र से 'की' को गुण होकर 'केतु' बनता है। जो ग्रहण समय को सुनाता अर्थात् जनाता है वह 'केतु' कहाता है।

ग्रहण विद्याविशारद इस बात को भली भाँति जानते हैं कि सूर्य्य ग्रहण तभी होता है जब चन्द्र, सूर्य्य और पृथिवी के बीच में आकर ऊपर बताये हुए 'राहु' या 'केतु' बिन्दु (point) से एक परिमित दूरी के भीतर होता है। यह परिमित दूरी ज्योतिषग्रन्थों में दी हुई है परन्तु हमें ज़बानी याद नहीं। जब कभी चन्द्र 'राहु' और 'केतु' नामक बिन्दुओं से इस परिमित दूरी से दूरतर होता है तब तो सूर्य्य और पृथिवी का मध्यवर्त्ती होते हुये भी सूर्य्य ग्रहण नहीं पैदा कर पाता।

क्रमशः

सम्भाषण

बहनो और भाइयो,

सभापति के भाषण के सम्बन्ध में रूढ़ि यह है कि प्रथम उन सज्जनों को धन्यवाद दिया जाय जिन्होंने सभापति का निर्वाचन किया है। फिर अपनी अयोग्यता और अन्य विद्वज्जनों के पांडित्य के विषय में कुछ कह कर चुनने वालों की बुद्धिमत्ता पर संदेह उठाया जाय। तत्पश्चात् उन्हीं की आज्ञा को येन केन प्रकारेण पालन करने के लिये तत्परता दर्शायी जाय। दर्शन सम्बन्धी सभाओं में जिनका एक मात्र उद्देश्य रूढ़ियों की ओर से उदासीनता और तत्व की खोज है इन सब रस्मों को अदा करना उचित है या अनुचित, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी मीमांसा स्वयं एक जटिल दार्शनिक समस्या का रूप धारण कर सकती है। हमारे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन-विभाग की यह पहली बैठक है। अतः यह उचित प्रतीत नहीं होता कि आरम्भ में ही इस शुष्कवाद को उठाया जाय। इसलिये रूढ़ि के अनुसार मैं भी आप सज्जनों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि आपने अपने इस महत्व-पूर्ण विभाग का सभापति चुनकर मेरे मान को बढ़ाया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दर्शन-विभाग बड़ा ही महत्व-पूर्ण है और उसका सभापति भी किसी विवेकी पुरुष को ही बनाना चाहिये था। परम दार्शनिक श्री शङ्कराचार्य्य जी ने दर्शन के अधिकारी के लिये चार बातें बताई हैं—

(१) नित्यानित्यवस्तु-विवेक :—अर्थात् जिसे नित्य और अनित्य का विवेक हो।

(२) इहामुत्रार्थभोगविराग :—अर्थात् जिसे ऐहिक और पारमार्थिक भोगों से विराग हो।

(३) शमदमादिसाधन संपत्— अर्थात् जो शम दम आदि साधनों से सम्पन्न हो।

(४) मुमुक्षत्वं—अर्थात् जिसमें मुक्ति की इच्छा हो।

आप सब पर भली भांति विदित है कि मुझमें इन गुणों का अभाव है। परन्तु यह भी कुछ कम बुद्धिमत्ता नहीं है कि आरम्भ छोटे से ही होना चाहिये। संसार के सभी बड़े बड़े कामों का आरम्भ छोटा ही होता है। प्रश्न यह नहीं है कि हम चलते कहाँ से हैं। प्रश्न यह है कि हम जा कहां को रहे हैं।

दर्शन किसे कहते हैं ? अङ्गरेज़ी भाषा में दर्शन के लिये फिलासफ़ी शब्द आता है। यह यूनानी भाषा के दो शब्दों से बना है फिल (Philos=loving) का अर्थ है मित्र और सोफ़ी (Sophos=wise) का अर्थ है बुद्धिमान्। जो बुद्धिमत्ता का मित्र है वह फिलासफ़र है। इस लक्षण के अनुसार तो सभी अपने को फ़िलासफ़र कहना पसन्द करेंगे। परन्तु पारिभाषिक अर्थों में कुछ भेद पड़ गया है। मैं बचपन से फ़िलासफ़ी शब्द को सुना करता था और जी में कहा करता था कि फिलासफ़र कैसा होता है और फ़िलासफ़ी की पुस्तकों में क्या लिखा होता है। अचानक एक दिन मुझे मालूम हुआ कि मैं "भी तो फिलासफ़र हूँ।" इसकी कथा आपके मनोरंजनार्थ कहे देता हूँ।

मैं प्रयाग के ट्रेनिंग कालेज में शिक्षा-विधि का विद्यार्थी था। एक दिन अध्यापन-कला में मेरी परीक्षा हुई। मुझे जो वस्तु-पाठ (Object lesson) पढ़ाना था उसका शीर्षक था "बीज"। मैंने भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों को इकट्ठा किया। जिनमें अमरूद के छोटे बीज से लेकर नारियल के बड़े बीज तक सभी मौजूद थे। बीजों को बनस्पति-शास्त्र के नियमानुसार कई कक्षाओं में विभाजित किया। उनके विषय में कुछ बातें बताईं। जब पाठ का अन्त हुआ तो मैंने अपने विद्यार्थियों से कहा "क्या तुम ईश्वर की उस महती सत्ता का अनुभव नहीं करते जिसके द्वारा ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों से ऐसे विचित्र फूल पत्ते तथा फल उत्पन्न होते हैं ? बरगद के छोटे से बीज से बरगद का इतना विशाल वृक्ष बन जाना कैसा आश्चर्यजनक दृश्य है।" प्रिंसिपल महोदय जो अध्यापन का निरीक्षण कर रहे थे मेरे अन्तिम वाक्य को सुन कर कह उठे, "You are a young philosopher," (तुम तो एक युवक फ़िलासफ़र हो)। उस दिन से मेरे सहपाठी कभी कभी हंसी में मुझे यंग फ़िलासफ़र कह दिया करते थे।

मुझे अब तक मालूम नहीं था कि मैं फ़िलासफ़र हूँ। मैं फ़िलासफ़र का दर्शन करने के लिये उत्सुक था। परन्तु उस दिन साधारण प्राकृतिक दृश्यों का ईश्वर से सम्बन्ध बताने के कारण मैं फ़िलासफ़र हो गया। मेरे विचार से संसार के सभी मनुष्यों में थोड़ा बहुत फ़िलासफ़ी का बीज मौजूद है। लाल बुझक्कड़ के गांव के सब लोग जो लाल बुझक्कड़ से साधारण दृश्यों के रहस्यों को पूछा करते थे फिलासफ़र थे। क्योंकि उनके मन में तत्व के जानने की आकांक्षा थी। जब आप के मन में यह प्रश्न उठे कि अमुक घटना कैसे होगई तो इस प्रश्न का उठना मात्र ही फ़िलासफ़ी की बुनियाद है। थिली (Thilly) ने अपनी (A history of philosophy) की भूमिका के आरंभ में लिखा है :—

A history of philosophy aims to give a connected account of the different attempts which have been made to solve the problem of existence or to render intelligible to us our world of experience.

अर्थात् फ़िलासफ़ी का इतिहास उन भिन्न भिन्न प्रयासों का क्रमबद्ध इतिहास है जो सत्ता के प्रश्न को हल करने या अपने अनुभवों के जगत् को ज्ञेय बनाने के लिये किया जाता है। लाल बुझक्कड़ क्या करता था ? जब उसने कहा :—

लाल बुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोय।
पैरों चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥

तो उसने अपनी बुद्धि तथा अपने गांव और समय की सामूहिक बुद्धि के अनुसार एक दृश्य की पहेली को बूझने की कोशिश की।

अन्य फ़िलासफ़र क्या करते हैं ? वह भी पहेलियां बूझते हैं। जीवन एक पहेली है। जगत् एक पहेली है। इस पहेली को अपनी विद्या, अपनी बुद्धि तथा अपनी शक्ति के अनुसार बूझना फ़िलासफ़रों का काम है ! इस प्रयास में हम सफल हों या असफल, यह और प्रश्न है। जगत् के जितने बड़े बड़े फ़िलासफ़र हुये हैं वह अपने हृदय पटल पर हाथ रख कर यह नहीं कह सकते कि उनको सफलता हुई। केनोपनिषत् में तो इस का फ़ैसला ही कर दिया :—

यस्यामतम् तस्य मतम् मतम् यस्य न वेद सः।
अविज्ञातम् विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

अर्थात् जो समझता है कि मैं इस भेद को समझ गया उसने नहीं समझा और जिसने समझा है कि यह भेद समझ में नहीं आता वही समझा हुआ है। हरबर्ट स्पेंसर का ज्ञेय और अज्ञेय (The Knowable & the Unknowable) भी तो इसी बात की ओर संकेत करता है।

आप शायद कहने लगें कि लाल बुझक्कड़ का दृष्टान्त देकर मैंने आप का अपमान किया। परन्तु मेरा यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है। यदि हम उपनिषत् के वाक्य पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि पहेली बूझने का यत्न करने के कारण तो अवश्य उसमें फ़िलासफ़ी का बीज था। परन्तु जब वह कहता था

लाल बुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोय।

तो वस्तुतः वह फ़िलासफ़रों की श्रेणी से वहिष्कृत करने के योग्य हो जाता था।

क्योंकि यह कहना कि "मैं रहस्य को समझ गया। कोई मेरे समान रहस्य को नहीं जानता" फिलासफी नहीं किन्तु मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मैंने आरंभ में प्रश्न उठाया था कि दर्शन क्या है? इसका सबसे श्रेष्ठ उत्तर मुण्डकोपनिषत् में दिया है।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदम् विज्ञातं भवतीति॥

"महा-गृहस्थी शौनक अङ्गिरा ऋषि की सेवा में उपस्थित होकर कहते हैं "हे भगवन्! किस वस्तु के ज्ञात होने पर संसार की सभी वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं।"

शौनक वास्तविक रूप से महान् दार्शनिक था। क्योंकि उसके हृदय में उस महान् तत्व के खोजने की आकांक्षा हुई जिसके जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है। संसार की भिन्न भिन्न घटनाओं, भिन्न भिन्न वस्तुओं और भिन्न भिन्न दृश्यों में यह समझना कि यह सब अलग अलग नहीं हैं किन्तु परस्पर सम्बद्ध हैं, कोई एक विशेष नियम है जो इन सब में ओत प्रोत है और जिसको जानने से ही यह वस्तुएँ समझ में आ सकती हैं दर्शन-शास्त्र की प्रथम श्रेणी है। अंगरेजी में इस जगत् को यूनीवर्स (Universe) कहते हैं। यूनी शब्द एक का वाचक है। इसलिये यूनीवर्स का शाब्दिक अर्थ होगा ऐक्य (Oneness)। जगत् बहुत होते हुए भी एक है। देखने में तो यह यूनीवर्स (Universe) या ऐक्य नहीं किन्तु मल्टीवर्स (Multi-verse) अर्थात् बहुत्व प्रतीत होता है। परन्तु इस बहुत्व में ऐक्य छिपा हुआ है अर्थात् संसार की यह भिन्न भिन्न वस्तुयें असम्बद्ध नहीं है किन्तु सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार से जंजीर की कड़ियां बहुत सी हैं परन्तु वे सब मिलकर एक जंजीर बनाती हैं, वह सब एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, वह अलग नहीं हैं, वह बहुत होते हुये भी एक हैं, इसी प्रकार संसार की भिन्न भिन्न घटनाओं और दृश्यों को समझना चाहिये। जो पुरुष इस नानात्व में एकत्व को नहीं देखता वह दार्शनिक नहीं है। तभी तो उपनिषत् कहती है:—

नेह नानास्ति किंचन।
(बृहद० ४।४।१९)

अर्थात् यहां कोई नानात्व है ही नहीं। जो वस्तुयें नाना हैं वह भी सम्बद्ध होकर एक हो गई हैं। क्योंकि उनके भीतर एक महती सत्ता ओत प्रोत है। इस सत्ता

का पता लगाना ही दर्शन-शास्त्र का एक मात्र उद्देश्य है। जब शौनक ने अङ्गिरा से प्रश्न किया तो अङ्गिरा ने क्या उत्तर दिया ?

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

(मुण्डक १।४, ५)

दो प्रकार की विद्यायें हैं जिनका ब्रह्मविद् अर्थात् दार्शनिकों ने वर्णन किया है एक अपरा जिसके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, आदि अनेक विद्यायें और शास्त्र हैं। दूसरी परा अर्थात् दर्शन शास्त्र है जिसके द्वारा अक्षर अर्थात् उस बड़े तत्व का ज्ञान होता है जो उन वस्तुओं में ओत प्रोत है। जितनी सायंसें अर्थात् विज्ञान-विभाग हैं वे सब अपने अपने क्षेत्र में वस्तुओं की अलग अलग जाँच करते हैं। कैमिस्ट्री एक विद्या है, गणित एक दूसरी विद्या है, व्याकरण एक तीसरी विद्या है। इन सबके क्षेत्र अलग अलग हैं। यह संसार के दृश्यमान् पदार्थों की खोज करती हैं। यही अपरा विद्या के नाम से पुकारी गई हैं। परन्तु जहाँ अपरा विद्यायें कई हैं वहाँ परा विद्या एक है। वह दृश्यमान् पदार्थों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखती। वह विद्याओं की विद्या है। वह उस नियम की खोज करती है जो अन्यान्य विद्याओं के भीतर गुप्त है अथवा जिसके भीतर वे विद्यायें गुप्त हैं। इस नियम को अक्षर अर्थात् न नाश होने वाला बताया गया है। दृश्यमान पदार्थ नाश होते रहते हैं। इनके रूपों में परिवर्त्तन होता रहता है। परन्तु वह नियम जो इन दृश्यमान पदार्थों को दृष्टिपथ के भीतर लाता और फिर हटा ले जाता है नाशवान् नहीं किन्तु अक्षर है। इसी को ब्रह्म (बड़ा Great Principle) या पुरुष (पुरि शेते इति* Underlying Principle) कहा गया है। यह नियम क्या है ? यह कहना कठिन है। अङ्गिरा ऋषि इसको स्पष्ट बता नहीं सकते। वह जानते हुये भी नहीं जानते और नहीं जानते हुये भी जानते हैं। वह केवल इतना ही कहते हैं :—

यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादं नित्यम् विभुम् सर्वगतम् सुसूक्ष्मम् तदव्ययम् तद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः॥

---

*स पुरि शेते स पुरि शेते इति। पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते॥

—गोपथ ब्राह्मण (पूर्व० प्र० १। क० ३९)

वह तत्व देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता। वह इन्द्रियों से परे है। उसके आँख, कान, हाथ, पैर नहीं हैं। परन्तु फिर भी यह नहीं कह सकते कि वह है ही नहीं। यदि वह न होता तो यह आंख, कान, हाथ, पैर कैसे होते ? माला का धागा टूट जाय तो माला नहीं रह सकती। दाने अलग २ बिखर जायेंगे। उनके बिखरते ही न केवल माला का ही अभाव हो जायगा किन्तु दाने भी अपने अस्तित्व को खो बैठेंगे। यही हाल इस दृश्यमान जगत् का है। यह अदृश्य अक्षर ही है जो दृश्य पदार्थों की सत्ता का आधार है। इसी की तो खोज करनी है।

बहुत से लोग इस खोज को व्यर्थ समझते हैं। जिनको जान ही नहीं सकते उसकी तलाश ही क्यों करें ? आकाश के पुष्पों को ढूँढ़ने का कौन प्रयत्न करेगा ? यही कारण है कि कुछ लोग फिलासफरों और दर्शन शास्त्रज्ञों को ड्रीमर या स्वप्न देखनेवाला कहते हैं। उनको तत्व की खोज का दृश्यमान जगत् में कोई उपयोग ही नहीं दीख पड़ता। परन्तु यह केवल दृष्टि-कोण का भेद है। साधारण लोकोक्ति है कि "आम खाने हैं तो पेड़ क्यों गिनते हो ?" परन्तु स्मरण रहे कि जहाँ बच्चों का अन्तिम ध्येय आम खाना है न कि पेड़ गिनना। वहां बाग़ के स्वामी का यह भी कर्त्तव्य है कि पेड़ों की संख्या भी जानता रहे। जो पेड़ गिनने का कष्ट नहीं उठा सकता उसको आम भी खाने को नहीं मिलेंगे। जिनकी दृष्टि वस्तुओं की ऊपरी तह तक ही सीमित रहती है वह न गहरे पैठ सकते हैं न रत्न निकाल सकते हैं।

यदि संसार की प्रसिद्ध प्रगतियों पर दृष्टि डाली जाय तो उनकी तह में दार्शनिक सिद्धान्तों का भेद अवश्य मिलेगा। भिन्न २ समय और भिन्न २ देशों के दार्शनिकों ने उस महत् तत्व को भिन्न २ दृष्टि से देखा। उसके सम्बन्ध में उनके विचार भिन्न भिन्न हुये। यही कारण है कि उनका व्यावहारिक जगत् भी बदल गया। भिन्न भिन्न देशों की सभ्यताओं का भेद, भिन्न २ जातियों के संस्कार तथा संस्थायें इन सबका मूलाधार उनके दर्शन शास्त्र हैं। इसलिये दर्शन को अनुपयोगी या कम उपयोगी बताना उचित प्रतीत नहीं होता। संभव है कि कुछ दार्शनिक लोग ड्रीमर या स्वप्न देखने वाले ही हों। परन्तु जो स्वप्न देखता है वह स्वप्न की भांति ही व्यवहार भी करेगा। सभी दार्शनिक तो स्वप्न देखने वाले नहीं हैं। यही तो खोज करनी है कि हम सोते हैं या जागते हैं और यदि सोते हैं तो जग कैसे सकते हैं।

जो लोग ब्रह्म को अज्ञेय समझ कर आकाश के पुष्प या बन्ध्या के पुत्र के समान छोड़ देते हैं वह भूलते हैं। यह तत्व आकाश का फूल नहीं है। यह तत्व है। यह अज्ञेय होता हुआ भी ज्ञेय है और ज्ञेय होता हुआ भी अज्ञेय है। अज्ञेय

इसलिये है कि वह परा विद्या का विषय है अर्थात् हमारी बुद्धि की सीमा के बाहर है। और ज्ञेय इसलिये है कि उसके अस्तित्व का हमको अनुबोध है। हम उसके होने से इनकार नहीं कर सकते। उपनिषद् इसीलिये तो कहती है कि

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

अर्थात् न मैं यह मानता हूँ कि उसको भली भांति जानता हूं न यह जानता हूँ कि उसे नहीं जानता। बृहदारण्यक उपनिषद में गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया है कि कौन तत्व किसमें ओत प्रोत है। पहले तो याज्ञवल्क्य उत्तर देते रहे। अन्त में उनकी बुद्धि चकरा गई और वह कहने लगे :—

गार्गि माति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तद् अनतिप्रश्न्यां वै देवताम् पृच्छसि। गार्गि मातिप्राक्षीरिति ॥

(बृह०—अध्याय ३ ब्राह्मण ६)

हे गार्गी आगे मत पूछ। नहीं तो तुझे हानि होगी। तू ऐसी बात पूछती है जिसके विषय में प्रश्न किया ही नहीं जा सकता।

यह तो हुआ उस प्रश्न के विषय में कि दर्शन किसे कहते हैं ? भारतवर्ष ने दर्शन शास्त्र को सदा ही अपने जीवन में एक उच्च स्थान दिया है। भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन में सदा तदात्म्य रहा है क्योंकि भारतीय लोग जीवन व्यतीत करने से पहले उसकी जटिल पहेली को बूझने की कोशिश करते रहे हैं। तभी तो मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था कि

येनाहं अमृता नास्यां तेनाहं किम् कुर्याम्।

(बृहद०—४।५।४)

अर्थात् जिससे मैं अमर न हो जाऊँ उसको लेकर क्या करूँगी। बिना जीवन तत्व की खोज किये जीने की कोशिश करना व्यर्थ और नीरस है। जीते तो सभी है। पशु भी और मनुष्य भी। पशु तत्व की खोज नहीं करते और मनुष्य को तत्वज्ञ होने की योग्यता दी गई है। अतः मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि तत्व की खोज करे।

मैं यहां उन सब प्रयासों की विवेचना करना नहीं चाहता जो भारत माता के सुपुत्र सृष्टि की आदि से अब तक दार्शनिक उलझनों के सुलझाने में करते रहे हैं। आर्य्य जाति एक अति प्राचीन जाति है। इसके सिर पर समय समय पर अनेक विप्लव आते रहें हैं। ऐसी प्राचीन जाति के युग-युगान्तर के साहित्य का इस प्रकार गड़बड़ हो जाना कि पूर्वापर का पता न चले स्वाभाविक ही है। परन्तु जो लोग यह

समझते हैं कि भारतवर्ष ने दर्शन-शास्त्र की मौलिकता में कोई भाग नहीं लिया वह भारतवर्ष ही नहीं किन्तु मानव जाति के साथ अन्याय करते हैं। हमको थिली के फिलासफ़ी के इतिहास में यह पढ़ कर आश्चर्य होता है :—

Few of the ancient peoples advanced far beyond the mythological stage, and perhaps none of them can be said to have developed a genuine philosophy except the Greeks.

अर्थात् प्राचीन जातियों में से किसी ने देवमाला की श्रेणी से आगे पग नहीं बढ़ाया और शायद यूनान वालों को छोड़कर किसी अन्य जाति ने वास्तविक दर्शन शास्त्र को उत्पन्न नहीं किया।

यहां अवकाश नहीं है कि यूनानी और भारतीय दर्शनों की तुलना की जाय। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल यूरोप की सभ्यता तथा उनके दर्शन शास्त्र की नींव यूनान की फिलासफ़ी पर पड़ी। और यूनान की इस सम्पूर्ण फिलासफ़ी का आरम्भ उस देवमाला से होता है जो होमर आदि के काव्यों में यत्र तत्र पाई जाती है परन्तु भारतवर्ष के दर्शनों का भी उसी प्रकार का निकास बताना न्याय-पूर्ण नहीं जंचता! प्रश्न यह है कि जब ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी में थैलीज़ (Thales) और उसके शिष्य एनाक्सी मैण्डर (Anaximander) आदि ने यूनानी दर्शन-भवन का पहला पत्थर रक्खा उससे पूर्व किसी अन्य जाति और विशेषकर भारतवर्ष में दर्शन-शास्त्र था या नहीं। यदि उपनिषदों के ही आत्म-विज्ञान या ब्रह्म विज्ञान पर गूढ़ विचार किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। अर्थात् भारतीय दर्शन देवमाला (mythology) से आरम्भ नहीं होता किन्तु भारतीय देवमाला उस समय उत्पन्न होती है जब दार्शनिक विचार विस्मृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा कि यूनान के दर्शन-शास्त्र की जननी वहाँ की देवमाला है। परन्तु भारतीय देवमाला भारतीय दर्शन की चिता पर उपजी है और जब जब भारतीय दर्शन ने पुनर्जन्म ग्रहण किया तब तब देवमाला का ह्रास होता गया।

दूसरा प्रश्न यह है कि थैलीज़ (Thales) को अपनी फ़िलासफ़ी किस प्रकार सूझी। थैलीज़ का कोई ग्रन्थ आज कल प्राप्य नहीं है। परन्तु जिन लोगों ने यूनानी फिलासफ़ी के इतिहास का अध्ययन किया है उनके कथन का सार यह है :—

If we may believe Hippolytus, all things not only came from water, according to Thales, but return to water. Perhaps he conceived it as a kind of slime, which would explain most satisfactorily both solids and liquids, and the origin of living beings.

अर्थात् यदि हिपोलीटस के कथन को प्रामाणिक माना जाय तो थैलीज़ का यह मत था कि सब वस्तुयें न केवल जल से उत्पन्न होती हैं किन्तु अन्त में जल में ही लय हो जाती हैं। शायद वह जल को एक प्रकार की कीच (Slime) समझता था जिस से ठोस और द्रव पदार्थों की तथा जीवधारियों की उत्पत्ति को सन्तोषजनक व्याख्या हो सके।

Out of water everything comes, how he does not tell us. (Thilly).

जल से ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति है। कैसे? यह वह नहीं बताता।

He found the ultimate substance in water (Rogers)

वह जल को ही तत्व समझता था।

परन्तु इसीसे मिलते जुलते ऋग्वेद के दो मंत्र सामने आते हैं जिनसे यह उलझन दूर हो जाती है:—

तम आसीत् तमसा गूढहऽमग्रेऽप्रकेतम् सलिलम्‌* सर्वमा इदम्॥

(ऋ० १०। १२९। ३)

आरम्भ में अन्धकार था। अन्धकार से ढका था और यह सब न दिखाई देने वाला 'सलिल' था।

यद् देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥

(ऋ० १०। ७२। ६)

अर्थात् हे विद्वानो! जब आप लोग 'सलिल' में मिले जुले स्थित थे और जब तुम्हारे नृत्य करने वाले के समान तीव्र रेणु उत्पन्न हुआ।

यह 'सलिल' क्या है? यद्यपि संस्कृत में सलिल का अर्थ जल भी है। परन्तु सलिल परमाणुओं (Atom) का भी वाचक है। यहाँ सलिल का अर्थ जल करना ठीक न होगा। क्योंकि यहाँ सलिल का ही विशेषण 'अप्रकेतं' आया है। दूसरे मंत्र में सलिल का ही पर्य्याय 'रेणु' आया है। इससे स्पष्ट है कि थैलीज से बहुत पूर्व 'सलिल' से सृष्टि उत्पत्ति का ज्ञान था। और क्या आश्चर्य है कि थैलीज़ का भी इसी प्रकार के परमाणु आदि से तात्पर्य रहा होगा!

---

* सलिलं सलगतौ औणादिकः इलच्। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आः आसीत् इतिसायणः।

यहां मेरा प्रयोजन किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त की मीमांसा करना नहीं है। यहां मुझे केवल यह बताना है कि भारतवर्ष की दार्शनिक उन्नति उपेक्षा के योग्य नहीं है। प्राचीन दार्शनिकों को जाने दीजिये। हमारे इतिहास के नष्ट होने के कारण लोग उनको इतिहास से पूर्व काल का (Pre-historic-age) कहकर टाल देते हैं। परन्तु मध्यकाल में भी जिस देश ने शङ्कर, रामानुज, माधवाचार्य, दिग्नाग, नागार्जन आदि आदि दिग्गज दार्शनिक उत्पन्न कर दिये हों उस देश के निवासियों को अपनी दर्शन-सम्पत्ति पर अभिमान न करना अश्चर्यजनक खेद ही तो है।

आप की यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अंग हैं। अतः यह अनुचित न होगा यदि मैं दर्शन और हिन्दी के सम्बन्ध में एक दो बातें कहदूं। यदि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों को छोड़ दिया जाय तो हिन्दी में दार्शनिक ग्रन्थों का अभाव ही है। श्री निश्चलदासजी के वृत्तिप्रभाकर तथा दो एक जैन धर्म सम्बंधी ग्रन्थों को छोड़कर कोई दार्शनिक ग्रन्थ हिन्दी भाषा में मेरे देखने में नहीं आया। इसका कारण यह है। हिन्दी की माता संस्कृत है और विमाता अङ्गरेज़ी। हिन्दी इस समय अपनी विमाता के आधीन है। विमाताओं का प्रेम तो जगत् प्रसिद्ध ही है और माता की चलती नहीं। अतः हिन्दी में दर्शन ग्रन्थों का अभाव है। जो विचार शील हैं वह या तो अङ्गरेज़ी में सोचते हैं या संस्कृत में। यही कारण है कि मौलिक भाव उत्पन्न नहीं होते। यदि यूरोप के लोग लैटिन और ग्रीक के द्वारा ही सोचते रहते तो उनका साहित्य भी कुछ उन्नति न करता। आप अपने भूतकाल पर अवश्य अभिमान कर सकते हैं परन्तु आप का वर्तमान तो उसी समय उन्नत होगा जब हिन्दी राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेगी!

हम सब को आशा रखनी चाहिये कि आप का दर्शन विभाग उत्तरोत्तर उन्नति करेगा! ❋

❋ यह सम्भाषण ३० दिसम्बर १९३१ को झांसी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दर्शन परिषद की ओर से पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० ने पढ़ा था।

ऋषि की स्मृति

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"]

(१)

आये वासुदेव कंस आदि को विनष्ट करि,
भारत के मध्य सुख शान्ति को बढ़ा गये।
रवि-कुल-कमल दिवाकर श्री रामचन्द्र,
नीच गुह राज को भी उत्तम बना गये॥
भिलिनी के गेह भी सुरुचि से लगा के भोग,
प्रेम और कर्म की महत्ता को दिखा गये।
स्वामी दयानन्द भी हृदय में इन्हें ही धार,
वेदों के विचित्र राग जग को सुना गये॥

(२)

जग-गुरु भारत का आज सारा देश गुरु,
प्रभो ! क्यों बना है यह बात जब खट की।
ध्यान जगदीश का किया जो ऋषि-राज तब,
बुद्धि बीच शीघ्र ही विकाश-कली चट की॥
वेदों की ऋचाओं को पढ़ा, हो शुद्ध चित्त ज्योंहीं,
ढोंग औ ढकोसलों की सारी कथा सट की।
प्रेममूर्ति ऋषि दयानन्द की कृपा से आज,
आर्य्यवीर मुख में है वेद-बाणी लट की॥
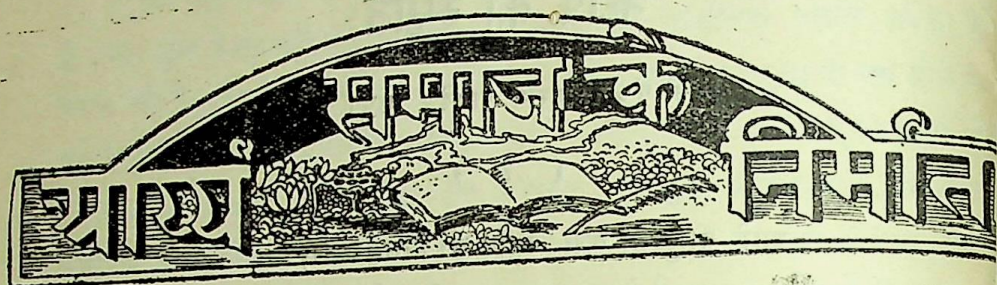
श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

(गतांक से आगे)

अक्टूबर व्यतीत हो चुका था। डेढ़ मास रह गया था। मुन्शी नारायण प्रसाद जी भवन बनवाने और प्रबन्ध करने के लिये नियत हुये। जिस बाग़ में भवन बनने को था वह इतना झाड़ झन-कार से भरा हुआ था कि जब मुन्शी जी उसका निरीक्षण करने गये तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने में ही आध घण्टे से कम नहीं लगा। जब बाग़ देख चुके थे तो निराशा ने आ घेरा। इतना थोड़ा समय और इतना काम! वह भी नगर से दो मील पर। कैसे बाग़ साफ़ हो। कैसे भवन बने। और यह सब छः सप्ताह में। परन्तु मुन्शी जी कठिनाई के समय साहस नहीं छोड़ते। ईश्वर का नाम लेकर चल पड़े। मथुरा के इंजिनियर बाबू धरनीधर दास और प्रसिद्ध वैद्य पं० क्षेत्रपाल शर्मा आदि की सहायता ली गई। दिन को और और रात को और मजदूर लगाये गये। रात दिन काम होता था। एक पल भी काम बन्द न किया। इस सुप्रबन्ध का यह अर्थ निकला कि १५ दिसम्बर १९११ को गुरुकुल के विद्यार्थी अपनी वर्तमान भूमि में आ विराजे। बीच का बंगला बन गया था। आश्रम के कमरों में आधे छाये जाचुके थे और आधों का छाना शेष था। परन्तु जो काम वर्षों में नहीं हो सकता था वह सप्ताहों में हुआ और उत्सव भी समारोह के साथ मनाया गया। उस समय गुरुकुल के अधिष्ठाता श्री पूज्य पं० भगवानदीन जी थे। उनका सन् १९१२ ई० में देहान्त हो गया। और मुन्शीजी पहले तो छुटी लेकर वृन्द्रा-वन में आ गये। परन्तु १९१३ ई० में उन्होंने सर्वथा त्याग पत्र दे दिया और पेन्शन की भी प्रतीक्षा नहीं की। मुन्शीजी १९१९ की फर्वरी तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। उसके पश्चात अपने कार्य्य क्षेत्र को विस्तृत करने के प्रयोजन से वानप्रस्थ लेकर रामगढ़ जि०

नैनीताल चले आये। इसका हाल आगे आयेगा।

गुरुकुल के सुप्रबन्ध का समस्त भार मुन्शी जी के ही कंधों पर रहा। भीतरी प्रबन्ध करना, बाहरी विरोध का निराकरण करना और व्यय के लिये धन इकट्ठा करना यह सब कठिन काम थे। परन्तु मुन्शी नारायण प्रसाद जी की योग्यता उन कठिनाइयों से कहीं अधिकतर थी। वृन्दावन सनातनधर्म के पाखण्ड का गढ़ है। वहाँ आर्य्य समाज से विरोध करना स्वाभाविक था। चारों ओर से लोगों के आक्रमण हुये। ज्योंही मार्ग बनाते कोई उस भूमि का दावेदार खड़ा हो जाता। बिना बात के लोग कोलाहल करते। सरकार को झूठी अर्जियां दी जातीं। कोई कहता कि आर्य्य अमुक मन्दिर को ढाना चाहते हैं। कोई कहता कि आर्यों ने अमुक मूर्ति तोड़ डाली यह सब बातें निराधार थीं, परन्तु लोगों का प्रयोजन तो एक मात्र यह था कि यह लोग डरकर वहाँ से भाग जावें। मैं सन् १९१६ की गर्मियों में कुछ दिन गुरुकुल में ठहरा था मैंने हर छात्र के पास एक लोटा और एक कटोरी देखी। मैंने कारण पूछा तो मुझे बताया गया कि एक समय ऐसा आ चुका है जब गुरुकल में कार्य्य करने के लिये भृत्य नहीं मिलते थे। आस पास के पंडे बहका देते थे। इसलिये प्रत्येक छात्र को एक कटोरी दे दी गई थी। इसमें वह दाल ले लेते थे और पतलों पर रोटी, इस प्रकार कुछ दिनों कार्य्य चलाया गया। उस समय वहां पर एक नौकर था। वह आरम्भकाल की बातें सुनाया करता था। वह कहने लगा कि जब मैं मज़दूरी करने आया तो लोगों ने कहा--"आर्यों का काम न कर! यह गोमांस भक्षी हैं।" थोड़े दिनों में उसे सब रहस्य ज्ञात हो गया।

इस प्रकार की पचासों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु मुन्शीजी का ही साहस था कि सबको पार कर गये। गुरुकुल के साथ साथ प्रचार का कार्य्य भी जारी रहता था। समाज-सुधार की ओर भी बड़ा ध्यान था। गुरुकुल भूमि के निकट ही गुरुकुल के स्वत्व में एक कुंआ था। कुछ ऐसी प्रथा चल पड़ी थी कि मुसल्मान भिश्ती उससे पानी भरते थे और कुछ लेकर चमारों को पानी दिया करते थे। चमारों ने मुन्शी जी से कहा। इन्होंने कहा—"तुम मूर्ख हो! स्वयं पानी क्यों नहीं भरते।" चमारों ने कुंएं से पानी भर लिया। इस पर बड़ा कोलाहल हुआ। बहुत से मुसल्मान आये और कहने लगे कि "कुंआ नापाक हो गया कि जिस प्रकार बहुत से हिन्दू हमको कुएं से पानी नहीं भरने देते उसी प्रकार हम भी इन अछूतों को कुंए पर चढ़ने नहीं देते।"

मुंशी जी का शान्ति-प्रद उत्तर यह था कि 'कुंआ हमारा है। हम किसी से घृणा नहीं करते। हमारे लिये तुम सब एक हो। हम किसी मुसलमान को अपने कुंए से नहीं रोकते। तुम हमारे सभी कुंओं से पानी भर सकते हो।' जैसे हम तुमसे घृणा नहीं करते, हम चाहते हैं कि तुम भी चमारों से घृणा न करो।'

इस प्रकार एक अनुचित प्रथा का अन्त हो गया। यह न समझना चाहिये कि मुन्शी जी को इतना ही काम था। सार्वदेशिक सभा की बात तो सुनिये। आठ वर्ष पहले से यह विचार हो रहा था कि जिस प्रकार प्रान्त भर के समाजों की प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा है उसी प्रकार सब प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि स्वरूप एक सार्वदेशिक सभा होनी चाहिये। कई प्रारम्भिक बैठकें हुईं। बहुत सा समय नियम निर्माण करने में लगा। अन्त को १९०८ ई० के दिसम्बर में सार्वदेशिक सभा नियमानुसार स्थापित हो गई और महात्मा मुन्शीराम जी प्रधान तथा पं० भगवान दीन जी मंत्री नियत हुये। १९१० के निर्वाचन में मंत्री का पद श्री मुन्शी नारायणप्रसाद जी को दिया गया। जिस पर यह छः, सात साल योग्यता पूर्वक कार्य करते रहे। अब कई साल से इस सभा के प्रधान हैं।

सन् १९१९ ई० बसन्त पंचमी के दिन मु० जी पचासवां वर्ष समाप्त हुआ। पहले प्रोग्राम के अनुसार वाण-प्रस्थ लेने का यही समय था। बसन्त-पंचमी से पूर्वही मुंशीजी ने गुरुकुल छोड़ना निश्चित कर लिया था। सभी को बहुत दिनों पूर्व सूचना और चेतावनी दी जा चुकी थी। सभा मुंशी जी की कार्य्य के लिये अत्यन्त आभारी थी। दिसम्बर १९१८ में सभा की ओर से अभिनन्दन पत्र दिया गया जिसे श्री बा० मदनसेठ एम.ए. ने सभा मण्डप में पढ़ा। बसन्त-पंचमी आई। अकस्मात् मैं भी गुरुकुल में उपस्थित था। गुरुकुल वासियों ने बड़े दुःख के साथ अपने परम स्नेही और परम हितैषी अधिष्ठाता को बिदा किया। मर्म भेदी व्याख्यान दिये गये। मुंशीजी को भी कुछ कम दुःख न था। परन्तु उनके सामने विस्तृत कर्तव्य था। बसन्त पंचमी को सायंकाल के समय मुंशी जी गुरुकुल छोड़ कर बन को चल दिये।

क्रमशः

सम्पादकीय
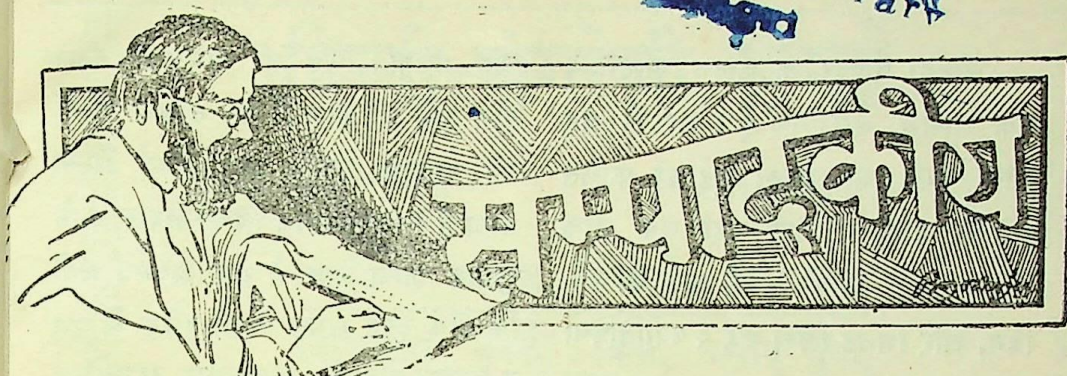
ज्योतिष पर पाश्चात्य वैज्ञानिक

र्तमान काल में ज्योतिष के ऊपर लोगों का बड़ा विश्वास है। हिंदुओं के लिये तो जाने, आने, खाने, पीने उठने बैठने में पण्डित जी से पूछ लेने की आवश्यकता पड़ती है। जितने विवाह होते हैं वे जन्म पत्री को मिला कर। लोगों का विचार है कि यदि ऐसा न किया जाय अशुभ की सम्भावना है। अपने दायें बायें देखिये कि जन्म-पत्री मिलाने पर भी स्त्रियां विधवा हो गईं, परन्तु लोगों का विश्वास ज्यों का त्यों है। अब भी समाचार पत्रों में विज्ञापन निकला करते हैं कि किसी फूल का नाम लिख भेजो हम वार्षिक फल बना कर वी० पी० द्वारा भेज देंगे। न जाने कितने भोले भाई इसमें फंस जाते हैं।

ज्योतिष के दो अंग हैं—एक का सम्बन्ध अंक से है और दूसरे का फल से। गणित वाली ज्योतिष तो विज्ञान का एक अंग है। उससे मालूम हो जाता है कि अमुक पुरुष जब उत्पन्न हुआ तो अमुक नक्षत्र थे। इसको मानने में कोई आक्षेप नहीं। परन्तु फलित ज्योतिष का कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं हो सकता। ग्रह या नक्षत्र हमारे जीवन पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं।

फलित ज्योतिष का प्रश्न पाश्चात्य जगत में भी उठा। उस देश के समस्त वैज्ञानिकों से जिन्होंने गगन मण्डल का निरीक्षण किया है प्रश्न पूछे गये। इनमें से मुख्य ये थे—प्रोफेसर सचेलसिंगर (येल विश्वविद्यालय) प्रोफेसर डेनियल हेरिंग (न्यूयार्क विश्वविद्यालय) प्रोफेसर ब्राऊन (अमेरिका की ज्योतिष-समिति के सभापति)। ये ही नहीं, सब वैज्ञानिक घोषणा कर रहे हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह भ्रम है कि ग्रह या नक्षत्रों का प्रभाव मानव समाज पर पड़ता है।

डाक्टर वाल्टर फ्रैंकलिन बोस्टन के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। आपको यह जांच करने की इच्छा हुई की फलित ज्योतिष वालों की बातें कहां तक ठीक निकलती हैं। आपने अपने जन्म का वर्ष, दिन, और मिनट लिख कर ६ ज्योतिषियों को दिया सबसे एक ही प्रश्न पूछा गया था कि "मेरी शादी कब होगी?" भिन्न २ ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों ने भिन्न भिन्न समय बताये। किसी को यह न सूझा कि फ्रैंकलिन महोदय का विवाह हो गया है।

प्रोफ़ेसर सचेल सिंगर ने अपने पुत्र की जन्म-पत्री बनवाई। जन्म होने का समय बिल्कुल ठीक २ दिया। परन्तु जो बातें जन्म पत्री से घोषित होती थीं उन से विपरीत वास्तविकता थी।

वास्तव में ग्रहों का प्रभाव हम पर नहीं पड़ता। एक ही समय में उत्पन्न होने वाले दो बालकों को देखिये दोनों की आकृति, प्रकृति, धन, वैभव भिन्न होता है। जिस समय किसी महाराज के कुमार जन्म लेता है यह सम्भव नहीं कि ठीक उसी समय किसी दरिद्र के पुत्र न उत्पन्न होता हो। राजकुमार, राजकुमार रहता है, उसके ऐश्वर्यों का भोग करता है परन्तु वही दरिद्र का पुत्र रोटी के एक एक टुकड़े के लिये तरसता रहता है। यह सम्भव है कि ज्योतिषी जो बात बताता है सत्य निकल जावे (ज्योतिषियों के उत्तर ऐसे गोल मोल होते हैं कि सभी अर्थ निकल सकते हैं) पर यह नहीं कि अवश्य ही सत्य निकलेगा। उस पर विश्वास करना मूर्खता नहीं तो और क्या है।

Reg. No. 2011.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य २॥)

एक प्रति का ।)

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press, Zero Road. Allahabad.

[...ग ४] फ़रवरी सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २३

वेदोदय

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

...क मूल्य २)
...ा के लिये २॥)
एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१—महा-पुरुष—[श्री० पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] ...४०१

२—यज्ञोपवीत का महत्व—[श्री० पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार विद्यावाचस्पति बंगलौर] ...४०४

३—वेदों की झांकी— ...४०७

४—राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द—[श्री० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] ४०९

५—मांस सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—[राज-रत्न मास्टर आत्माराम जी, बड़ौदा] ...४१७

६—आर्य्य समाज के निर्माता—[श्री० महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ...४२०

७—शंका समाधान—[प्रेषक श्री गंगा चन्द्र अग्रवाल, मिर्जापूर]४२३

८—वैदिक राहु—[श्री० पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र काव्य मध्यम एम० एस-सी०] ४२६

९—शतपथ ब्राह्मण—सभाष्य ...४३३

१०—समालोचना— ४३७

११—सम्पादकीय— ...४३८

वेदोदय के नियम

(१) यह पत्र अंग्रेजी महीने, की १ ली तारीख़ को प्रकाशित हो जाता है।

(२) कई बार जांच कर पत्र भेजा जाता है। जिन महाशय के पास १० तां० तक न पहुंचे उन्हें अपने डाकखाने में रिपोर्ट करनी चाहिये। डाकखाने की रसीद २० ता० तक भेजने पर दुबारा वेदोदय भेज दिया जायगा। इसके बाद पत्र आने पर विचार न किया जायगा।

(३) लेख, शंकायें—सम्पादक वेदोदय प्रयाग के पते से आनी चाहिये। (सम्पादक के नाम से नहीं)।

(४) पत्र के विषय में शिकायतें, प्रबन्धक वेदोदय, प्रयाग के पते से आनी चाहिये ग्राहक नम्बर लिखने पर आज्ञा का पालन ठीक ठीक हो सकेगा।

(५) यदि ग्राहक चाहें कि किसी पत्र का उनको उत्तर दिया जाय तो जवाबी पोस्ट कार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

आर्य्य समाज के प्राण

श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

बरैली में होनेवाले द्वितीय आर्य्य महा सम्मेलन के आप सभापति मनोनीत हुए हैं ।

ओ३म्
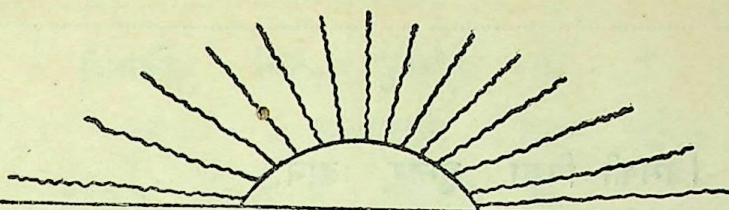
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति ।

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४ | माघ संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, फरवरी १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२ | संख्या ५ पूर्ण सं २३

महा-पुरुष

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"]

(१)

जो है भरा उच्च भावों से,
कविजन गुण जिसका गाते ।
निरभिमान अति जिसका मन है,
जिससे सुख सब जन पाते ॥
'मैं उत्तम सब अन्य नीच हैं',
जिसमें यह अभिमान नहीं ।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही ॥

(२)

जिसकी विद्या सुन्दर ज्ञान,
प्राप्ति का साधन होती है।
मिटा अखिल अज्ञान, हृदय में,
बीज कर्म का बोती है॥
जिसकी कला-कलाप प्राप्ति से,
होती उपकृत जन्म-मही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(३)

सहकर हिंसा भी प्रति हिंसा की,
रखता जो चाह नहीं।
विपज्जाल में फँस कर भी छोड़ता
न्याय की राह नहीं॥
जिसकी देख आत्म-सत्ता को,
होते चकित शत्रु सब ही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(४)

'एक बार जो कहा,' उसी पर,
जिसका जीना मरना है।
जन-सेवा-असि-विषम धार-पर,
जिसको नित्य विचरना है॥

जिसको निज कर्तव्यों में,
मानापमान है मान्य नहीं।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(५)

सुमन समान सुरभि जो है,
जग-जन-वन में वितरित करता।
सुमधुर उपदेशों से है जो,
पाप ताप सबका हरता॥
अर्पण किया वेद वाणी में,
जिसने सारा जीवन ही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

यज्ञोपवीत का महत्त्व

(श्री पण्डित धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति, बंगलौर)

दोदय के सुयोग्य सम्पादक जी ने जनवरी सन् १९३२ के अङ्क में 'यज्ञोपवीत' विषयक एक अत्युत्तम लेख लिखा है। उसी के संबंध में मैं दो तीन और आवश्यक बातें पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ जिससे यज्ञोपवीत के महत्त्व पर अधिक प्रकाश पड़े।

सुयोग्य सम्पादक जी ने अनेक वेद मन्त्र 'यज्ञोपवीत' विषयक उद्धृत किये हैं जिनको यहां फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहां केवल अथर्ववेद के पंचम काण्ड के २८ वें सूक्त के एक दो मन्त्रों का निर्देश करना चाहता हूँ जिनमें 'त्रिवृत्' पद द्वारा यज्ञोपवीत का वर्णन है। इस सूक्त का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है "त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन। अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमापशूनां तइह श्रयन्ताम्।" अर्थात् इस यज्ञोपवीत के अन्दर (इसके यथार्थ अभिप्राय को समझते हुए धारण करने के कारण) तीनों प्रकार की पुष्टि (शारीरिक, आत्मिक और मानसिक) विद्यमान रहे। पोषक परमात्मा इस यज्ञोपवीतधारी को घृत अर्थात् तेज (घृ-क्षरण दीप्त्योः॥ और पयस् अर्थात् वीर्य (रेतः पयः—शत० १२।४।१।७) से सम्पन्न करे। इस यज्ञोपवीत धारी को अन्न पुष्कलमात्रा में प्राप्त हो, उत्तम पुरुषों से सदा इसका सम्पर्क होता रहे और उपयोगी पशु इसके घर में रहें।

यह प्रार्थना यज्ञोपवीत के महत्त्व और प्रयोजन पर पर्याप्त प्रकाश डालती है जैसा कि मैं आगे बताना चाहता हूँ। यज्ञोपवीत का तात्पर्य जहां तीन प्रकार के ऋणों का स्मरण कराना है वहां उसका तात्पर्य कर्तव्य का स्मरण कराना है कि प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी को शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्ति की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना है। वेद का 'त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्ताम्। यह वाक्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्व पूर्ण है। ब्रह्मचर्यादि के पालन से वीर्यरक्षा और तेज का यज्ञोपवीत धारी में होना स्वाभाविक ही है। 'त्रिवृत्' पद का यज्ञोपवीत अर्थ 'ब्रह्म वै त्रिवृत ता. २। १६। ४) त्रिवृदेव स्तोमो भवति तेजसे ब्रह्मवर्चसाय (ता. ११।१।७) तेजो वै त्रिवृद् ब्रह्मवर्चसं (ता० १७।६।३) इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों

के वचनों से समर्थित होता है इसी को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। इसी उपर्युक्त अथ. ५।२८ के २ य और चतुर्थ मन्त्र में भी इममिन्द्र संसृज वीर्यणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु॥ यज्ञोपवीत के वीर्य रक्षणादि रूप ब्रह्मचर्य व्रत तथा शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्ति के विकास के साथ सम्बन्ध का स्पष्ट निर्देश है अतः मेरे विचार में यज्ञोपवीत का तात्पर्य तीन ऋणों के स्मरण कराने के अतिरिक जिनका मान्य पण्डित गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने लेख के अन्दर विस्तार से वर्णन किया है निम्न लिखित कर्तव्यों का स्मरण कराना भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब स्त्रियों को यज्ञोपवीत के अधिकार से वंचित कर दिया गया तो पुरुषों ने ही उनका यज्ञोपवीत भी स्वयं धारण करना शुरू कर दिया।

(१) शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के विकासार्थ प्रयत्न। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र इन तीनों का निर्देश करते हैं जैसे कि 'त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्ताम्।" इस वेद मन्त्र में भी बताया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन शास्त्रों में ३ ही सूत्रों का निर्देश है यद्यपि आजकल पौराणिक गृहस्थ ६ भी धारण करते हैं।

(२) यज्ञोपवीत के ३ सूत्र त्रिविध पवित्रता अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि का निर्देश करते हैं। इस पवित्रता का स्मारक होने के कारण ही यज्ञोपवीत को पवित्र चिह्न माना गया है और मन्त्र ब्राह्मण के सुप्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ अर्थात् यज्ञोपवीत एक अत्यन्त पवित्र और सरल चिह्न है जिसका उपदेश प्रजापति परमेश्वर ने वेद द्वारा हमें सृष्टि के प्रारम्भ में दिया है। इसके तात्पर्य को समझते हुए धारण करने से दीर्घायु बल तेज की हमें प्राप्ति हो।

(३) यज्ञोपवीत वेदाध्ययन का चिह्न माना ही जाता है और यह बात ठीक भी है क्योंकि वेदों के प्रधान विषय ज्ञानकर्म उपासना ये तीन हैं। इसलिये भी वेदों को त्रयी नाम से कहा जाता है। प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी का कर्त्तव्य है कि वह उत्तम ज्ञान को प्राप्त करे, उत्तम कर्म करे और वेदोक्त प्रकार से उपासना अभ्यास करके परमानन्द का लाभ करे। इस प्रकार वेदाध्ययन के साथ यज्ञोपवीत के सूत्रों का सम्बन्ध स्पष्ट है।

(४) यज्ञोपवीत का पर्यायवाची शब्द ही ब्रह्मसूत्र है। 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से यह बात स्पष्टतया ज्ञात होती है कि ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति के साथ इस यज्ञोपवीत का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः वेदों में ब्रह्म प्राप्ति के लिये ज्ञान कर्म और उपासना ये तीनों आवश्यक साधन माने

गये हैं अतः यज्ञोपवीत के ३ सूत्र इन तीनों का भी हमें स्मरण कराते हैं। ये तीनों साथ साथ चलने चाहिये। इनमें से किसी एक के भी अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(५) ऊपर जिस बात का निर्देश किया गया है उसी की अनेक प्राचीन ग्रन्थों से पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ महर्षि गार्ग्यायण प्रतीत 'प्रणववाद' नामक प्राचीन ग्रन्थ में जिसका अंग्रेजी अनुवाद सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० भगवान्दास जी एम० ए० ने "Science or the sacred word" के नाम से तीन भागों में प्रकाशित कराया है यज्ञोपवीत की व्याख्या करते हुए षष्ठतरङ्ग के ३ य प्रकरण में कहा है।

"यस्य च व्रतबन्धत्वेम प्रवचनम्, सोऽयमुपवीत-संस्कारः यस्मात्कालादं शास्त्राध्ययने प्रवृत्तो भवति, प्रवृत्त कारयति च, तस्मिन् काल एव तच्छास्त्राध्ययन रूप ब्रह्मचर्यस्यारम्भः। तदेवोपवीतं भवति। तत्र सर्वेषां ब्रह्मज्ञानोपार्जन शक्यत्वाद्धर्षो भवति। अयं च ब्रह्मचारी भवतीत्यभिप्रेत्य सर्वेऽप्युत्सहिता भवन्ति। तत्र चाचार्यः नियतः करोति। अनेन सह चैतच्छस्त्र मध्येयं भवति। तच्चिन्हं सूत्रधारणं भवति। उपनयनेऽपि सूत्रत्रयं ज्ञान क्रियेच्छाज्ञापकं भवति। तस्यैवानुकरणं सूत्रत्रयधारणम्।" (पृ० ३१६)।

इस उद्धरण का सारांश यह है कि यज्ञोपवीत वेद शास्त्र के अध्ययन रूप ब्रह्मचर्य्य का प्रारम्भ सूचक है जिसे देख कर सब को हर्ष होता है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत के ३ सूत्र इस बात का बाह्य चिह्न हैं कि यज्ञोपवीत धारी को उत्तम ज्ञान, उत्तम कर्म और उत्तम इच्छाओं का सदा अभ्यास करना है। ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा से ही उपासना की जाती है अतः वस्तुतः इसमें और उपर्युक्त तत्त्व में विशेष भेद नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत एक अत्यन्त सरल और पवित्र चिह्न है जिसके द्वारा हम अपने अनेक कर्तव्यों का स्मरण कर सकते हैं। निस्सन्देह साधारण मनुष्यों को इन चिह्नों की आवश्यकता होती है। सन्यासी इनका परित्याग कर सकते हैं क्योंकि उनका चित्त दिन रात ब्रह्मपरायण रहता है। इस पवित्र चिह्न के तात्पर्य को उपर्युक्त रीति से भली भांति समझते हुये हमें उसके द्वारा भी अपने जीवनों को अधिकाधिक आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये न कि उसका परित्याग करते हुए प्राचीन सत्य शास्त्रों के प्रति अपनी उपेक्षा का परिचय देना। आशा है विचारशील सज्जन इन निर्देशों से लाभ उठावेंगे।

———

(२३)
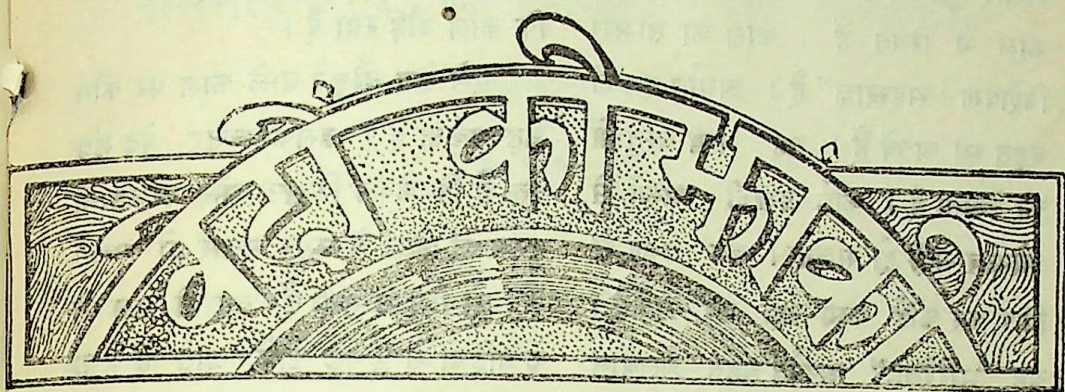
कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

(अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ५३, मंत्र १)

(सप्तरश्मिः) सात किरणों वाला (सहस्राक्षः) हज़ार आंखों वाला (अजरो) कभी बूढ़ा न होने वाला, (भूमिरेताः) बहुत बलवान (अश्वः) तीव्र गामी (कालः) काल या समय (वहति) निरन्तर बह रहा है । (तम्) उस काल पर (विपश्चितः) ज्ञानी (कवयो) विद्वान् लोग (आरोहन्ति) स्वामित्व प्राप्त करते हैं । (विश्वा भुवनानि) सब लोक लोकान्तर (तस्य) उसके (चक्रा) पहिये हैं ।

इस वेद मंत्र में समय या काल की महिमा बताई गई हैं । 'काल' का पहला विशेषण है 'अश्व' अर्थात् तीव्रगामी, तेज चलने वाला । समय इस तेज़ी से दौड़ता है कि तेज़ से तेज़ यान भी उस की समता नहीं कर सकते । पल मात्र में समय व्यतीत हो जाता है । हम उस को रोक नहीं सकते । उसके लिये "वहति" (बहना) क्रिया का प्रयोग किया है । जैसे जल बहता है उस प्रकार समय की धारा बहती है । काल का दूसरा विशेषण "सप्तरश्मिः" अर्थात् सात किरणोंवाला है । सूर्य्य की भी सात ही किरणें हैं । मुख्य मुख्य रङ्ग भी सात ही हैं । इसी प्रकार काल के भी सात रङ्ग या बहुत से रङ्ग हैं अर्थात्

संसार की विचित्र वस्तुयें सभी इस काल में स्थित हैं। काल का तीसरा विशेषण "सहस्राक्ष" है। अर्थात् इसकी बहुत सी आंखें हैं। यह सभी वस्तुओं को देखता है। कोई इसकी आंखों से ओझल नहीं हो सकता। हम काल से छिप कर कोई काम नहीं कर सकते। यह "भूरिरेताः" अर्थात् बहुत बलवान है। काल से अधिक बलवान कोई नहीं। "अजरो" अर्थात् इतनी तेज़ी से भागने पर भी यह बुडढा नहीं होता! इसके अन्तर्गत सभी चीज़ें बुड्ढी हो जाती हैं परन्तु यह नित्य युवा बना रहता है। इसका बल कभी घटता नहीं। इस मंत्र के दूसरे भाग में काल की रथ से उपमा दी है। जिस प्रकार रथ के पहिये होते हैं उसी प्रकार यह सभी लोक लोकान्तर काल रूपी रथ के पहिये हैं। रेल गाड़ी जब लोहे की पटरियों पर चलती है तो इसके बहुत से पहिये तेज़ी से घूमते दिखाई पड़ते हैं। इन का तेज़ी से घूमना ही रेल गाड़ी का चलना है। इसी प्रकार हम भी समय की तेज़ी का अनुमान इसके अनेक लोक लोकान्तरों के घूमने से ही लगा सकते हैं क्योंकि यही तो उस रथ के पहिये हैं। सूर्य्य उदय होता है, ऊपर चढ़ता है। अस्त हो जाता है। चन्द्र तथा अन्य नक्षत्र-बड़ी तेज़ी से घूमते हैं। इन्हीं की गति को देखकर कहते हैं कि काल दौड़ रहा है।

ऐसे तेज़ दौड़ने वाले काल पर कौन चढ़ सकता है? इसका उत्तर वेद मंत्र देता है कि केवल विद्वान् और परमज्ञानी पुरुष ही काल के ऊपर सवार हो सकते हैं। जो विद्वान् नहीं हैं वह तो इस रथ के पहियों से कुचल डाले जाते हैं। या इन्हीं पहियों के साथ घसिटते रहते हैं। समय उनको जिधर बहा ले जाता है उधर ही बह जाते हैं। वे उस कूड़ा करकट के समान हैं जिनको नदी का प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटक देता है। तैराक पुरुष नदी के साथ बहने के लिये नहीं बनाया गया। वह नदी के वेग का मुक़ाबिला करने के लिये बना है! वह नदी के वेग को रोक कर उसके विरुद्ध चलता और नदी की गति को विफल कर देता है। इसी प्रकार विद्वान् पुरुष संसार की गति को बदल देता है। वह इतने प्रबल और तीव्रगामी काल से भी ऊपर है। काल उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। काल रूपी रथ वस्तुतः इन्हीं विद्वानों के चढ़ने के लिये हैं। विद्वान् और ज्ञानी पुरुष काल से प्रभावित नहीं होते किन्तु काल को अपने वश में करके अपनी इच्छा के अनुसार उससे कार्य्य लेते हैं।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

[२]

राम मोहन राय सन् १८३० ई० में इङ्गलैण्ड चले गये और वहीं १८३३ ई० में उनका देहान्त हो गया। ब्रह्म समाज उनके पीछे भी चलता रहा। परन्तु इस की चाल भिन्न भिन्न थी। कभी तेज़ी से चलता था कभी सुस्ती से। बंगाल की जनता ने इसका विरोध ही किया क्योंकि पुरानी लकीर के फ़कीर ब्राह्मण मूर्ति पूजा को छोड़ना नहीं चाहते थे। कुलीनों को बहु विवाह द्वारा धन कमाने और मौज उड़ाने की आदत पड़ गई थी। अतः उनके लिये ब्रह्म समाज में प्रवेश करना बड़ा कठिन था। परन्तु कुछ पढ़े लिखे मनुष्य अवश्य ब्रह्म समाज में प्रविष्ट हो जाते थे। कुछ दिनों पश्चात महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर इसके प्रधान आचार्य थे।

परन्तु ब्रह्म समाज एक संकट की अवस्था में था। उसका मार्ग एक तङ्ग वाटिका थी जिसकी एक ओर बहुत ऊंचा पहाड़ और दूसरी ओर बहुत गहरी खाई थी। पण्डित वर्ग तुले हुये थे कि राजा राममोहन राय के काम पर पानी फेर दें। परन्तु उस समय बङ्गाल की शिक्षित जनता के विचारों में घोर परिवर्त्तन हो रहा था। अंगरेज़ी शिक्षा बढ़ रही थी डैरोज़ियो (Derozio) और डैविड हैर (David Hare) जो छात्र वर्ग के गुरु समझे जाते थे उनको घोर नास्तिकता और अनाचार की शिक्षा दे रहे थे। इन्होंने सदाचार की जड़ों को मट्ठा पिला दिया था। हिन्दू छात्र माता पिता का विरोध करना, मद्य पीना, गोमांस खाना अपना परम कर्तव्य समझने लगे थे। ब्रह्म समाज में वेद, उपनिषद आदि का अध्ययन बन्द था। जो लोग स्वतंत्र विचार के थे और पुराने पण्डितों की कुप्रथाओं को बुरा समझते थे वे वैदिक-साहित्य को न पढ़ने के कारण उससे भी अपनी जान छुड़ाना चाहते थे। ब्रह्म-समाजियों से मूर्ति पूजा छूटी नहीं थी। वे केवल साप्ताहिक सत्संगों में वैदिक प्रार्थनाओं में सम्मिलित हो जाते थे परन्तु उनके घरों में मूर्ति-पूजा यथा पूर्व होती थी। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर मूर्ति पूजा नहीं करते थे। परन्तु दुर्गा पूजा के दिनों में घर छोड़ कर यात्रार्थ चले जाते थे।

केवल इन्हीं के परिश्रम से ब्रह्म समाज का प्रातः काल का दीपक टिम टिमा रहा था। उन्होंने बहुत कोशिश की परन्तु अधिक सफलता नहीं हुई।

ऐसे समय कलकत्ते में बाबू केशव-चन्द्र सेन का प्रादुर्भाव हुआ। यह बड़े तार्किक, तीक्ष्ण बुद्धि और विद्वान् युवक थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने इस युवक को देखा और तुरन्त ही ताड़ गये कि यह होनहार पुरुष ब्रह्म समाज के लिये उपयोगी होगा। केशव बाबू १८५७ ई० में ब्रह्म समाज में सम्मिलित हो गये और प्रवेश पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

केशव के आते ही ब्रह्म समाज में जान सी पड़ गई, मानो किसी ने टिम-टिमाते दीपक में तेल दे दिया या सूखी वनस्पति के लिये वर्षा आ गई। केशव बाबू का बंगाली युवकों पर बड़ा प्रभाव था। वह उच्च वक्ता थे, वह नाटक भी अच्छा खेलते थे। वह ईश प्रार्थना से बड़ा प्रेम रखते थे। उन्होंने बहुत से छोटे बड़े क्लब खोले थे। ब्रह्म समाज में आकर उन्होंने उसको संगठित करना आरम्भ किया। उनका घर धनाढ्य था परन्तु वे लोग नये विचारों से घृणा करते थे। सब से पहले घर वालों से समुद्र यात्रा पर विरोध हुआ और वे महर्षि जी के साथ लङ्का चले गये। उन्होंने अपनी स्त्री को ब्रह्म समाज में लाना चाहा। सब घर वाले विरोध करने लगे। केशव बाबू पुलिस में रिपोर्ट करने पर उतारू हो गये और अपनी स्त्री को टागौर महाशय के घर ले आये। टागौर का परिवार मुसल्मानी समय से वहिष्कृत समझा जाता था क्योंकि उनके किसी पूर्वज ने किसी बादशाह की रकाबी का मांस सूंघ लिया था। यह बात केशव के घर वालों के लिये असह्य थी। उन्होंने तुरन्त ही इनको लिख भेजा कि आज से तुम को घर में लौटने की आज्ञा नहीं। केशवचन्द्र सेन इन सब कठि-नाइयों का वीरता से सामना करते रहे। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर के परामर्श से केशवचन्द्र सेन को ब्रह्म समाज का मिनिस्टर या आचार्य बना दिया गया और महर्षि जी प्रधान आचार्य कह-लाते थे।

परन्तु महर्षि देवेन्द्र नाथ और केशव चन्द्र सेन के विचारों में बहुत भेद था। हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि राम मोहन राय वेदों और वैदिक संस्कृति के पक्षपाती थे। वह सुधार भी चाहते थे तो वैदिक संस्कृति को स्थापित रखते हुये। केशव बाबू नई रोशनी के प्रतिनिधि थे। युवक समाज पुरानी प्रथाओं को अत्यावश्यक ही नहीं किन्तु हानिकारक समझता था। महर्षि जी में राजा राम मोहन राय की सी मौलिकता और दृढ़ता न थी। उन्होंने १८५० ई० में ही परिस्थिति से मजबूर

होकर वेदों के स्वतः प्रमाण मानने का नियम शिथिल कर दिया था। केशव बाबू ने एक संगत सभा खोली थी। इस ने जब यज्ञोपवीत की प्रथा को ढौंग बताया तो महर्षि देवेन्द्र नाथ ने अपना जनेऊ उतार दिया और केशव चन्द्र सेन के नीचे जो दो आचार्य नियत किये गये वे भी उपवीत धारी न थे। यह सब देवेन्द्र बाबू ने केशव बाबू से विरोध न हो इसी लिये किया था यद्यपि वे स्वयं तो बहुत कुछ वेदों के पक्षपाती थे। एक कठिनाई थी। देवेन्द्र बाबू सामाजिक सुधार में बहुत पीछे थे। पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह की प्रथा को वैदिक सिद्ध कर दिया था और बड़े परिश्रम से वह विधवा विवाह का कानून भी १८५६ ई० में पास करा चुके थे परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको विहित नहीं समझते थे और अन्तर्जातीय विवाह के भी विरुद्ध थे। ब्रह्म समाजियों में पहला अन्तर्जातीय बिवाह १८६२ ई० में हुआ था और केशव बाबू तथा उनके साथियों में इस विषय में उत्साह था परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस प्रकार यद्यपि देवेन्द्र और केशव में वैदिक मैत्री थी तथापि ब्रह्म समाज का काम दो भिन्न भिन्न प्रकृतियों और मंतव्यों के महारथियों में बंटा हुआ था।

केशब बाबू पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक था। वे बहुत आगे बढ़ना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में उपज भी बहुत थी। वह धुन के भी बड़े पक्के थे। वह नित्य नये प्रोग्राम सोचा करते थे। देवेन्द्र नाथ जी के मित्रों ने उनको चुपके चेतावनी भी दी थी कि इस युवक से सावधान रहना, कहीं वह संस्था को भी हाथ से न निकाल ले जाय। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर ने पहले छः वर्ष तक उनकी हां में हाँ मिलाई और भरसक यत्न किया कि केशव बाबू का उत्साह ब्रह्म समाज के हित के ही लिये व्यय हो। परन्तु अन्त में उनका माथा भी ठनका! देवेन्द्र नाथ एक आदर्श हिन्दू समाज स्थापित करना चाहते थे। और ब्रह्म समाज में उपनिषदों के प्राचीन धर्म को प्रविष्ट करना चाहते थे। बाबू केशव चन्द्र सेन के विचार परिपक्व नहीं थे। उनका मन इतना तीव्रगामी था कि उनको एक विचार पर स्थित रखना कठिन था। उनका कोई स्थायी प्रोग्राम ही नहीं था। एक बात थी। ब्रह्म समाज ने आरम्भ से ही जाति-पांति भेद का खण्डन किया था परन्तु अब तक ब्रह्म समाज की वेदी पर केवल ब्राह्मण ही चढ़ सकते थे। केशव बाबू अब्राह्मण थे परन्तु इसके साथ ही वह ब्राह्मणों का केवल उनकी जाति या जन्म के कारण आदर नहीं करते थे। केशव बाबू ने बहुत से ब्राह्मण मित्रों के जनेऊ तुड़वा डाले थे।

देवेन्द्र नाथ को बुरा लगा। उन्होंने सोच लिया कि अब आगे चुप रहना पाप है। एक अवसर भी प्राप्त हो गया। ब्रह्म समाज का मन्दिर गिर पड़ा और साप्ताहिक संग महर्षि देवेन्द्रनाथ के मकान पर होने वाला था। नौम्बर १८६६ ई० का बुधवार था। महर्षि ने पहले दो उपाचार्यों को जो जनेऊ न तोड़ने के कारण पहले उपाचार्य पद से च्युत कर दिये गये थे वेदी पर चढ़ा दिया। केशव बाबू ने विरोध किया। महर्षि ने कहा कि "यह मेरा घर है मैं जैसा चाहूँगा करूँगा", केशव बाबू ने कहा "कि घर अवश्य है पर इस समय तो ब्रह्म समाज का सत्संग हो रहा है। आपका घर एक प्रकार का समाज मन्दिर ही है।"

यह युक्तियां तो ऊपरी थीं। मनमें पहले से ही मैल आ चुका था। बस केशव बाबू अपने मित्रों सहित अलग होगये। और उन्होंने "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" (The Brahma Samaj of India) नाम की एक नई संस्था खोल ली। पहले ब्रह्म समाज का नाम अब आदि ब्रह्म समाज होगया।

इस प्रकार केशव बाबू स्वतंत्र हो गये और प्राणपन से अपनी नई संस्था की उन्नति में दत्तचित्त हुये। इसके सिद्धान्त गुरु गोविन्द राय ने संस्कृत में लेखबद्ध किये जिसका अनुवाद यह है:—"वृहत् संसार ईश्वर का मन्दिर है। बुद्धि पवित्र तीर्थस्थान है। सत्य ही नित्य वेद है। श्रद्धा धर्म का मूल है। प्रेम सच्ची आत्मिक शिक्षा है स्वार्थ का नाम सच्चा सन्यास है, ब्रह्म समाज ऐसा मानता है।" भारतवर्षीय ब्रह्म समाज के इन सिद्धान्तों और राजाराम मोहन राय की स्थापित आदि ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर था। आदि ब्रह्म समाज वेद और वैदिक संस्कृति का उद्धारक था। केशव बाबू के ब्रह्म समाज के सिद्धान्त वस्तुतः कोई सिद्धान्त न थे। सभी धर्म इतनी बातें तो मानते ही हैं। इन सिद्धान्तों के शब्द बड़े रोचक हैं और ऊपरी दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि किसी संस्था के लिये इनसे उपयोगी सिद्धान्त हो ही नहीं सकते। परन्तु आजतक कोई संस्था केवल इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर आगे नहीं चल सकी। यदि हम न्याय की भाषा में कहें तो इन सिद्धान्तों में अतिव्याप्ति दोष है। कौन सा धर्म अथवा कौन सी संस्था है जो इस प्रकार के सिद्धान्तों के मानने से इनकार करे। परन्तु भेदक चिह्न न होने के कारण समाज के सभासदों के सामने कोई ऐसा लक्ष्य नहीं रह जाता जिस तक वह आगे चल सके। कथन मात्र के लिये तो यह ठीक है कि ऐसे विस्तृत नियम बनाकर केशव बाबू ने अपने समाज को सर्व-

प्रिय बना लिया। वेद को मानना, यज्ञोपवीत पहनना आदि आदि बाधायें दूर हो गईं। उनके धर्म का द्वार ईसाई, मुसलमान हिन्दू आदि सब के लिये खुल गया। आरंभ में इस समाज को वह सर्व प्रियता प्राप्त हुई कि देवेन्द्र बाबू भी दांत तले उँगली दबाते रह गये। उनको अपेक्षतः अपना समाज छोटा प्रतीत होने लगा। उसके गिने चुने सभासद रह गये। परन्तु उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस छोटे समाज को राजा राममोहन राय के प्रदर्शित मार्ग पर चलाया जायगा!

केशव बाबू के साथियों ने जो पुरानी संगतसभा के युवक सदस्य थे एक प्रचारक मंडल बनाना चाहा। उन्होंने आत्म-त्याग का प्रण किया। उन्होंने धन कमाने के व्यवसाय छोड़ दिये। हर एक सभा के दान पात्र से प्रति दिन कुछ पैसे निकाल लेता और उसी से निर्वाह करता। आरम्भ में यह लोग सात-आठ थे अब चौबीस-पच्चीस हो गए। यह सब ऐसे धुन के थे कि दिन भर स्वाध्याय और प्रार्थना तथा धार्मिक कार्यों में लगे रहते थे। एक को फ़ेफ़ड़े का रोग भी था और उसके पास पहनने को कपड़े तक न थे। परन्तु आत्मिक-उन्नति की धुन में शारीरिक कष्टों की कोई परवाह नहीं करता था। उनका सिद्धान्त था कि "कल की परवाह मत करो।" ऐसा आत्म-त्याग चाहे उसके सिद्धान्त कैसे भी हों संसार को आकर्षित किए बिना नहीं रह सकता।

परन्तु आत्म-त्याग और अथाह उत्साह के साथ ही मर्यादित कार्य-क्रम (Definite programme) भी चाहिए। यदि कोई आचार्य अपने शिष्यों से कह दे कि "संसार तुम्हारा लक्ष्य है। चारों ओर मार्ग बने हुए हैं। जिधर चाहो दौड़ चलो।" तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होने का। केशव बाबू के इस नए समाज की यही अवस्था थी। इसका अनुभव उनके अनुयायियों को तो न हुआ परन्तु वह स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे। उनको देवेन्द्र बाबू जैसे अनुभवी और बुद्धिमान पुरुष के परामर्श का अभाव पीड़ा देने लगा। परन्तु अब हो भी क्या सकता था। अब वह कलकत्ते से कुछ दूर पर अपने एक पैतृक बाग़ में एकान्त सेवन करने लगे। यकायक उनके मन में स्फूर्ति हुई और उन्होंने मार्च १८६६ ई० में कलकत्ता मैडिकल-कालेज-थिएटर में "ईसा-मसीह, यूरोप और एशिया" (Jesus Christ, Europe and Asia) विषय पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दे डाला। इसके कुछ वाक्य उद्धरण करना अत्यावश्यक है:—

(1) Christ's influence, but small rivulet at first, increased in depth and breadth as it rolled along, and swept away

in its irresistible tide the impregnable strong holds of error and superstition, and the accumulated corruptions of centuries.

"ईसा मसीह का प्रभाव आरम्भ में एक छोटा सा नाला था जो आगे चलकर अधिक चौड़ा और गहरा होता गया और अपने तीव्र बहाव के साथ असत्यता और मिथ्या-विचारों के दुर्जेय क़िलों तथा शताब्दियों से इकट्ठे हुए कूरे करकट को बहा ले गया।"

(2) "Sent by providence to reform and regenerate mankind he received from Providence power and wisdom for that great work."

"ईश्वर ने उसको मनुष्य जाति के सुधार और पुनर्जीवित करने के लिए भेजा था। इसलिए ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी।"

(3) "His tenderness and humility, lamb-like meakness and sympathy, his heart full of mercy and forgiving kindness."

"उसकी कोमलता और विनम्रता, मैमने के समान दीनता और सहानुभूति, उसकी दया और क्षमा से परिपूर्ण हृदय"।

(4) "His firm, resolute, unyielding adherence to truth."

"उसकी सचाई के प्रति दृढ़, अटल, और निश्चल लग्न।"

(5) "Verily, Jesus was above ordinary humanity."

"सचमुच ईसा मसीह साधारण मनुष्य-जाति से उच्च था।"

(6) "Was not Jesus an Asiatic ? I rejoice, yea, I am proud in that I am an Asiatic. In fact christianity was founded & developed by Asiatics in Asia. When I reflect on this, my love for Jesus, becomes a hundredfold intensified. I feel him nearer my heart, and deeper in my national sympathies."

"क्या ईसा मसीह एशिया का नहीं था। मुझे हर्ष है, नहीं नहीं, अभिमान है कि मैं एशिया का हूं। वस्तुतः ईसाई धर्म को एशिया वालों ने एशिया में स्थापित और उन्नत किया! जब मैं यह विचार करता हूं तो ईसामसीह के लिये मेरा प्रेम सौ गुना हो जाता है। मैं उसको अपने हृदय के अधिक निकट और अपनी जातीय प्रीतियों की गहराई में अनुभव करता हूं।"

इस व्याख्या से केशव चन्द्रसेन की ख्याति बहुत बढ़ गई। उन्होंने ईसाई

धर्म के प्रति भारतवासियों को जो घृणा थी उसको कम कर दिया। उनके ईसाई दोस्त तो समझने लगे कि अब क़िला उनके हाथ में है। परन्तु आदि-ब्रह्म-समाज वालों ने अपने को केशव-बहिष्कार पर बधाई दी। उन्होंने समझा कि केशव का निकलना अच्छा ही हुआ, न जाने वह ब्रह्मसमाज को किस रसातल तक ले जाता। लोगों ने समझा कि अब केशव बाबू ईसाई हुआ चाहते हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के जज मास्टर नार्मन (Mr. Norman) ने उस व्याख्यान की एक कापी तत्कालीन वायसराय लार्ड लरेंस को दी। उन्होंने इसको ऐसा प्रसन्न किया कि तुरन्त ही केशव बा० को चिट्ठी लिखी और अवकाश मिलने पर भेंट की इच्छा प्रकट की।

परन्तु केशव बाबू चिन्ता में पड़ गये। उनमें भावुकता बहुत थी। उनकी बुद्धि की तेज़ी उनके क़ाबू से बाहर थी। यह व्याख्यान उसी का परिणाम था। वह ईसाई होना नहीं चाहते थे। वह कहने लगे कि जनता में मेरे विषय में भ्रम हो गया। इसमें जनता का इतना दोष नहीं था। वस्तुतः यह उनका ही दोष था। इस भ्रम को दूर करने के लिये उन्होंने कलकत्ते के टौन हाल में "महापुरुष" (Great men) विषय पर एक और व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने पैगम्बरों, त्रैतवाद, ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान पर अपने विचित्र विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा कि ईश्वर मनुष्य जाति के प्रति तीन प्रकार से अपना प्रकाश करता है (१) एक तो सृष्टि द्वारा, "Behold the supreme Creator & Ruler of the Universe immanent in matter." "जगत् के महान कर्त्ता और शासक का सृष्टि में व्यापक देख।" (२) दूसरा इतिहास द्वारा "There is anther revelation; there is God in History. He who created and upholds this vast universe also governs the destinies and affairs of nations." "एक दूसरा प्रकाश है अर्थात् इतिहास में व्यापक ईश्वर! जिसने इस विस्तृत जगत् को उत्पन्न और धारण किया वही जातियों के भाग्य तथा कार्य्यों का भी शासक है।"

(३) आत्मा द्वारा। "The highest revelation is inspiration where spirit communes with spirit, face to face, without any mediation whatever." "सब से उच्च ईश्वर का प्रकाश आत्मा में होता जब आत्मा परमात्मा को साक्षात् करता है और उन दोनों के बीच में कोई दूसरा साधक या शफ़ीय या बिचैलिया नहीं होता।"

केशव बाबू ने कहा कि यही महापुरुष हैं जो ईश्वर का साक्षात् करते हैं।

वे मनुष्य होते हुये भी देव होते हैं। यह व्याख्यान दिया तो गया था भ्रम दूर करने के लिये। परन्तु हुआ उलटा ही परिणाम। ईसाइयों ने कहना आरंभ कर दिया कि केशव बाबू हिन्दुओं से डर गये। इसी लिये जो कुछ ईसा के विषय में कहा था वह दूसरे महापुरुषों के विषय में भी कह डाला। अब ईसाकी विशेषता ही क्या रही। एक प्रकार से यह बात थी भी ठीक। यदि केशव बाबू पहले "महापुरुषों" पर व्याख्यान देकर तब "ईसा" पर देते तो लोगों को भ्रम का अवसर न मिलता। मेरी समझ में केशव बाबू जितने चमत्कार-मय (illustrious) पुरुष थे उतने महापुरुष (Greatman) नहीं। उनके मौलिक विचार तो कुछ थे नहीं, उन्होंने कोई संग्राम देश या मनुष्य जाति के सामने नहीं रक्खा। उनमें श्रद्धा और भक्ति बहुत थी। जब उसमें उबाल आता था तो स्वयं वह भी उसको रोक नहीं सकते थे। उन्होंने प्रोफेसर सीली (Prof. Seely) की एक पुस्तक "महापुरुष" (Ecce Hom) पढ़ी थी। उसको पढ़कर ईसा के भक्त हो गये थे और वह व्याख्यान दे डाला था। पीछे से उस पर उन्होंने अपने निज विचार भी जोड़ लिये।

अब केशव बाबू ने पूर्वी बङ्गाल में पर्यटन करके प्रचार करना आरंभ किया। उनके व्याख्यानों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। पुराने लोग डर गये। उन्होंने लोगों को ब्रह्मसमाज से बचाने के लिये हरि सभा, धर्म सभा तथा आर्य्य सभायें खोलना आरंभ किया। केशव बाबू ने ऐसे जोश और आत्म-त्याग से प्रचार किया कि वह बीमार हो गये। और बहुत दिनों तक उनके मस्तिष्क की अवस्था विचलित रही। इस समय उनको कोई परामर्श देने वाला न था। उनका ईश्वर पर अटल विश्वास था। उनको कुछ कुछ यह भी प्रतीत होने लगा था कि ईश्वर उनको आदेश किया करता है और उनको दिव्य स्फूर्ति हुआ करती है। इसी समय अर्थात् १८६७ ई० में उनकी अचानक "चैतन्य महाप्रभु" पर अत्यन्त भक्ति होगई। अब क्या था ब्रह्म समाज की प्रार्थना वैष्णव रंग में रंग गई। "ब्रह्म संकीर्तन" होने लगा। केशव बाबू नंगे पैरों मीलों संकीर्तन के साथ फिरते और करताल आदि बजाते। इस प्रकार भारतीय ब्रह्म समाज की प्रार्थना में ईसाई प्रार्थनाओं और वैष्णव-प्रार्थनाओं का मिक्स्चर (मिश्रण) रूप थीं।

(क्रमशः)

मांस-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

[राजरत्न मास्टर आत्मा राम जी, बड़ौदा]

प्रश्न

आदि वैदिक काल में आदि आर्य्य लोग मांस भक्षी थे। पीछे जाकर आर्य्य जाति ने जैन मतवालों से मांस का त्याग सीखा।

उत्तर

आप और हम दोनों बाजार से एक पुस्तक मोल लेने चलें जो वायुयान संबंधी हो, जिसमें विमान बनाने की पूर्ण विधि अङ्गरेजी में लिखी हो। इस पुस्तक को पढ़ लेने के पीछे क्या मैं या आप विमान बनाकर फौरन ही उसमें लोगों को बिठाने का निमंत्रण दे सकेंगे या नहीं। मैं और आप दोनों कहेंगे कि नहीं। कारण कि विमान बनाने के लिये हमें व्यावहारिक प्रयोग करने के लिये बैठना होगा और कई वर्षों के प्रयोग के पीछे हम विमान बनाने में सफल हो सकते हैं। यह एक दृष्टान्त है।

दूसरा दृष्टान्त एक और लीजिये। मैं या आप अपनी माताओं को ५० वर्ष से रोटी आदि बनाते देखते हैं और एक पुस्तक भी मौजूद है जिसमें आटा गूंधने रोटी सेकने और परौंठे बनाने आदि की पूरी विधि लिखी है। क्या मैं या आप परौंठे वा खाने योग्य रोटी पहिले दिन ही वैसी उत्तम बना सकेंगे जैसी कि हमारी दोनों की माताएं बनाती हैं? मैं और आप दोनों कहेंगे कि नहीं। हमको उत्तम रोटी आदि बनाने के लिये कई मास तक बनाने का अभ्यास करना होगा। और इस अभ्यास में हमें मानना होगा। कि "Man errs because he learns" बच्चा गिरे बिना चलता नहीं।

इन दृष्टान्तों के साथ आओ अब हम कल्पना करें कि वेद में "सब प्रकार के भोजन" खाने के मंत्र हैं जैसे कि वादी का पूर्व पक्ष है अर्थात् (१) मांस खाने और (२) फल अन्न खाने के भी। ऊपर के सच्चे दृष्टान्तों से यह तो हम जान गये हैं कि कि यदि कोई मनुष्य वैदिक आदि-काल में वेदमंत्र सुनकर मांस पकाकर खाना चाहे तो उसको कई वर्ष उसके अभ्यास में लगाने चाहियें। सबसे प्रथम इस आदिम मनुष्य को लोहा कान से खोद कर लाना होगा। फिर उस लोहे को आग में डाल कर शुद्ध और पिघलाकर उसकी छुरी बनाने का काम करना होगा। छुरी बना कर उसको पशुओं के पीछे भागना होगा और कई मास के भागने पर वह पकड़ने में सफल होगा। फिर उस जङ्गली बकरे को जो यह पकड़ कर लाया है अपनी छुरी से अपने हाथों वध करना होगा और वध करते समय अन्दर से अन्तर्यामी

ईश्वर की प्रेरणा इस के मनमें निस्सन्देह भय शंका और लज्जा उत्पन्न किये विना नहीं रहेगी। बहुत संभव है कि वह इस भय शंका उत्पादक प्रेरणा के कारण बकरे को विना मारे ही छोड़दे और यह भी संभव है कि कड़ा मन करके आत्मघाती वा क्रूर मनुष्य के समान वध करने के लिये उसकी गरदन दबाकर बैठ ही जावे। अब यह छुरी चलाने लगा है उधर बकरे ने करुणा-जनक रुदन करना या चीखना व तड़पना आरंभ कर दिया है। पहली वार मारने का संकल्प करने पर भय शंका इसके मन में हुई थी अब बकरे की चीखों से मन में जरूर पुनः भय शंका लज्जा हो रही है। दुबारा आत्मघाती बनने पर चलो इस आदिम मनुष्य ने बकरा मार डाला। अब वह उसकी खाल उतारने लगा है—मरे हुए पशु के मांस आदि की दुर्गंध उसकी नई नाक को निस्सन्देह बुरी लगती है—हड्डी पसली आदि का दृश्य भी अति भयंकर वा अप्रिय है ही। सब कुछ सहकर अब यह मांस को विना नमक और विना घी वा तैल के पकाता है। यह मांस इस आदिम मनुष्य के गले के नीचे नहीं उतरता। कै पर कै करता है। कुछ देर ठहर कर फिर नया हठ पकड़ता है और कै बन्द करने के लिये नमक, जीरा, हलदी, घी वा तेल डाल कर पकाता है। अब इसको कै नहीं आती और आदिम मनुष्य मांस खा रहा है। इस कहानी से हम अनुमान कर सकते हैं कि आदिम मनुष्य को चाकू वा छुरी बनाने, बकरा पकड़ने, उसके मारने, उसके मांस को पकाकर खाने तक की दशा में पहुंचने के लिये कम से कम दश वर्ष चाहिये।

अब आदि वैदिक काल का दूसरा मनुष्य है जो मांस नहीं खावेगा किन्तु फल मेवा और अनाज। जिस जगह यह मनुष्य पैदा हुआ उसी जगह पर इसके सामने फलों, मेवों वा अनाजों के वृक्ष खड़े हैं। केला, सेब, नारंगी अमरूद नारियल, खजूर, बादाम, आम, द्राक्ष चने और गेहूं आदि सब हैं। इनके सुन्दर रूप इनकी उत्तम सुगंधि इसको खाने की शुभ प्रेरणा करती है। इन फलों वा अनाजों को खाने के लिये आदिम मनुष्य के दांत बनमानस बन्दरों के समान खूब ही मजबूत हैं। जन्म के साथ ही एक दिन में यह आदिम मनुष्य फल अन्न का आहार कर सकता है। इसको दस वर्ष नहीं चाहियें। इस लिये वैदिक वा सृष्टि के आदि काल में निस्सन्देह मनुष्य फलाहारी था न कि मांस-भक्षी।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् डा० अविनाशचन्द्र दास M. A. Ph. D. ने Rigved Culture नामी अङ्गरेजी में पुस्तक लिखी है। इस के पढ़ने में पता लग जावेगा कि आदिम मनुष्य वैदिक

काल का फलाहारी था मांसभक्षी नहीं।

ईसाई तथा मुसलमानी मतों की धर्मपुस्तकों में वर्णन है कि हज़रत आदम बाग़े अदन में रखे गये यह सत्य बात भी हमारे कथन की पुष्टि करती है। हमारे प्रश्न करने वाले आर्य्य इतिहास को भी मानते हैं—इस लिये महाभारत के आदि पर्व में वह देखलें कि आदि मनुष्य समाज को उक्त ग्रन्थ ने ब्राह्मण वर्णी लिखा है। और ब्राह्मण वर्णी लोग सात्विक होते हैं और मांस आदि नहीं खाते।

अतः प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का उत्तर अब आ गया कि वैदिक आदिकाल में वैदिक धर्मी फलाहारी थे मांसभक्षी नहीं और जैनमत ने यदि वाममार्ग दूर करने के लिये फलाहारी बनाने का उपदेश किया तो पुरानी वेद की बात का पुनः प्रचार किया।

अब एक मत से यूरोप और अमरीका के सब डाक्टर फल तथा अन्न को मनुष्य का Natural Food कह रहे हैं। यह भी वैदिक धर्म की जय नहीं तो क्या है? इति
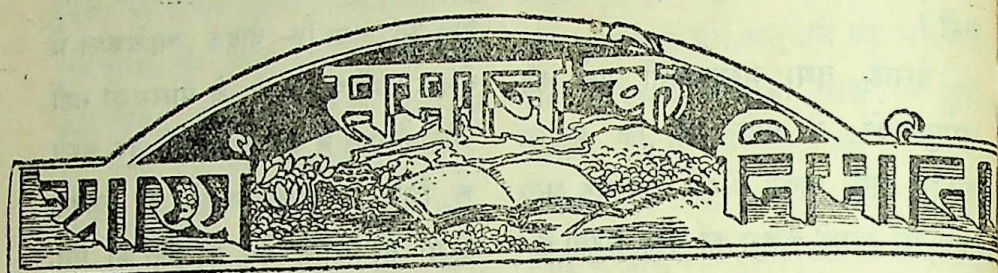
श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

(गतांक से आगे)

यह वाणप्रस्थ नाम का न था। मुन्शी जी वास्तविक प्राचीन काल के "बनी" की भांति रहना चाहते थे। घोषणा करदीगई थी कि कुछ काल के लिये किसी उत्सव में सम्मिलित न होंगे किसी से विशेष पत्र-व्यवहार न करेंगे। केवल आत्मोन्नति में संलग्न रहेंगे। और रहेंगे कहां ? आजकल बन कहां ? नियत समय से पूर्व ही मुन्शीजी ने हिमालय पर्वत के परिचित स्थान छान मारे थे। ऋषिकेष, लछमन झूला आदि कोई स्थान अनुकूल और शान्तिप्रद प्रतीत न हुआ। अल्मोड़े के निकटवर्त्ती स्थान भी देखे गये। अन्त को काठ गोदाम और अल्मोड़े की पुरानी सड़क के बीच में तल्ली रामगड़ से २॥ मील नीचे रामगाढ़ी नदी के तीर एक स्थान पसन्द आया। यहाँ से पहाड़ी गांव रामगढ़ नायकावा कुछ दूर पर है और थोड़ी थोड़ी दूर पर पहाड़ी लोगों के गांव भी वृक्षों के घोंसलों के समान इधर उधर लटकते दिखाई पड़ते हैं। यही जङ्गल था। इसी को थोड़ा सा साफ़ करके कुटिया बना ली और रहने लगे।

यहां मुन्शीजी शीतकाल में भी रहे। कोशिश यह थी कि सब प्रकार की ऋतुओं का सहन कर सके, वाणप्रस्थ आश्रम वस्तुतः सन्यास के लिये तैय्यारी है। मुंशी जी इसी तैय्यारी में लगे हुये थे। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक निर्बलताओं को दूर किये विना कोई सन्यासी नहीं बन सकता। रहे गेरुये कपड़े। यह तो इस युग में आवश्यकता से अधिक बदनाम हो चुके हैं। दो वर्ष तक योगाभ्यास, तप और स्वाध्याय करते रहे। तत्पश्चात् सन्यास लेकर महात्मा नारायण स्वामी के नाम से विभूषित हुये।

पहाड़ों में वैदिक प्रचार का नाम तक नहीं है। परन्तु जब से स्वामीजी रामगढ़ में पधारे हैं उनके प्रकाश की किरणें

अनायास ही पड़ोस को प्रकाशित कर रही हैं। उनके अस्तित्व का ठप्पा पत्थरों के टुकड़े टुकड़े पर है। आस पास कोसों तक पढ़े और बेपढ़े सभी प्रभावित हैं, कुटी से एक फर्लांग की दूरी पर एक छोटा सा सुन्दर आर्य समाज का मन्दिर है। मैं इस को देखकर चकित हो गया। मैंने मंत्री से पूछा, "आप ने तो बहुत सुन्दर मन्दिर बना लिया"। वह कहने लगे, "इसमें आश्चर्य ही क्या? क्या आप नहीं जानते कि यहां आर्य्य समाज के उच्चतम पदाधिकारी निवास करते हैं।" मैं टहलने निकलता हूँ तो छोटे छोटे अपरिचित बच्चे बड़े प्रेम से नमस्ते करते हैं। आस पास के लोग आर्य्य समाज को अच्छा समझने लगे हैं। यह सब स्वामीजी के ही प्रभाव का फल है।

स्वामीजी की कुटी जिसका नाम "नारायण आश्रम" है एक छोटी सी स्वच्छ कुटी है। इसमें वेद शास्त्र तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी उपयोगी और दुष्प्राप्य दो सहस्र के लगभग पुस्तकें हैं। इतनी बड़ी प्राइवेट लाइब्रेरी समाज में शायद ही हो और आर्य्यसमाजों के पुस्तकालयों में भी इससे आधी भी पुस्तकें नहीं मिलतीं। कुटि के आस पास स्वामीजी ने अपने हाथों बाग लगाया है। जब स्वामीजी आश्रम में विश्राम करने के लिये आते हैं। तो नित्य घण्टे दो घण्टे बाग को देखते हैं। यह कुटी कैसे भयानक स्थान में है इसके दो उदाहरण दिये जाते हैं। एक बार स्वामी जी कुछ खाना पकाकर कुटी के नीचे के भाग से ऊपर के भाग में लारहे थे। आने के लिये केवल छोटी सीढ़ियाँ हैं। जिनमें खड़े होने भर को जगह है। स्वामी जी द्वार पर पहुंचे तो देखते क्या हैं कि जंगली रीछ भीतर बैठा है। यदि वह आक्रमण करता तो बचना कठिन था। पीछे लौटने को स्थान न था। स्वामी जी भीतर ही बढ़ते गये और रीछ खिड़की में होकर कूद गया। एक बार प्रातःकाल कुटी के निकट बघर्रा नदी में पानी पीने आगया। परन्तु अब जंगल कट जाने से भय कम होगया है। स्वामी जी को पैदल पहाड़ों पर चलने का अभ्यास है १७ या १८ मील के लिये टट्टू आदि करने की आवश्यकता नहीं होती। गुरुकुल में भी वृन्दावन से मथुरा पैदल चले जाया करते थे।

स्वामी जी को प्रबन्ध सम्बन्धी शक्ति भी विचित्र है। सन् १९२५ की फर्वरी में शिवरात्रि के दिन ऋषि दयानन्द की शताब्दी मनाई जाने वाली थी। तीन वर्ष पूर्व से समस्त भारतीय समाजों के प्रतिनिधियों का विचार हो रहा था। अन्त में दिल्ली की बैठक में निश्चय हुआ कि मथुरा में शताब्दी मनाई जाय। कार्य्यकारिणी सभा के प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। परन्तु कार्य्य कर्त्ता

प्रधान (acting president) महात्मा नारायण स्वामी बनाये गये। दूर रहने के कारण स्वामी श्रद्धानन्द जी अधिक सहायता न दे सके और कार्य्य का समस्त भार नारायण स्वामी जी के ऊपर आपड़ा। प्रबन्ध कई मास पूर्व से आरंभ हुआ। एक लाख नरनारियों के रहने और भिन्न २ समितियों के मण्डपों तथा बाजार आदि का प्रबन्ध करना था। स्वामी जी छोटी से छोटी बात पर स्वयं ध्यान देते थे। पत्र-व्यवहार स्वयं करते। और जब कार्य्य बढ़ गया तो कई महीनों तक निरन्तर बैठा रहना पड़ता था। प्रातःकाल एक गिलास दूध पीते थे और दिन भर कुछ नहीं खाते थे। उत्सव ऐसे समारोह से मनाया गया कि लोग दांत तले उंगली दाब गये। एक लाख के स्थान में तीन लाख लोग इकट्ठे हुये। परन्तु भेड़ चाल नाम को भी नहीं थी। प्रत्येक नरनारी समझता था कि हम एक सभ्य समाज के सभासद हैं। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्रबन्ध सब

यथोचित था। स्वामी श्रद्धानन्द जी को स्वयं इतनी सफलता की आशा न थी।

परन्तु शताब्दी के अधिक कार्य्य ने स्वामी जी को रोगी कर दिया। उनको अपेण्डीटाईसिस (Appenditicis) हो गई जिसका लखनऊ में आठ नौ मास पश्चात् आपरेशन कराना पड़ा। समस्त आर्य्य संसार को चिन्ता होगई। अन्त में ईश्वर ने चंगा कर दिया।

स्वामी जी को प्रचार का निरन्तर कार्य्य रहता है। समस्त उत्तरी भारत में तो वह दौड़ते ही रहते हैं परन्तु दक्षिण में भी कभी कभी जाना पड़ता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् उनको दिल्ली में रहने की अधिक आवश्यकता पड़ती है। सार्वदेशिक सभा का समस्त भार उनके कन्धों पर है। देश में आर्य्य समाज की कोई मुख्य संस्था न होगी जहां उनका हाथ न हो। फिर भी वह अपने सब काम इतने नियम-पूर्वक कर रहे हैं कि लोग देखकर चकित होजाते हैं।

शंका समाधान

[प्रेषक—श्री गंगाचन्द्र अग्रवाल, मिर्ज़ापुर]

शंका न० (३)

(३)—(अ)—क्या गीता—जिस पर इतनी टीकायें हैं जितनी सम्भवतः दूसरी किसी पुस्तक पर नहीं होंगी सर्वमान्य ग्रन्थ नहीं है।

(ब)—संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया।

—गीता, अध्याय १—श्लोक ४२

गीता के उपर्युक्त श्लोक में पिण्ड-दान और तर्पणादि क्रियाओं का स्पष्ट प्रतिपादन है।

श्री० राजाराम जी. प्रोफेसर, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, अपने गीता-भाष्य में इस श्लोक पर टीका करते हुये लिखते हैं "उदककर्म और पिण्डकर्म, जो मरे हुओं के लिये किया जाता है, उसी से यहाँ तात्पर्य है, जीवितों से नहीं है। पर यह आर्यसमाज का मन्तव्य नहीं। आर्यसमाज इसको वेद-विहित नहीं मानता।"

सर्वोपनिषदो गावोदोग्धा गोपाल नन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीता-मृतं महत्॥

इस प्रकार उपनिषदों का सार कहलाने वाली गीता के इस श्लोक का उल्लेख किस उपनिषद में और किस रूप में है? और यह अर्थ का अनर्थ कैसे हो गया?"

समाधान (३)

(अ) मेरे विचार से गीता सर्व मान्य ग्रन्थ नहीं है। किसी पुस्तक के ऊपर बहुत सी टीकायें होना यह तो प्रकट करता है कि यह पुस्तक अधिकतर मनुष्यों को प्रिय है, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उसमें कोई बात भी सिद्धान्त के विरुद्ध अथवा अमाननीय न हो।

(ब) मैं पं० राजाराम जी के कथन से सहमत हूं। कुछ आर्य्य सामाजिक विद्वान् उदककर्म से 'जल' और पिण्ड कर्म से 'भोजन' का अर्थ लेते हैं। वह कहते हैं कि जब कोई जीवित पितरों को भोजन और जल न देगा अर्थात् जब माता पिता की सेवा करने वाले न रहेंगे तो श्लोक में बताई हुई खराबियाँ हो जायंगी। इस में तो सन्देह नहीं कि 'पिण्ड' शब्द भोजन के लिये प्रयुक्त हुआ है (जैसे भर्तृहरि शतकों में) परन्तु फिर भी मुझे तो यही प्रतीत होता है कि गीता में कई स्थलों पर वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध बातें हैं।

'सर्वोपनिषदो गावो' इति श्लोक किसी प्रमाणिक ग्रन्थ का तो है नहीं। गीता की प्रशंसा में लिख दिया है।

शंका नं० (४)

(४) श्येनो नृचक्षा दिव्या सुपर्णः सहस्र पाच्छतयोनिर्व योधाः ।
सनो निपच्छाद् वसु यत् पराभृत मस्माकमस्तु पितृषुस्व धावत् ॥

अथर्ववेद ७-४१-२

उपर्युक्त वेद-मन्त्र में परमात्मा के विशेषणों में एक विशेषण "सुपर्ण" भी आया है, जिसका अर्थ है सुख पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालक ।

इस वेद-मन्त्र पर निम्न लिखित दो शङ्कायें हैं:—

(अ) यह वैदिक सिद्धान्त है कि जैसा कर्म हम पूर्व जन्म में कर आये हैं, वैसा फल इस जन्म में भोगते हैं । इसको कर्मफल कहते हैं । शारीरिक, आर्थिक, एवं मानसिक कष्ट पूर्व जन्म कृत कर्मों के परिणाम हैं ।

यदि प्रत्येक अवस्था में कर्म-फल का बिना विचार किये परमात्मा सुख पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालन करने लग जाय, तो कर्म-फल झूठा ठहरता है । इस लिए या तो 'कर्म-फल' का सिद्धान्त झूठा है, या वेद-वर्णित परमात्मा का यह विशेषण परमात्मा के लिए उपयुक्त नहीं है ।

(ब) इस वेद-वर्णित 'सुपर्णः' परमात्मा के विरुद्ध दुनियाँ में बहुसंख्यक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । बोल्शेविज्म' कम्युनिज्म' सोशलिज्म, आदि आदि विविध आधुनिक आन्दोलन क्या हैं ? ये इस बात के स्पष्ट द्योतक कि 'सुपर्णः' परमात्मा सुख पूर्वक उत्तम रीति से पालन नहीं करता, अन्यथा ग़रीबों की क्षुधा—ज्वाला से उत्पन्न इन आन्दोलनों की हस्ती ही शायद दुनियां में न होती । अतएव "सुपर्णः" विशेषण परमात्मा के लिए क्या नितान्त अनुपयुक्त नहीं है ?

समाधान नं० (४)

(अ) कर्म-फलवाद ईश्वर के "सुख-पूर्वक उत्तम रीति से पालक" का विरोधी नहीं । यदि ईश्वर उत्तम रीति से पालन न करता और जीवों को कर्म के अनुसार फल न देता तो पुण्य और पाप की कोई व्यवस्था भी न रहती । लोग पाप करते और सुख पा जाया करते । नतीजा यह होता कि पाप करने से उनका मन विकारी हो जाता और जिसको आप सुख कहते हैं वह 'भोग विलास' का रूप धारण कर लेता । व्यवस्था यह है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है । इससे जीव को जो दुख भी होता है वह उसीके सुख के लिये । क्योंकि दुख उसके आत्मा से पाप के संस्कारों को दूर करने के लिये है । यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो संसार में जो विविध प्रकार के कष्ट और यातनायें देखी जाती हैं वे सब जीवों की उन्नति में साधक होती हैं । और जब जीव उन्नत होंगे तो आवश्य ही अधिक सुख लाभ कर सकेंगे । एक

विषयी मनुष्य केवल विषय-सम्बन्धी स्थूल और निकृष्ट सुखका ही अनुभव कर सकता है। परन्तु यदि वह विषयी-पना छोड़दे तो उसका आत्मा इतना निर्मल हो जायगा कि वह उच्चकोटि के सुख को भी लाभ करसकेगा। यदि कोई अध्यापक अपने विद्यार्थियों को उनके कर्मों के अनुसार दण्ड देता है तो क्या आप यह न कहेंगे कि यह "सुखपूर्वक" और "उत्तम रीति से" पालन करता है? और यदि वह दण्ड देना बन्द करदे तो क्या किसी मात्रा में भी विद्यार्थियों के "सुख" और प्रबन्ध की "उत्तम रीति" में आधिक्य हो सकेगा?

(ब) जिन आन्दोलनों का आपने कथन किया हैं वह और अन्य सब ऐसे आन्दोलन प्रकट करते है कि मनुष्य मनुष्य के अत्याचारों का किस प्रकार विरोध करता है। आक्षेप करने वाले यह समझते हैं कि ईश्वर को सुप्रबन्धक उस समय कहते जब कोई किसी प्रकार का पाप न करता होता या मनुष्य को किसी पाप के निवारण के लिये प्रयत्न न करना पड़ता। अर्थात् या तो कोई पाप करने का इरादा भी न करता। या इरादा करते ही परमात्मा उसे ऐसा दण्ड देदेता कि वह पाप करने से तुरन्त ही रुकजाता। इससे शारीरिक पाप तो होते ही न। वाचिक और मानसिक पाप भी न होते।
वाचिक और मानसिक पाप भी न होते।
परन्तु प्रश्न यह है कि यदि यह सब कुछ होता तो क्या होता? कुछ न होता। जीव सब प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित हो जाते क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ ही यह है कि आप किसी काम को करने न करने और उलटा करने में समर्थ हों। यदि स्वतंत्रता छिन गई तो उन्नति क्या और किसकी। ऐसा प्रबन्ध तो सुप्रबन्ध नहीं कहा जसकता। फिर तो संसार कर्म क्षेत्र न होकर जेलखाना मात्र रहजाता?

अपने और दूसरों के पापों को छोड़ने छुड़ाने की प्रवृत्ति ही मनुष्य की उन्नति में साधक होती है। जहाँ ईश्वर ने सृष्टि में ऐसे नियम बनाये हैं जिनसे प्राणियों की उन्नति होती रहे वहाँ ईश्वर ने यह अवसर मनुष्य को दिया है कि वह अपनी और दूसरों की उन्नति में प्रयत्न-शील हो। इसलिये मनुष्य का स्वय प्रयत्नशील होना ईश्वर के प्रबन्ध में बाधक नहीं होता।

वैदिक राहु

[श्री पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी (गणित) बी० एस० सी० ऑनर्स (भौतिक) मेम्बर आव दि ईस्टीट्यूट आव ऐक्टुअरीज़ (लण्डन)]

इस लम्बी चौड़ी विवेचना से पाठकों को यह भली भाँति मालूम हो गया होगा कि 'राहु' और 'केतु' का कोई 'चेतन देव दैत्यादि' होना तो दूर रहा वे, वास्तविक 'भौतिकग्रह' भी नहीं हैं बल्कि गणितीय बिन्दुमात्र (Mathematical Points) हैं।

शायद कुछ लोग यह कहें कि इन बिन्दुओं को ज्योतिर्गणित विशारदों ने ख्वाहमख्वाह ग्रह कह कर दुनिया को भ्रम में क्यों डाल दिया। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न कर्त्ताओं को स्वयं मिल जावेगा यदि वे किन्हीं किन्हीं पञ्चाङ्गों में दिये हुये मिश्रमानों पर नज़र अन्दाज करके यह देखें कि सूर्य्य के अतिरिक्त एक 'मध्यमसूर्य्य' ग्रह भी है। परन्तु इससे यह नतीजा निकालना कि 'सूर्य्य' और 'मध्यमसूर्य्य' ये दो ग्रह हमारे सौर जगत् में वर्त्तमान हैं बड़ी भूल होगी। इसी प्रकार 'मन्दसूर्य्य, शीघ्रसूर्य्य' इत्यादि ग्रह भी होते हैं।

बात यह है कि गणितशास्त्र में किसी घटना को किन्हीं विशेषशब्दों में ही प्रकट करने से सुविधा होती है और दूसरे शब्दों में कहने से सुगमता और लाघव दूर भाग जाते हैं। यह बात वे लोग भी अच्छी तरह समझ सकते हैं जो केवल गणित शास्त्र को ही जानते हैं और ज्योतिर्गणित को नहीं। विस्तार भय से हम उदाहरण नहीं देते।

साधारण बोलचाल में भी रेलगाड़ी पर बैठे बैठे हमारे मुख से यही निकलता है 'स्टेशन आगया'; यद्यपि कहने वाले का यह अभिप्राय नहीं होता कि स्टेशन का कोई अधिष्ठातृदेव भी है॥

अब हम पण्डित जी के किये हुये वेद मन्त्र व्याख्यान को उद्धृत करते हैं। भूमिका का आरम्भ यह है:—

इहनानाविध चमत्कार चारुणि संसार चक्रे गणित विद्या समुन्मेषः कदा-बभूवेति परमार्थतो निर्णेतुं न शक्यते। तथापि ऋक्संहितादौ तत्तत्प्रस्तावे विविध ज्ञानोपजीव्यानां व्यवहाराणामुपलम्भा-च्चिरन्तनतम इति सिद्धान्तयितुं पार्य्यते"॥

अर्थात् इस बात का पूर्ण रूप से निर्णय नहीं हो सकता कि इस नानाविध चमत्कारों से सुन्दर संसार चक्र में गणित विद्या का समुन्मेष कब हुआ! तो भी ऋक्संहिता आदि में उन उन प्रस्तावों में विविध ज्ञानों के उपजीव्य

व्यवहारों के उपलम्भ से यह सिद्धान्त निकल आता है कि बहुत पुरानी है ॥

इसके पश्चात् पण्डित जी वेद मन्त्र देकर उसका व्याख्यान करते हैं:—

"ऋक्संहितायां चतुर्थाष्टिके द्वितीयाध्यायास्य द्वादशेवर्गे स्वर्भानुच्छायया सूर्य्य मण्डल वेधोवर्णितस्तत्र यसृक्—

'यं वै सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन् ॥

अस्यामयमर्थः—(आसुरः) असुर कुलोत्पन्नः (स्वर्भानुः) सिंहिकासूनुः (तमसा) अतिमलीमसयानिजच्छायया (यं सूर्यम् अविध्यत) विद्धमकरोत् (वै) निश्चये। स्वर्भानुर्हि ब्रह्मवितीर्ण-वरमहिम्ना चन्द्र मण्डलं प्रविश्यभानुमन्तं स्थगयतीति साम्प्रदायिकाः (अत्रयः) अत्रिकुलसमुत्पन्ना ऋषयः (तं) तथाभूतं सूर्य्यं, चन्द्रमण्डलप्रविष्टेनराहुणा आच्छाद्यमान मितिभावः (अन्वविन्दन) लब्धवन्तः, गणितेन सूर्य्यग्रहण विषयक-मवबोधं प्राप्तवन्त इत्यर्थः। नन्वितरजान-साधारण्येनात्रयोऽपिदृष्टवन्तः किमित्यमी नामग्राहिक या प्रशस्यन्त इत्याशङ्कापरि-हारायाह। (नहि अन्ये अशक्नुवन्) अन्येजना याथातथ्येनावगन्तु नाशक्नुवन् सूर्य्योपिरागविषयकज्ञाने समर्था नाभूवन्।

एतेन वेदकालेऽङ्गोपाङ्गविजृम्भिता जजागारेति निर्विदवामव सीयते" ॥

इसका अर्थ यह है:—ऋक्संहिता में चतुर्थाष्टक में द्वितीयाध्याय के बारहवें वर्ग में स्वर्भानु की छाया से सूर्य्य मण्डल का बेधवर्णित है तो वहां की यह ऋक् 'यं वै सूर्य्यं.....अशक्नुवन्।

इसका यह अर्थः—(आसुरः) असुर कुलोत्पन्न (स्वर्भानुः) सिंहिका के लड़के ने (तमसा) बड़ी मैली अपनी छाया से (यं सूर्य्यम् अविध्यत्) जिस सूर्य्य को विद्ध किया (वै) निश्चय करके।

स्वर्भानु ही ब्रह्मा के दिये हुये वर की महिमा से चन्द्र मण्डल में प्रवेश करके सूर्य्य को स्थगित कर देता है ऐसा साम्प्रादायिकों का मत है।

(अत्रयः) अत्रिकुल में पैदा हुये ऋषियों ने (तम्) उस प्रकार के सूर्य्य को, अर्थात् चन्द्र मण्डल में घुसे हुये राहु द्वारा ढके हुये को (अन्वविन्दन्) पाया, यानी गणित से सूर्य्य ग्रहण विषयक इसको प्राप्त किया'।

'तो फिर दूसरे लोगों की साधारणता से अत्रियों ने भी देखा इनका नाम ले कर प्रशंसा क्यों की गई' ऐसी आशङ्का के परिहार में कहते हैं।

(नहि अन्ये अशक्नुवन्) दूसरे लोग ठीक ठीक न जान सके, सूर्य्य के उपरागविषयकज्ञान में समर्थ न हुये।

"इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वेद काल में अङ्गों और उपाङ्गों सहित गणित विद्या जाग उठी थी।"

पण्डित जी का निष्कर्ष कि गणित विद्या

अति प्राचीन काल में साङ्गोपाङ्ग विजृम्भित थी निस्सन्देह ठीक है परन्तु 'राहु' के अर्थ में 'सिंहिकासूनु' विशेष करके गद्य में प्रयुक्त करना तो आधुनिक पौराणिकता की झलक साफ़ साफ़ दिखला रहा है जो इस मन्त्र के अर्थ में प्रामादिक और अनावश्यक है। साथ ही साथ राहु का चन्द्र मण्डल में घुस कर ब्रह्मा के वर से सूर्य्य को ढक लेना और वह भी साम्प्रदायिकों के नाम से लिखना तो उस समय शोभा देता जब पण्डित जी ज्योतिर्गणित विद्या से पूर्ण अनभिज्ञ होते ॥

परन्तु जिस कारण विद्वद्वर्य्य पण्डित जी ने इस वेद मन्त्र के अर्थ में नवीन पौराणिकता घुसेड़ी है उसका कारण हम समझ गये।

बात यह है गणितज्ञ शिरोमणि श्रीभास्कराचार्य्य जी ने सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय के ग्रहणवासना में ९ और १० ये दो श्लोक राहु के बारे में कुछ गड़बड़ से लिखे हैं और उन पर वासना भाष्य भी कुछ गड़बड़ सा ही दे दिया है। परन्तु इस ग्रहण वासना के श्लोकों को भाष्य सहित उद्धृत करने के पहिले यह बतला देना आवश्यक है कि गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय' के जिन प्रश्नों के उत्तर में ग्रहण वासना लिखी गई है वे प्रश्न ये हैं:—

"इदानीं चन्द्रार्क ग्रहणयोर्दिक्कालभेदाद्यपपत्तिप्रश्नान् सार्धश्लोकेनाह

तिथ्यन्ते चेद् ग्रह उडुपतेः किन्न भानोस्तदानीम्,
इन्दोः प्राच्यां भवतितरणेः प्रग्रहः किं प्रतीच्याम् ॥ ८ ॥
लम्बनं बत किं का च नतिर्मतिमतां वर।
तत्संकृतिस्तिथौ बाणे किं ते सिद्धे कुतः कुतः ॥ ९ ॥

अत्रकिल प्रष्टुरयमभिप्रायः। चन्द्र ग्रहणे भूभाग्रहणकर्त्री। पौर्णमास्यन्तेभूभेन्दोस्तुल्यत्वाद युतिर्भवितुमर्हति। एवं सूर्य्यग्रहे चन्द्रश्छादकः। दर्शान्ते तयोस्तुल्यत्वाद् योगेन भवित व्यमिति। बत अहोगणक लम्बनं नाम किंनतिश्चका। ततसंस्कृतिस्तिथौ बाणे चकिम्। लम्बनेन तिथिः नत्या किं बाणश्च। तथान्यः प्रश्नः। ते सिद्धे कुतः कुतः इत्यि ते लम्बनावनती कुतोहेतोः कुतः पृथिव्यः सचिते। भूव्यासार्घेन सधिते इत्यर्थ। तथेन्दोः प्राच्यां दिशिस्पर्शः किं। वेः प्रतीच्यामित्यादि सर्वबंद" ॥

अब चन्द्र और सूर्य्य ग्रहणों के दिक्काल भेद इत्यादि के उपपत्ति प्रश्नों को डेढ़ श्लोक से कहते हैं।

पौर्णमासी के अन्त में यदि चन्द्र ग्रहण होता है तो तभी सूर्य्य ग्रहण क्यों नहीं—चन्द्र का पूर्व में सूर्य का पश्चिम में स्पर्श क्यों होता है ॥८॥ हे मतिमानों में श्रेष्ठ लम्बन क्या है और नति क्या है? तिथि और बाण में उसकी संस्कृति क्या है ॥ ९ ॥

यहां पूछने वाले का यह अभिप्राय है। चन्द्रग्रहण में पृथिवी की छाया ग्रहण पैदा करने वाली है। पौर्णमासी के अन्त में भूमि और चन्द्रमा के तुल्य होने से योग होना चाहिये। इसी प्रकार सूर्य्य ग्रहण में चन्द्र छादक है। अमावस्या के अन्त में उन दोनों के तुल्य होने से योग होना चाहिये हे गणक लम्बन क्या है और नति क्या है। उनकी संस्कृति-तिथि और बाण में क्यों की जाती है। लम्बन से तिथि (का संस्कार होता है) नति से किसका ? बाण का। तथा अन्य प्रश्न वे दोनों किससे सिद्ध होते हैं ? पृथ्वी से अर्थात् पृथ्वी की त्रिज्या (radius) से सिद्ध होते हैं। तथा चन्द्र का पूर्व में स्पर्श और सूर्य्य का पश्चिम में क्यों होता है यह सब बतला॥

इन प्रश्नों के भाष्य में जो ऊपर दिया हुआ है यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ बनाने वाले और उस पर भाष्य करने वाले स्वयं भास्कराचार्य्य ने ग्रहण में राहु (सिंहिका के बेटे) को छादक नहीं माना और न उसका उल्लेख ही किया।

अब इन प्रश्नों का उत्तर सुनिये:—

"अथ ग्रहण वासना। चन्द्रार्क ग्रहणयोः स्पर्शौ मोक्षे च दिग्व्यत्ययस्योपपत्तिमाह—

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः
संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया
छादयत्यात्मामूर्त्या।
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशिततो
मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपिहितो
नैष कक्षान्तरत्वात्॥ १॥

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा। यथामेघोऽधःस्थः पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। एवं चन्द्रो पिशीघ्रत्वात् पश्चात् भागादागत्य रविं छादयति। ततः पश्चात् स्पर्शः। निःसरति चन्द्रे पूर्वतो मोक्षोखेः। अत एव कक्षा भेदात् क्वचिदर्कश्छन्नो दृश्यते क्वचिदेषनच्छन्नः। यथाधःस्थे मेघे कैश्चिद्रविर्न कैश्चिद् दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः।"

अर्थात् सूर्य्य के नीचे चन्द्रमा का मार्ग है जिस प्रकार मेघ नीचे स्थित होता हुआ पीछे के भाग से आकर सूर्य को ढक लेता है इसी प्रकार चन्द्र भी पीछे से आकर अपनी आकाश रोधक मूर्ति सूर्य्य के बिम्ब को ढक लेता है। तत्पश्चात् स्पर्श होता है। इसी लिये निकल जाने पर सूर्य्य का मोक्ष पूर्व दिशा में होता है। इसीलिये यह सूर्य्य कहीं पर आच्छादित दीखता है और कहीं नहीं॥ १॥

"इदानीं नतिलम्बनयोः कारणमाह—
पर्वान्तेऽर्कं नतमुडुपतिच्छन्नमेवअपश्येत्।
भूमध्यस्थो ननु वसुमती पृष्ठनिष्ठस्तदानीम्।
तद्दृक सूत्राद्धि मरु चिरधोलम्बितोऽर्कगहेऽतः।

कक्षाभेदादिह खलु नतिर्लम्बनं चोप
पन्नम् ॥२॥
समकलकाले भूभा लगति मृगाङ्के यतस्त
याम्लानम् ।
सर्वे पश्यन्ति समं समकक्षत्वान्नलम्बना
वनती ॥३॥
पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्यतः
शशीविशति ।
तेन प्राक प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य
निःसरतः ॥४॥
भानोर्बिम्ब पृथुत्वाद पृथु पृथिव्याः प्रभा
हिसूच्यग्रा ।
दीर्घतया शशि कक्षामतीत्य दूरं
वहिर्याता ॥५॥
अनुपाता एतद्दैर्ध्यं शशि कक्षायां च तद्
बिम्बम् ।
भूभेन्दोरन्योदिशि व्यस्तः क्षेपः शशि
ग्रहे तस्मात ॥६॥

दर्शान्त काले रविं पूर्वतः पश्चिमतो वा नतं चन्द्रेण छन्नमेव प्रपश्यति भूमध्यस्थो द्रष्टा। यतो दर्शान्ते सनौ भवतः। योभूपृष्ठस्थो स तदार्क छन्नं न पश्यति। यतस्तद दृक सूत्रा चन्द्रोऽधोलम्बि तो भवति। अतः कक्षा भेदाल्लम्बनं नतिश्चोपपद्यते । चन्द्रगहे तुलम्बन नत्योर भावः। यतः समकलकाले भूभा चन्द्रे लगति। तया छन्नं सर्वे विदेशान्तरस्था अपिनतमपित चन्द्रं समं पश्यन्ति। यतस्तत्रच्छाद्यछादकयोरेकैव कक्षा जाता । तथा भूभातावत पूर्वाभिमुख मर्कगत्या गच्छति। चन्द्रश्च स्वगत्या। सशीघ्रत्वात्पूर्वा भिमुखो गच्छन् भूमां प्रविशति तेन तस्य प्राक स्पर्शः। भूमाया निःसरतः पश्चान्मुक्तिः । भानोर्बिम्बं विपुलं पृथ्वो लघुः। अतो भूभा सूच्यग्रा भवति। दीर्घत्वे चन्द्रकक्षामतीत्य दूरं-गता । तद्दैर्ध्यमनुपातात्साध्यते । चन्द्र कक्षा प्रदेशे भूभा चन्द्रबिम्बं चेतिसर्वं ग्रहणे प्रतिपादितमेव ॥"

अर्थात् अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि के अन्त में भूगर्भ निवासी नत सूर्य्य आच्छन्न ही देखेगा। परन्तु उसी समय भूपृष्ठ निवासी उसको आच्छन्न नहीं देखते, क्योंकि उनके दृक सूत्र से चन्द्र-लम्बित रहता है। इस प्रकार कक्षाओं के भेद से लम्बन और नति उपपन्न होते हैं ॥२॥

जिस समय सूर्य्य और चन्द्र की स्फुट कला समान होती है, उस समय भूमाचन्द्र बिम्ब में प्रवेश करती है। उससे चन्द्र को मलिन सब लोग समान ही देखते हैं क्योंकि छाद्य और छादक की एक ही कक्षा हो जाने के कारण लम्बन और नति नहीं होते ॥३॥

चन्द्र पूर्व की ओर गमन करता हुआ भू छाया में प्रवेश करता है इसी लिए चन्द्रग्रहण में प्रथम पूर्व दिशा में ग्रहण का आरम्भ और पश्चिम दिशा में इस चन्द्र के निकलने से मोक्ष होता है ॥ ४ ॥

सूर्य्यबिम्ब के बड़े होने से और पृथिवी बिम्ब के लघुतर होने से भूमि की छाया सूची के समान (Conical) सूक्ष्माग्र होती है और लम्बी होने के कारण चन्द्रकक्षा (Lunar orbit) के बाहर दूर तक चली जाती है ॥ ५ ॥

इस भूभा की लम्बाई और चन्द्र कक्षा में भूभा का प्रमाण अनुपात से सिद्ध होता है इस लिये चन्द्र ग्रहण में शरदान विपरीत होता है ॥ ६ ॥

इन श्लोकों का ऊपर जो वासना भाष्य दिया हुआ है उसके 'यतस्तन्नच्छाद्य छादकयोरेकैव कक्षा जाता' इस वाक्य से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य्य भूभा के अतिरिक्त चन्द्र का कोई और छादक नहीं मानते अभी तक बेचारे राहु के मिज़ाज उन्होंने नहीं पूछे ॥

इदानीं छादक निर्णयमाह ।

अब छादक निर्णय को कहते हैं अर्थात् सूर्य्य को ढकने वाला कौन है और चन्द्रमा को कौन इसका निर्णय करते हैं:—

"छादकः पृथुतरस्ततोवः विधो-रर्ध खण्डित तनोर्विषाणयोः'

कुण्ठता च महती स्थितिर्थतो-दृश्यते हरिण लक्षण ग्रहे'' ॥ ७ ॥

इस लिए चन्द्र का छादक अधिकतर बड़ा है क्योंकि अर्ध खण्डित देह वाले चन्द्रमा की सींगों में मन्दता देखी जाती है और चन्द्र ग्रहण देर तक होता है ॥७॥

"अर्ध खण्डिततनोर्विषाणयोस्ती-क्ष्णता भवतितीक्ष्णदीधितेः ।

स्यातस्थितिर्लघुरतो लघुः पृथक, छादको दिन कृतोऽवगम्यते ॥ ८ ॥

अर्ध खण्डित देह वाले सूर्य्य की में शृङ्गों तीखापन होता है । थोड़ी देर सूर्य्य ग्रहण रहता है । इस लिए सूर्य्य का कोई दूसरा लघुतर छादक है ॥ ८ ॥

'दिग्देशकालावरणादिभेदा-न्नच्छाद को राहुरिति ब्रुवन्ति ।"

यन्मानिनः केवल गोल विद्यास्त त्संहिता वेदपुराण बाह्यम् ॥ ९ ॥

दिशा प्रदेश काल और आवरण के भेद से केवल गोल विद्या के अभिमानी लोग जो यह कहते हैं कि राहु छादक नहीं तो वह संहिता, वेद, और पुराण के बाहर है ॥ ९ ॥

"राहुः कुभा मण्डलगः शशाङ्कं,-शशाङ्कग श्छादयतीनबिम्बम् ।

तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्, सर्वाग-मानामविरुद्धमेतत्" ॥ १० ॥

सब आगमों के अनुकूल यह है कि राहु शम्भु के वर प्रदान से भूभा में प्रदेश करके सूर्यचन्द्र का और चन्द्र-मण्डल में प्रवेश करके सूर्य्य का आच्छादन करता है ॥१०॥

अधिक स्पष्टी करण के लिये हम भास्करीय वासना भाष्य ही को उद्धत किये देते हैं:—

"अर्कच्छादककाक्षन्ञ्छादकः पृथु-

तरो वगम्यते । कुतः । यतोऽर्ध खण्डित स्येन्दोर्विषाणयोः कुण्ठता दृश्यते स्थितिश्च महती । अर्कस्य पुनरर्धखण्डितस्य तीक्ष्णता विषाणयोः स्थितिश्च लध्वी । एतत्कारणद्वया न्यथानुपपत्त्यार्कस्य च्छादकोऽन्यः । स च लघुः एवं खीन्द्वोर्न च्छाद को राहुरिति वदन्ति । कुतः । दिग्देश कालावरणादि भेदात । एकस्य प्राक् स्पर्शः । इतस्य पश्चात् । खेः कापि ग्रहण मस्ति कापि नास्ति । कापि दर्शना ग्रतः कापि पृष्ठतः । अतो राहु कृतं न गहणम् । नहि बहवो राहवः । एवं के वदन्ति । केवल गोला विद्यास्तदभिमानि नश्च इदं संहिता वेद पुराण बाह्यम् । यतः संहितासु राहुरष्टमो ग्रहः । स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्य्यं तमसा विन्याधेति माध्यन्दिनी श्रुतिः ।

सर्व गङ्गा समं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः।
सर्व भूमि समं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे॥

इत्यादि पुराण वाक्यानि । अतो विरुद्धमुच्यते । राहुरवियतगति स्तमो भयो ब्रह्म वर प्रदा बाद् भूभा प्रविश्य चन्द्रं छादयति चन्द्रं प्रविश्यं रविं छाद यति इति सर्वागमानामविरुद्धम्" ॥

अर्थात् सूर्य्यं के छादक से चन्द्र का छादक बड़ा मालूम होता है । क्यों। क्योंकि अर्ध खण्डित चन्द्र के शृङ्गों की मन्दता दीख पड़ती है और देरतक स्थिति भी । और अर्धखण्डित सूर्य्य के रङ्गों में तीखापन और थोड़ी देर तक स्थिति देखी जाती है । इन दोनों कारणों से और अन्यथा अनुपत्ति से (अर्थात् कोई दूसरा सबूत न होने से) सूर्य्य का छादक दूसरा है । और वह छोटा है। इस लिये सूर्य्य का छादक दूसरा है। और वह छोटा है । इस लिये सूर्य्य और चन्द्र का छादक राहु नहीं है ऐसा कहते हैं । क्यों ? दिशा देश, काल और आवरण इत्यादि के भेद से एक का पूर्व स्पर्श होता है । दूसरे का बाद में सूर्य का कहीं ग्रहण होता । है कहीं नहीं। कहीं दर्शन के पहिले कहीं बाद में । इस लिये राहु का किया हुआ ग्रहण नहीं है। बहुत से राहु नहीं हैं । ऐसा कौन कहते हैं केवल गोल विद्यावाले और उसके अभिमानी लोग। यह संहिता वेद और पुराण के बाहर है । क्योंकि संहिताओं में राहु आठवां ग्रह है । 'आसुरस्वर्भानु ही निश्चयकर के सूर्य को अन्धकार से वेध करता है' यह माध्यन्दिनी श्रुति है ।

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ४

(१)

अनुवाद

७—वायुरसि तिग्मतेजा इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजोयदयं योऽयं पवतऽएष हीमांल्लोकां स्तिर्यङ्ङनुपवते संꣳश्यत्येवैनमेतद्द्विषतो बध इति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुष्य बध इति ब्रूयात्तेन संꣳशितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेनवज्रेण संꣳशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥

७—अब वह कहता है।

वायुरसि तिग्मतेजा।

(यजु० १।२४)

"तू तेज धार वाला वायु है"

वस्तुतः यह तेज धार वाला है यह जो बहता है (अर्थात् वायु) क्योंकि यह इन लोकों में आरपार होकर बहता है। मानो इस प्रकार यह धार को तेज करता है।

जब वह कहे—

"द्विषतो बधः" (यजु० १।२४)

"शत्रुओं का बध करने वाला।"

तो उसकी चाहे इच्छा हो या न इच्छा हो ऐसा कहना चाहिये कि "अमुक का बध करने वाला।"

जब तेज हो जाय तो इससे न स्वयं अपने को स्पर्श करे और न पृथ्वी को। कहीं ऐसा न हो कि अपने को या पृथ्वी को हानि पहुंच जाय। इसलिये वह न स्वयं इसका स्पर्श करता है न इससे पृथ्वी को छुआता है।

८—देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति

८—देव और असुर दोनों प्रजापति की संतान अपनी बड़ाई के लिये लड़े। जब देवों ने असुरों को हरा दिया तो फिर भी असुर देवों को सताने लगे।

९—ते ह देवा ऊचुः। जयामो वाऽअसुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥

९—तब देवों ने कहा—हम असुरों को हरा देते हैं फिर भी असुर हमको तंग करते हैं। हम उनको किस प्रकार हरावें कि फिर उनको पराजय करने की आवश्यकता न पड़े।

१०—स हाग्निरुवाच। उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्तऽइत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते।

१०—तब अग्नि ने कहाः—उत्तर

की ओर भाग जाने से यह हमसे छूट जाते हैं।" वस्तुतः उत्तर की ओर भागने से ही वे उनसे छूट गये।

११—स हाग्निरुवाच। अहमुत्तरतः दर्येष्यायाथ यूयमित उपसंछरोत्स्यथ तान्त्संछरुध्यैभिश्च लोकैरभिनि-धास्यमो यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न संछहास्यन्तऽइति

११—अग्नि ने कहा—मैं उत्तर की ओर जाता हूँ। तुम उनको इधर से रोको। इस प्रकार घेर कर हम उनको इन लोकों से घेर लेंगे। और इन (तीन) लोकों से ऊपर जो चौथा लोक है उसमें वह फिर न उभर सकेंगे।

१२—सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत्। अथेमऽइत उपसमरुन्धंस्तान्त्संछरुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः

१२—तब अग्नि उत्तर की ओर चला गया और इन्हों (दूसरे देवों) ने उनको इधर से रोका। और इस प्रकार घेर कर उन्होंने उन असुरों को तीन लोकों में घेर लिया और इन तीन के लोकों के आगे जो चौथा लोक है उस से वह फिर उभर न सकें। कुश को फेंक देना ही मानो इन असुरों का निकालना है।

१३—स योऽसावग्नीदुत्तरतः पर्येति अग्निरेवैष निदानेन तामध्वर्युरेवेत उपसंछरुणद्धि तान्त्संछरुध्य भिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सञ्जिहते तस्मदप्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते येन ह्येवैनान्देवा अत्राबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽत्राबाधन्ते

१३—अब वह (अग्नीध्र उत्तर की ओर जाता है। वस्तुतः अग्नि ही है। अध्वर्यु उनको इधर से रोकता है। और उनको इस प्रकार रोक कर वह इन लोकों द्वारा दबा लेता है। और इन लोकों के आगे जो चौथा लोक है उसमें वह फिर नहीं उभरते। यहां भी यह असुर नहीं उभरते। क्योंकि जिस प्रकार देवों ने उनको परास्त किया था उसी प्रकार ब्राह्मण भी यज्ञ में उनको परास्त कर देते हैं।

१४—य उऽएव यजामानायारातीयति। यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थमस्या एव सर्वंछ हरत्यस्या छ हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः किंछ हि हरेद्यदन्तरिक्षंछ हरामि दिवंछ हरामीति हरेत्तस्मादस्या एव सर्वंछ हरति

१४—अब जो यजमान से शत्रुता रखता है और उससे द्वेष करता है उसको वह इन (तीन) लोकों द्वारा तथा चौथे लोक द्वारा दमन कर देता है। इस (पृथ्वी) से सब चीज़ों को फेंक देता है क्योंकि पृथ्वी में ही सब लोक स्थित हैं। अगर कहे कि "मैं अन्तरिक्ष को फेंक दूं" "द्यौलोक को फेंक दूं" तो यह कह कर वह किसको फेंके? इस लिये पृथ्वी से सब (कुशों) को फेंक देता है।

१५—अथ तृणमन्तधाय प्रहरति। नेदनेन

ृेण संꣳ शितेन पृथिवीꣳ हिनसानीति तस्मात्तृणमन्तर्धाय प्रहरति

१५—अब तृण को बीच में रखकर (स्फ्या को) मारता है। यह सोचकर कि कहीं ऐसा न हो कि इस तेज वज्र से मैं पृथ्वी को हानि पहुंचाऊं इस लिये वह तृण को बीच में रख लेता है।

१६—स प्रहरति। पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्युत्तरमूलामिव वाऽ नामेतत्करोत्यादद्दानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हिꣳसिषमिति व्रजं गच्छ गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते तद्धयनपक्रमि यद्व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति वर्षतु ते द्यौरिति यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह वर्षतु ते द्यौरिति बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत्सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्यमुचे तदाह योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभि चरेदमुमतो मा मौगिति ब्रूयात्

१६—वह (स्फ्या) फेंकते समय इस मंत्रांश को पढ़ता है:—

पृथिवि देव यजन्योषध्यास्ते मूलम हिꣳसिषं। (यजु० १।२५)

"हे यज्ञों की आधार रूप पृथ्वी, तेरी मूल में ओषधियाँ हैं। मैं उनको हानि न पहुँचाऊँ।"

इस प्रकार कह कर मानो वह पृथ्वी को उत्तर मूला (जड़वाली) बना देता है। इस लिये (मिट्टी निकालने के समय) वह कहता है कि ओषधियों की जड़ें तेरे भीतर हैं। उनको मैं हानि न पहुँचाऊं। अब मिट्टी को निकाल कर फेंकते समय वह कहता है:—

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"। (यजु० १।२५)

"गौओं को बाड़े अर्थात् व्रज को जा"।

ऐसा कहने से उसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु व्रज में है वह "न फेंकी गई" के समान है। जब वह इस मन्त्रांश को पढ़ कर उसको फेंकता है तो मानो वह उसे 'न फेंकी गई' के समान बना देता है। इसी लिए कहता है कि व्रज अर्थात् गौओं के बाड़े को जा।

वर्षतु ते द्यौः (यजु० १।२५)

"द्यौलोक तेरे ऊपर वर्षा करे"

पृथ्वी के खोदने में जहाँ कहीं वह चोट लगा देता है तो जल शान्ति रूप है। इस लिये जलों द्वारा वह शान्त कर देता है इस लिये वह जल रखता है और कहता है द्यौलोक तेरे ऊपर वर्षा करे"।

अब वह कहता है:—

बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम् (यजु० १।२५)

"हे सवितः देव इसको पृथ्वी के दूरस्थ कोने से बांध दे ऐसा कह कर वह मानो देव सविता से प्रार्थना करता है कि "इसको अन्धकार से बांधो"। पृथ्वी के

दूर के कोने से तात्पर्य है "अन्धकार से"। फिर वह कहता है:—

शतेन पाशैः (यजु० १।२५)

"सो बेड़ियों से"। इसका तात्पर्य है कि छूट न सके। अब वह कहता है:—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। (युजु० १।२५)

"जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको इससे मत छोड़।"

यहां चाहे या न चाहे। उसको नाम लेकर ऐसा कहना चाहिये कि इस अमुक व्यक्ति को न छोड़"।

१७—अथ द्वितीयं प्रहरति। अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासमित्यररुर्ह वै नामासुररक्षस-मास तं देवा अस्या अपाघ्नत तथोऽएवैनमेत-देषोऽस्या अपहते व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यांꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्त-मतो मा मौगिति

१७—अब वह यह मन्त्रांश पढ़ कर स्फ्या से दूसरी बार प्रहार करता है:—

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् बध्यासम्। (यजु० १।२६)

(अररु) दुष्ट शत्रु को (पृथिव्यै) संसार के हित के लिये (देवयजनाद्) यज्ञ स्थान से (अप बध्यासम्) मार भगा दूं।"

'अररु' नाम का एक असुर राक्षस था। उसको देवों ने इस (संसार) से निकाल दिया। इसी प्रकार अध्वर्यु भी इसको यहाँ से निकालता है। नीचे का मन्त्र पढ़ कर:—

व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्।

"गौओं के स्थान अर्थात् व्रज को जा। द्यौ तुझ पर वर्षा करे। हे देव सविता उसको पृथ्वी के पहले सिरे से और सैकड़ों जालों से बाँध जो हमसे द्वेष करते हैं। उसको इससे मत छोड़।"

१८—तमग्नीदभिनिदधाति। अररो दिवं मा पप्त इति यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपाघ्नत स दिवमपिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपत्तथोऽएवैनमेत-दध्वर्युरेवास्माल्लोका दन्तरेति दिवोऽग्नीत्त-स्मादेवं करोति।

१८—अग्नीध्र इसको नीचे का मंत्र पढ़कर दबा देता है:—

अररो दिवं मा पप्त (यजु० १। २६

"हे दुष्ट तू क्यों लोक को प्राप्त न हो"। जब देवों ने अररु राक्षस असुर को मारा तो उसने द्यौलोक को जाना चाहा। अग्नि ने उसको यह कहकर दबा दिया कि "हे दुष्ट तू द्यौलोक को प्राप्त न हो"। वह द्यौलोक को प्राप्त न हो सका। इसी प्रकार अध्वर्यु इसको भी इस लोक से दूर कर देता है और अग्नीध्र द्यौलोक से। यही कारण है कि कि वह इस प्रकार करता है।

समालोचना

वैदिक त्रैतवाद

ले० स्नातक पं० सत्यव्रत जी
प्रक० -रतिलाल हरजीवन पटेल, सांटाक्रूज, (B.B.C.I.Ry.) आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ संख्या १०८+२४ मूल्य ।।।)

पुस्तका गुजराती भाषा में है। इस पुस्तक का भी इतिहास है। श्री पं० सत्यव्रत जी ने उपाधि परीक्षा के लिये यह पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक इतनी उत्तम समझी गई कि आपको उपाधि से भूषित किया गया। पुस्तक की उपयोगिता इससे भली प्रकार सिद्ध हो सकती है। वैदिक त्रैतवाद क्या है?—अगर यह समझना हो तो इस से उत्तम पुस्तक दूसरी न, मिलेंगी। इसमें ईश्वर सिद्धि जीवन-सिद्धि, पुनर्जन्म सिद्धि, ईश्वर की भिन्नता की सिद्धि (स्वामी शंकराचार्य्य के सिद्धान्तों का खंडन, स्वामी दयानन्द के मत का पोषण) प्रकृति-सिद्धि, पर युक्ति प्रमाण संगत टिप्पणियां पढ़िये। विद्वान् लेखक ने भारतीय दार्शनिकों का विवेचन तो किया ही है साथ साथ ईसाइयों के त्रैतवाद (Christ tian trinity) तथा दार्शनिक केन्ट (Kent) के त्रैतवाद पर भी चोट की है। पुस्तक में वेद उपनिषद तथा शास्त्रों के बहुत से प्रमाण मिलेंगे। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वैदिक त्रैतवाद पर ऐसा सुन्दर ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं लिखा गया। आशा है कि वैदिक साहित्य प्रेमी इसको अवश्य खरीदेंगे तथा जो वैदिक त्रैतवाद को नहीं मानते उनका ध्यान इसकी ओर आकर्षित कर देंगे।
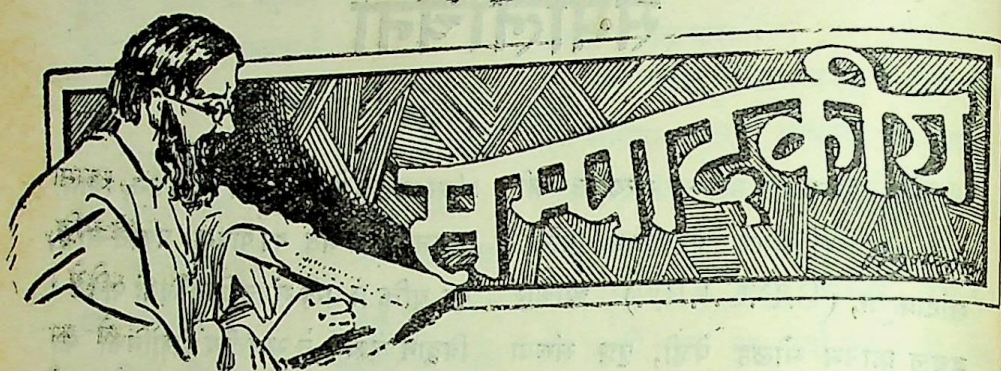
द्वितीय आर्य्य-महासम्मेलन

बरेली नगर में द्वितीय आर्य्यमहा सम्मेलन ७-८-९ फ़र्वरी १९३२ ई० को होगा। पाठकों को स्मरण होगा कि पहला सम्मेलन दिल्ली नगर में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान के उपरान्त हुआ था। वे दिवस आर्य्यसमाज के इतिहास में विशेष आपत्ति के थे। अनेकों बलिदान हो चुके थे तथा नगर कीर्त्तन भी अनेक स्थानों पर रोके जा चुके थे। परन्तु इन सबके ऊपर स्वामी श्रद्धानन्दजी की शहादत थी। उनका खून आर्य्यों के हृदय में जोश पैदा कर रहा था। यही कारण था कि दिल्ली नगर में प्रथम आर्य्य सम्मेलन बहुत सफलता पूर्वक होगया।

कई वर्षों बाद अब फिर सम्मेलन की धुन समाई। कुछ जोशीले लोगों ने चाहा कि सम्मेलनों का क्रम जारी रहे। बरेली के उत्साही कार्य्यकर्त्ताओं ने अपने ऊपर इस महान् कार्य्य को लिया। इस समय यह सम्मेलन होना चाहिये था? इसकी कोई आवश्यकता भी थी? इन प्रश्नों में पड़ने से क्या लाभ क्योंकि अब होही रहा है। वैसे तो इस समय आर्य्य जगत् के सम्मुख कोई ऐसा गहन विषय नहीं है जिसको हल करने के लिये सम्मेलन का आयोजन आवश्यक था। बहुत से ऐसे लोग जिनमें जीवन है जेल की चार दीवारी में पहुंच चुके हैं? और वे सम्मेलन में भाग न ले सकेंगे। परन्तु इतना होते हुये भी सम्मेलन से बहुत आशायें लगाई जा सकती हैं। सम्मेलन के सभापति आर्य्यसमाज के शिरोमणि श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज हैं। आप के समान त्यागमयी, शान्तिमयी तथा गंभीर दूसरी मूर्त्ति न मिलेगी। स्वामी जी में प्रेम है, धुन है, जोश है, त्याग है। और जिस ओर जनता को लेजाना चाहें ले जा सकते हैं। जनता को सोचने की आवश्यकता नहीं, आंखें बन्द करके पीछे चल सकती है।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार सफलता मिल सकती है। यदि इस सम्मेलन में लोग आये, दो चार दिन धूम मचा कर चले गये तो उससे कोई बड़ा लाभ नहीं। इसमें तो अपनी शक्ति का ह्रास ही करना है।

इस समय जब कि आर्य्यसमाज को किसी वाह्य शक्ति का सामना नहीं करना यह आवश्यक है कि वह अपने संगठन को मजबूत बना ले। जो कुछ शिथिलता हममें आचुकी है या आरही है उसको दूर करना हमारा धर्म है। आर्य्यसमाज के प्रारम्भिक जीवन में हम दो बातें पाते हैं। प्रचार की धुन, दूसरी अपने सामाजिक भाइयों के साथ प्रेम का व्यवहार। प्रत्येक आर्य्यसमाजिक को इस बात की धुन सवार थी कि जितना वह प्रचार कर सके अवश्य करे। एक से दो, और दो से चार बनाने की इच्छा रहती थी और इसी धुन का फल है कि इतने थोड़े काल में ही आर्य्यसमाजिकों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ती रही परन्तु अब हमारा प्रचार का कार्य्य बहुत शिथिल हो रहा है।

प्रचार के लिये अपने सिद्धान्तों की रक्षा करना आवश्यक है। सिद्धान्तों की रक्षा उत्तम साहित्य से ही हो सकती है। आर्य्यसमाज ने सब वेद-भाष्यों का खंडन तो कर दिया पर इतने समय में एक भी वेदों का भाष्य नहीं प्रस्तुत किया जिसको लोग कह सकते कि यह "हमारा भाष्य है।" होना तो यह चाहिये था कि कई भाषाओं में इस प्रकार के भाष्य छप जाते। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तों का भी पोषण करना है। स्वामी दयानन्द तो केवल संकेत ही दे गये हैं। एक एक सिद्धान्त पर युक्ति तथा प्रमाणों सहित एक उत्तम ग्रन्थ की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न सिद्धान्तों पर विद्वानों में भिन्न भिन्न मत हैं।

अब इस प्रकार का साहित्य किस प्रकार तय्यार हो। अभी कुछ दिन हुये एक लेखक ने लिखा था कि उनकी पुस्तक की ५० प्रतियां ५ वर्ष में बिकी। लेखक विद्वान् है और पुस्तक उत्तम है। आर्य्य-समाज में ऐसी पुस्तकों की मांग ही नहीं इसलिये न लेखकों को लिखने का ही साहस होता है और न प्रकाशकों को उनके प्रकाशन का।

इसलिये सार्वदेशिक सभा का कर्त्तव्य है कि इसके लिये धन एकत्रित करे। पिछली बार ५०००१) रुपया इकट्ठा किया गया था। इस बार भी यदि प्रयत्न किया जाय जो ५००००) रुपया एकत्रित हो सकता है। इससे पुस्तकों का निर्माण किया जाय। लेखकों को १०००)रुपया पुरस्कार दिया जाय तो बहुत से लेखक उत्तम से उत्तम ग्रन्थ सहर्ष लिख देंगे। आर्य्य-समाज में विद्वानों की कमी नहीं, पर

जीविका के लिये उनको बहुत से झंझटों में पड़ना पड़ता है। यदि उनको यह तुच्छ उपहार दिया जाय तो वे पुस्तकें लिखने लगें। पुस्तकें ५०० पृष्ठ से कम की न हो? २०००) रुपया उस पुस्तक के प्रकाशन पर व्यय किया जाय। इस प्रकार ५००००) रुपये में १७ ग्रन्थ तय्यार हो गये। उनकी बिक्री से ३ ग्रन्थ और तय्यार हो जावेंगे। यदि यह उत्तम ग्रन्थ जनता के सामने आगये तो एक तो हम उन विद्वानों को आकृष्ट कर सकेंगे जो इस समय हमसे दूर हैं, दूसरे हम आर्य्यसामाजिकों की वृत्तियों को भजन से हटा कर उत्तम साहित्य की ओर खींच सकेंगे। यह पुस्तकें इन विषयों पर हो सकती हैं।

(१) ईश्वर
(२) जीव
(३) प्रकृति
(४) अवतारवाद
(५) आवागमन
(६) कर्म-फलवाद
(७) प्रेतवाद
(८) वेद—ईश्वरीय ज्ञान आदि
(९) मूर्त्तिपूजा
(१०) वृक्षों में जीव
(११) ईश्वर प्रार्थना
(१२) योग तथा प्राणायाम
(१३) छः दर्शन (झमेले)
(१४) वेदों में यज्ञ के स्वरूप(पशु-वध आदि)
(१५) ज्योतिष
(१६) सृष्टि—निर्माण, प्रलय आदि
(१७) आर्यों के पर्व
(१८) उत्तम भजन (छंदो भंग तथा अशुद्ध भाषा न हो)
(१९) महर्षि की जीवनी (छान बीन के बाद लिखी जावे)
(२०) आर्य्यसमाज का गजेटियर (जिसमें समस्त आर्य-समाजिक कार्य्यकर्त्ताओं की संक्षिप्त जीवनी, आर्य-समाजों की सूची पूरे पते सहित, शिक्षणालयों का संक्षिप्त वर्णन, सुधार सम्बन्धी सब कार्य)

Reg. No. 2041.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

एक प्रति का ।)

वार्षिक मूल्य २॥)

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग।

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press, Zero Road. Allahabad.

(भाग ३, ४)

[चैत्र १९८८ से फाल्गुन १९८८ तक]

—:०:—

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल०-एल० बी०

प्रचारार्थ वार्षिक मूल्य २)

अनुक्रमणिका

कविता

अनुरंजन (कविता)—[कवि "कर्ण" महोदय] २८१, ३६१

अपनी असमर्थता—[श्री हरिशरण जी श्रीवास्तव 'मराल' बी० ए०, एल० एल० बी०, मेरठ] ३२१

आर्य समाज का पहला नियम—कविता [श्री विश्वप्रकाश] २४१

ईश्वर कहाँ है ?—[श्री० पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] २०१

ईश्वर गरिमा (कविता) [श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] १६१

ऋषि को स्मृति—कविता—[श्री० पं० राजाराम 'पाण्डेय' "मधुप"] ३९५

दयानन्द ऋषि आयेंगे—कविता—[श्री पं० शिवचरणलाल जी आर्य पुरोहित, कालपी] १७२

दो नेत्र—कविता—[श्री विश्वप्रकाश] १

प्रार्थना—कविता—[श्री पं० राजाराम पांडेय "मधुप"] ... ४१

फूल—कविता—[श्री सत्यप्रकाश] ४५१

भक्त की भावना—कविता—[वैदिक धर्म विशारद पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०, एल-टी०] ११६

मैं और फूल—कविता—[श्री० विश्वप्रकाश] ... ८१

महा-पुरुष—कविता—[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुम"] ४०१

वेदोदय—कविता—[श्री स्वा० केवलानन्द सरस्वती] २११

शुभागमन—कविता—[श्री कवि "मर्ण" महोदय] १२१

हमारा सर्वस्व (कविता)—[श्री पं० सूर्य देव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०] ४४१

लेख

आर्य जीवन की आवश्यकता—[श्री० राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा] २०३

ईश्वर की भक्ति—[श्री० पं० कृष्णानन्द जी, प्रयाग] ४८, ९७,

उर्वशी और पुरुरवा—[श्री० पंडित शिव शर्मा जी, महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, आगरा] ८२, १२२

ऋषि दयानन्द और आर्य समाज—[श्री पं० श्रुतबन्धु शास्त्री वेदतीर्थ आचार्य गुरुकुल सोनगढ़ काठियावाड़] २९९

कुरान की छानबीन—[श्री पं० देवीदत्त जी, टेम्परेन्स प्रीचर] ... २६३

छन्द और स्वर—[श्री० सत्यप्रकाश एम० एस० सी०, एफ० आई० सी० एस०, सम्पादक 'विज्ञान'] ५

तपोवन को कथायें—[स्नातक पं० शङ्करदेवजी, गुरुकुल सूपा] १—शिष्य सत्यकाम ... १५

२—गुरुपत्नी का वात्सल्य ... ५६

३—शिष्य उत्तङ्क ... १०६

४—यज्ञ-रक्षा ... १३३

५—ब्रह्मवेत्ता राजा अश्वपति १७१

६—उषस्ति मुनि और आपद्धर्म की मर्यादा ... २०९

७—राजा जान श्रुति और ब्रह्मज्ञान का वेतन ... २७३

८—माता कुन्ती और कर्ण—२९३

९—मुनि विश्वामित्र और राम लक्ष्मण ... ३२८

१०—शृङ्गी मुनि का तपस्तेज ३७४

धर्म विजय—श्रीमती सुदक्षिणा देवी वर्मा, बी० ए०] ... २४९

प्रार्थना केवल वेद मन्त्रों से ही करनी चाहिये—[पं० श्रुत बन्धु शास्त्री, वेदतीर्थ आचार्य, गुरुकुल सोनगढ़ काठियावाड़ ८८

प्रेत विद्या—प्रहसन १५३

भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान—[श्री महात्मा नारायण स्वामी जी] ४६५

भारतवर्षीय आर्य—श्री पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक आर्य, प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रांत... ३३५, ४५४

भारत की धार्मिक जागृति—१९वीं शताब्दी में—[श्री प्रेम बहादुर वर्मा, बी० एस० सी०, बनारस] ५८

मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता—श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए० ... ९१

मांस सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—[राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा] ४१७

मणिमेकलै में सांख्य दर्शन—[श्री० स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ लाहौर] ... १६९

मोजजों का अन्ध-विश्वास—[श्री पं० कृष्णानन्दजी ... ३१५, ३३७,

मातृ ज्योति—

१—सुखी परिवार—[श्री विश्वप्रकाश] ... २८

२—एक राजपूत रमणी [कुसुम] २९

३—वैदिक वधू—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ११४ १४४, १८९, २२९, २७७, ३११

यज्ञोपवीत या जनेऊ—[श्री० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०]३६४

यज्ञोपवीत का महत्व—[श्री० पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार विद्यावाचस्पति, बंगलौर] ४०४

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द—[श्री० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] १८३, २२१, २४२, ३४८, ३७६, ४०९ ४६०

वेद और विकासवाद—[श्री० प्रो० धर्मदेव वाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी .. १३४

वेदार्थ और स्वामी दयानन्द—[श्री बा० श्यामसुन्दरलाल जी एडवोकेट, मैनपुरी] ... ४२ २८४, ३२३, ४४३

वेदों की झांकी—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] १३ ५४, ८६, १२३, १६७, २०७, २५६ २९७, ३३३, ३८१, ४०७, ४५२

वैदिक राहु—श्री० पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी० (गणित) बी० एस० सी० आनर्स] ... ३८३ ४२६

वैदिक त्रैतवाद—श्री० बा० पूर्णचन्द जी बी० ए०, एल० एल० बी, एडवोकेट] ... १६४

वेदों की संसार के लिये आवश्यकता—[श्री पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ... ३१

वेदों के कतिपय नामों की परिभाषाएँ—[श्री० पं० शिवचरण लाल, आर्य पुरोहित कालपी] २२७

शतपथ ब्राह्मण सभाष्य] ... २५, ६९, ११७, १५७, १९५, २३५, २७५, ३५५, ४३३, ४७५

शङ्का समाधान—२३, ६८, १०९, १४६ १७४, २१९, २६९, ३५३, ४६३ ४६४

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज और वेद-भाष्य—[श्री पं० शिवशर्मा जी आर्य महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, यू० पी०] ... २

आर्य समाज के निर्माता—

१—श्री स्वामी नित्यानन्द जी सरस्वती [श्री विश्वप्रकाश जी, बी० ए०, एल-एल०बी] ... ३५

मेरी जीवन कथा—[श्री राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा १४७ १७५, २१२, २६५

३—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी [श्री पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ... ३०३, ३४४, ३९६, ४२०

समालोचना—

१—वेदोपदेश, आर्यों का प्राचीन गौरव ... १०५

२—स्त्री शिक्षा, शतपथ में एक पथ१९५

३—भूलों की भूलो [श्री पं० कृष्णानन्द जी] शान्ति के पथ पर २०५

४—त्याग की भावना, वाणी, मध्य देशादि वैश्य सेवक ... ३३:

५—सुधा ... ३८०

६—वैदिक त्रैतबाद ... ४३५

७—धम्मपद ... ४७५

सम्पादकीय—

१—नया वर्ष ३१

२—सायणाचार्य और नियोग ७१

३—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ११९

४—वेद प्रचार १५९

५—पृथ्वी की आयु १९१

६—आर्य समाज फूलो फलो २३१

७—अन्ध विश्वास के भयंकर परिणाम २७१

८—हृदय की दिवाली ३११

९—सारनाथ का मन्दिर ३५१

१०—ज्योतिष पर पाश्चात्य वैज्ञानिक३९१

११—द्वितीय आर्य महा सम्मेलन ४३८

१२—दूसरा वर्ष समाप्त, मालवीय जयंती, कानपुर के दो प्रमुख पुरुष ४७१

सम्भाषण—श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ३८५

स्वर्ग १११, १२५

स्वामी दयानन्द और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन—[श्री बाबू पूर्णचन्दजी बी० ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट आगरा] १८

हमारे पर्व दिवस—[श्री० पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय, बी० ए०, एल० टी० २५८ २८५

Reg. No. 2041.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

एक प्रति का ।)

वार्षिक मूल्य २॥)

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press,
Zero Road. Allahabad.

सम्पादक

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये २ा)

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१—हमारा सर्वस्व—(कविता)—[श्री पं० सूर्य देव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०] ४४१
२—वेदार्थ और स्वामी दयानन्द—[श्री बाबू श्याम सुन्दरलाल जी ऐडवोकेट, मैनपुरी] ४४३
३—फूल—कविता—[श्री सत्यप्रकाश] ४५१
३—वेदों की झांकी—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४५२
५—भारतवर्षीय आर्य—[श्री पं० शिव शर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त] ४५३
६—राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४६०
७—शंका समाधान— ४६४
८—भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान—[श्री० महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज] ४६५
९—समालोचना ४५४
१०—शतपथ ब्राह्मण ४६०
११—सम्पादकीय— ४७९

श्री० पं० मदनमोहन मालवीय जी

आपकी ७०वीं वर्ष गांठ बसंत पंचमी को बड़ी धूमधाम से काशी नगर में मनायी गई ।

कला प्रेस, प्रयाग ।

ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४	फागुन संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, मार्च १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२	संख्या ६ पूर्ण सं २४

हमारा सर्वस्व

[पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० ए०]

परमेश का प्रसारा, संसार का सहारा।
वर वेद धर्म प्यारा, सर्वस्व है हमारा॥ टेक॥
करते सदा रहे थे, योगीश मान जिसका।
तरते सदा रहे थे, ले गेय ज्ञान जिसका॥
सुरलोक का सितारा।
सर्वस्व है हमारा॥ १॥

मुनि विश्व से पृथक हो, वन में निवास करते।
स्वाध्याय से अथक हो, परमार्थ आश करते॥
प्रभु प्रेम का पिटारा।
सर्वस्व है हमारा॥ २॥

बहु बाल ब्रह्मचारी, बन ज्ञान के भिखारी।
श्रुति देवता पुजारा, थे पीत वस्त्र-धारी॥
व्रत वेद हेतु धारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ३॥

वर्चस्वि ब्राह्मणों को, सुर तेज मान दाता।
वर वीर क्षत्रियों को, बल ओज का विधाता॥
विट् शूद्र का सहारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ४॥

परमेश! जब मरें हम, तो वेद वेद रटते।
बलिदान निज करें हम, पीछे कभी न हटते॥
हो वेद अमृतधारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ५॥

प्राचीन आर्य्यजन का, सर्वस्व वेद ही था।
जीवन तथा मरण का, उद्देश्य भी वही था॥
श्रुति "सूर्य" का उजारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ६॥

वेदार्थ और स्वामी दयानन्द

[भाग ४, अंक २१ से आगे]

[श्री बा० श्यामसुन्दर लाल जी एडवोकेट, मैनपुरी]

पिछले अंक में, मैंने निवेदन किया था कि "कृष्ण" एक दूसरा शब्द है जो अवैदिक और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में योगिराज श्री कृष्णचन्द्र महाराज के लिये प्रायः रूढ़ि होगया है और चूंकि उपरोक्त महाराज ब्रह्मबल और क्षात्रबल दोनों में अद्वितीय थे, योगियों में योगीश्वर और पुरुषों में पुरुषोत्तम थे, उनके अद्वितीय गुणों का हिन्दू समाज पर इतना अधिक प्रभाव खचित् हो गया कि वह कालान्तर में साक्षात् परमात्मा के अवतार माने जाने लगे और उपरोक्त शब्द उनके लिये पीछे से रूढ़ि बन गया। इस शब्द का सम्बन्ध उपरोक्त कृष्ण महाराज से न जाने कितनी शताब्दियों अथवा सहस्राब्दियों से इतना घनिष्ठ हिन्दू जाति में जुड़ गया है और प्रत्येक हिन्दू (आर्य्य) मा का दूध पीने के समय से आजीवन उक्त शब्द को उपरोक्त महापुरुष के साथ साथ जुड़ा हुआ सुनने और पढ़ने का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसके लिये यह मानना असम्भव सा हो जाता है कि यह शब्द संस्कृत साहित्य में सामान्यतया किसी अन्य अर्थ में भी आ सकता है। इस सब का फलस्वरूप प्रतिफल यह हुआ है कि संस्कृत साहित्य में कहीं पर 'कृष्ण' शब्द के आने पर तत्काल स्वभावतः उपरोक्त कृष्ण महाराज का भाव हमारे नेत्रों के सन्मुख नृत्य करने लगता है।

इस लेख में हमको यही दिखलाना है कि वेदों का 'कृष्ण' एक स्थान पर नहीं किन्तु सम्पूर्ण अनेक स्थलों पर स्पष्टतया कृष्ण (काला) वर्ण अथवा आकर्षण गुण का द्योतक होकर, कहीं पर मेघ का विशेषण है, कहीं पर भौतिक अग्नि और विद्युत का विशेषण है, कहीं पर प्राकृतिक आकर्षण (Gravitation) का ग्राहक है इत्यादि परन्तु ऐतिहासिक उपरोक्त कृष्ण महाराज के अर्थ में एक स्थान पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

मैंने इस बात के कहने का कि 'कृष्ण' शब्द वेदों में एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का ग्रहणकर्त्ता नहीं है क्यां साहस किया है इसका एक हेतु तो यह है कि सब के सब स्थल स्फुटतया उपरोक्त दो अर्थों में से किसी न किसी

एक अर्थ को अपने साथ लिये हुए दृष्टि पड़ रहे हैं तथा द्वितीय हेतु यह है कि श्री सायणाचार्य्य महाराज जो ऐतिहासिक अर्थ की गंध पाते हुए भी अपने भाष्य में कभी ऐतिहासिक अर्थ के देने से नहीं चूकते इस 'कृष्ण' शब्द का एक स्थान पर भी ऐतिहासिक अर्थ देने का साहस नहीं करते।

'कृष्ण' शब्द किसी न किसी विभक्ति में वा अन्य शब्द के साथ मिल कर ऋग्वेद में ६४ स्थानों पर, यजुर्वेद में २५, सामवेद ९ तथा अथर्ववेद में ३२ स्थानों पर विद्यमान है; परन्तु एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का पता नहीं है। प्रत्येक मन्त्र को उद्धृत कर और उसका अर्थ देकर प्रकट करना कि वास्तविकता इसी प्रकार है विज्ञपाठकों का समय खोना उचित प्रतीत नहीं होता, अतएव मैं केवल एक ऋग्वेद मन्त्र को इस कारण से प्रस्तुत करना उचित समझता हूं कि उक्त मन्त्रस्थ 'कृष्ण' शब्द को स्वर्गीय श्री पं० ज्वालाप्रसाद मुरादाबादी ने ऐतिहासिक 'कृष्ण' के अर्थ में व्याख्यात करने का प्रयास किया है और उस पर श्री सायणाचार्य्य और महर्षि दयानन्द का भाष्य भी उपस्थित है जिससे ज्ञात होगा कि उक्त पण्डित जी का अर्थ उस स्थल पर ठीक नहीं बैठता।

मंत्र निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णु अर्चिर्वपुषामिदेकं यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः।"

(ऋ० ४-७-९)

उक्त मन्त्र का सायण भाष्य निम्न है :—

"हे अग्ने ! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमन मार्ग उच्यते, एम वर्त्मे कृष्णवर्णं भवति। भाः तव सम्बन्धिनो दीप्तिः, पुरः पुरस्ताद् भवति। चरिष्णु संचरण शीलम् अर्चिस्त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भत्व जननहेतुमरणिं दधतेह धारयन्ति खलु। सत्वं सद्यश्चित्सद्यएव जात उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतोभवस्येव।"

अर्थात् -हे अग्ने तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है, चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुए यजमान लोग ज्यों ही तेरे गर्भरूप अरणि को धरते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है।

तात्पर्य्य यह है (स्वर्गीय श्री० पं० तुलसीराम स्वामी के भास्कर प्रकाश से उद्धृत) कि अग्नि का मार्ग काला है। जहां होकर आग निकलती है वहां काला

पड़ जाता है। आग के साथ साथ आगे आगे उसका प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का प्रकाश तत्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञकर्त्ता लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं तो वह तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमान के दिये हुए हविभाग को वायु आदि देवों को पहुंचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में गाया गया है।

उक्त अर्थ में इस बात के संकेत करने की आवश्यकता है कि श्री सायणाचार्य्य ने मन्त्रस्थ 'अप्रवीता' शब्द को बहुवचनान्त लेकर (अनुपगता यजमानाः) समीप न गये हुए यजमानों का किया है और 'दधते' शब्द को जो एक वचनान्त क्रिया है (वचन व्यत्यय से) बहुवचनान्त मान लिया है और उसका (धारयन्ति) धारण करते हैं ऐसा अर्थ किया है क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर व्याकरण के अनुसार ऐसा कर सकने का विधान है। परन्तु अन्यथा सब प्रकार से श्री सायण का दिया अर्थ आधिभौतिक अर्थ में सुसंगत हो जाता है। किसी प्रकार की कोई खैंचा खींची उक्त अर्थों में दृष्टि नहीं पड़ती। यह ध्यान रखने की बात है कि सर्वोत्तम अर्थ वही होता है जिसमें यथा समय सम्भव 'व्यत्यय' का आश्रय कम लिया गया हो क्योंकि 'व्यत्यय' का अर्थ ही यह है कि साधारण नियम के प्रतिकूल कोई अनियमता पर नियम अङ्गीकृत करना पड़े।

अब इसके आगे मैं श्री० पं० ज्वालाप्रसाद जी का दिया हुआ अर्थ जो उन्होंने अपने रचित पुस्तक दयानन्द तिमिर भास्कर में दिया है उद्धृत करता हूं जो निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम इति हे भूमन्! ते तव रुद्ररूपेण पुरस्तिस्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरः स्थूल सूक्ष्मकारण देहान् ग्रसतस्तुर्य्यस्वरूपस्य यत्कृष्णंभाः सत्यानन्द चिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिर्ज्वालावदंश मात्रं समष्टिजीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्त्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतंगमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निगडे गुप्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकी पुत्रायेति छान्दोग्ये देवव्याएव कृष्ण मातृत्व दर्शनात् सागर्भं स्वगर्भं दधते धारयति दध धारणे इत्यस्य रूपमह प्रसिद्धं सद्यंजातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् संघइदु सघ एव उ निश्चितं दूतः दुनोति इति दूतः मातुः खेदकरोऽति वियोग दुःखप्रदो भवसीत्यर्थः एतेन देवकी पतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितिम्।"

अर्थात्—हे भूमन्! आपका जो सच्चिदानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्र

रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होवें जिन आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूप से वर्त्तमान है और जो कृष्णभा को अग्रवीता अर्थात् निगड़ ग्रस्त देवकी गर्भरूप से धारण करती भई। छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए (और उसके वियोग जन्म दुखसे कारण होकर दूत हुए) इससे श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिन्दंशत्व वो धन किया।

उपरोक्त अर्थों को ऊपरी दृष्टि से देखने से ऐसा मालूम होता है कि भाष्य-कर्त्ता ने 'व्यत्यय' का आश्रय न लेते हुए भी 'कृष्ण' शब्द के अर्थ में एक प्रकार का गौरव उत्पन्न कर दिया है। विज्ञ पाठक यह भी बलपूर्वक कह सकते हैं कि माना यह बात ठीक है कि उपरोक्त मन्त्र का ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण उक्त सातवें सूक्त का देवता अग्नि है और इसलिये उपरोक्त मन्त्र में अग्नि का ही विषय माना जा सकता है और इसलिये श्री सायणा-चार्य्य का अर्थ अग्नि को देवता मानकर जो उपरोक्त भांति किया गया है वह एक अंश में ठीक हो परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'अग्नि' देवता के होने से केवल भौतिक अग्नि का ग्रहण किया जा सके अपितु सम्भव है कि अग्नि देवता से तात्पर्य विद्युत, विद्वान्, सभेश, सेनापति, आत्मा, परमात्मा आदि किसी एक का हो क्योंकि अग्नि शब्द इन सब अर्थों में कहीं न कहीं वेदों में विद्यमान पाया जाता है और महर्षि दयानन्द ने भी अग्नि शब्द के अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक आध्यात्मिक प्रभेद से उक्त विविध पदार्थों के लिये ग्रहण किये हैं। मेरी सम्मति में यह तर्क सर्वथा सुसंगत है और श्री सायणाचार्य्य के विरुद्ध अन्य प्रकार का अर्थ करने में उक्त पण्डित जी सब प्रकार से अधिकारी थे। परन्तु मैंने श्री सायण का अर्थ इस अभिप्राय से नहीं दिया है और न श्री सायण ने वेदस्थ 'कृष्ण' शब्द को कहीं भी ऐति-हासिक 'कृष्ण' के अर्थ में लिया है इस हेतु से निवेदन की है। किन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी वा अन्य को उसके विरुद्ध अर्थ करने का अधिकार नहीं है किन्तु उपरोक्त निवेदन का तात्पर्य यह है कि पौराणिक सब के सब पंडितों पर श्री सायणाचार्य्य की धाक इतनी अधिक है और वह उनमें इतने मान्य समझे जाते हैं कि उनके विपरीत भाष्य को वह पण्डित महोदय किसी प्रकार मानने को तय्यार नहीं होते और यदि ऐसे सर्वमान्य

आचार्य्य को ऐसे समय में 'कृष्ण' शब्द के अर्थ ऐतिहासिक कृष्ण से नहीं सूझे जब कि, भगवान् कृष्ण का अवतार हिन्दू जाति में प्रचुर रूप में प्रचलित था और जब वेद के ऐतिहासिक अर्थों की भरमार थी तो विज्ञ पुरुष के लिये यह निष्कर्ष सुगमता से निकल आता है कि इस मन्त्र अथवा 'कृष्ण' शब्द को लिये हुए अन्य मन्त्रों में ऐतिहासिक कृष्ण का प्रवेश नहीं है।

जो हो कोई पुरुष न्यायतः किसी अन्य को उस अधिकार से वञ्चित नहीं कर सकता जो उसको उक्त प्रकार प्राप्त है और इसलिये इस बात को मानकर की श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी को श्री सायणाचार्य्य के अर्थों से विपरीत अर्थ दे सकने में सब प्रकार से अधिकार था उनके अर्थों की इस अभिप्राय से मीमांसा करनी आवश्यक है कि उन्होंने जो कुछ अर्थ दिया है वह सुसंगत है वा नहीं और शब्दों के अर्थों में कोई बलात् खींचा तानीं तो नहीं है।

पण्डित ज्वालाप्रसाद जी के उपरोक्त अर्थों से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस मन्त्र का देवता भूमा ग्रहण किया है और भूमा परमात्मा को कहते हैं और अग्नि शब्द परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है अतएव अग्नि को भूमा नाम से सम्बोधन करने में उक्त पण्डित जी अर्थ करने के मर्यादा के भीतर ही हैं।

पुनः "कृष्णंभा" शब्द का अर्थ उन्होंने सत्यानन्द चिन्मात्र रूप का अंगीकृत किया है अतः यह अर्थ भी शब्दार्थ से विरुद्ध प्रतीत नहीं होता क्योंकि आकर्षण करने वाला तेज सरलता से उक्त अर्थ का द्योतक हो सकता है। इसके आगे 'राम' शब्द का अर्थ उक्त पण्डित जी ने (प्राप्नुयाम) "हम प्राप्त होवें" का किया है और यह अर्थ भी व्याकरण के अनुकूल ही है क्योंकि 'राम' शब्द मार्ग का भी वाचक है और बहुवचनान्त उत्तम पुरुष के साथ क्रिया का भी रूप है। पुनः आगे चलकर श्री० पण्डित जी 'दूत' शब्द का अर्थ "दुनोति इति दूतः" ऐसा करते हैं। सो यह अर्थ भी व्याकरण और साहित्य के अविरुद्ध है क्योंकि दूत शब्द का जहां अन्य अर्थ होता है वहां यह अर्थ भी (टुदुउपतापे) धातु से निष्पन्न होता है परन्तु आगे चलकर जब पण्डित जी "अप्रवीता" शब्द का अर्थ 'देवकी' का करते हैं तो वह एक ऐसी चेष्टा करते हैं जिसके लिये उनको कोई आधार न किसी भाष्य का प्राप्त है और न उस अर्थ शैली (यौगिकार्य की शैली) का ही सहाय उनको मिलता है जिसका आश्रय लेकर निरुक्ताचार्य्य और स्वामी दयानन्द के मन्तव्यानुसार उन्होंने अन्य शब्दों के अर्थ किये हैं। 'अप्रवीता' शब्द का अर्थ निरुद्धगति अथवा एकान्त सेवी स्त्री का

होना समझ में आ सकता है क्योंकि गर्भाधान के समय ऐसा करना स्त्री के लिये प्राकृतिक धर्म है परन्तु सामान्य स्त्री जाति को छोड़ यह 'अप्रवीता' शब्द 'देवकी' में रूढ़ि है अथवा देवकी का अर्थ दे सकता है यह बात किसी प्रकार बुद्धि संगत नहीं है। छान्दोग्य उपनिषत् का "कृष्णाय देवकी पुत्राय" यह वाक्यखण्ड जो हेतुरूप से उक्त पण्डित जी ने उद्धृत किया है उससे 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने के लिये कोई सहायता नहीं मिलती। वहां तो केवल इतना प्रसंग आया है कि एक अंगिरा वंशोत्पन्न घोर नामा ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को उपदेश दिया कि हे कृष्ण अन्तकाल में उपासक तीन पदों का जप करे इत्यादि और इस उपदेश को सुन कर कृष्ण तृप्त हो गये यथा :—

"तद्धैतत् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायों क्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलाया मेतत्त्रयं प्रति पद्ये-ताक्षितमस्य च्युतमसि प्राणस ंछ शित मसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।"

(छा० ३-१७-६)

उक्त उदाहरण से यह तो विदित होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण घोर ऋषि के शिष्य थे परन्तु इस स्थल पर अप्रवीता शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का कोई गंध वा संकेत नहीं है। केवल इतनी बात से कि हिन्दू मात्र में कृष्ण देवकी पुत्र प्रख्यात है और उनका अथवा किन्हीं अन्य कृष्णनामी महानुभाव का देवकी पुत्र होना छान्दोग्य उपनिषत् से उक्त प्रकार पाया जाता है यह बात सिद्ध नहीं होती कि मन्त्र में 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में लेने का कोई आधार है।

द्वितीय 'दधते' वार्त्तमानिक क्रिया का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक "देवकी" से नहीं ठीक बैठता क्योंकि ऐतिहासिक देवकी के लिये भूत कालिक क्रिया की आवश्यकता थी न कि वर्त्तमानिक क्रिया की। उक्त भाष्यकर्ता ने नागरी भाष्य देने में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग भी किया है क्योंकि नागरी अर्थ में लिखा है "गर्भधारण करती भई" परन्तु संस्कृत भाष्य में काल व्यत्यय न मान कर वर्त्त-मान ही अर्थ किया है। यदि कहा जावे कि ऐतिहासिक वर्त्तमानिक क्रिया भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होती ही नहीं देखी जाती किन्तु साहित्य में लावण्य उत्पन्न करने वाली समझी जाती है तो यह बात भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि अन्य आगे पीछे के मन्त्रों में कोई भी ऐतिहासिक वर्णन नहीं है और न उक्त पण्डित जी को यह साहस हुआ कि आगे पीछे किसी मन्त्र में भी उपरोक्त ऐतिहासिक भाव को वर्णित बतला सकते। अतएव ऐतिहासिक वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग इस स्थल पर नहीं समझा जा सकता। हां काल

'व्यत्यय' का आश्रय लिया जा सकता है परन्तु इस व्यत्यय के मानने से जो किसी व्यत्यय के आश्रय न लेने के रूप में मैंने ऊपर पण्डित जी के अर्थों की प्रशंसा की थी वह जाती रहती है और जब पण्डित जी ने स्वयं ऐसा नहीं कहा तो उक्त तर्क के प्रस्तुत करने की भी आवश्यकता नहीं है।

अतएव जब 'अप्रतीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का किञ्चिदपि आधार नहीं मिलता तो यह बात भी सुगमता से समझी जा सकती है कि 'दूत' शब्द का अर्थ इस स्थल पर खेदकारक का किसी प्रकार सुसंगत नहीं हो सकता। 'खेदकारक' का अर्थ उसी समय तक कुछ सम्बन्धित होता प्रतीत होता था जब कि 'देवकी' को वहां स्थान मिल सकता। तथा यह बात सुप्रसिद्ध है कि वेदों में 'दूत' शब्द अधिकतर 'ले जाने वाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अग्नि को देवताओं का दूत इसी कारण से अनेक स्थलों पर कहा गया है कि वह हव्यवाहन है और देवताओं के लिये हव्य का वाहन किया करता है। व्याकरण और साहित्य प्रयोग की दृष्टि से खेद कारक के अर्थ अवश्य हो सकते हैं परन्तु यहां पर वह अर्थ सुसंगत नहीं है किन्तु दूसरा अर्थ उसका यहां पर अपेक्षित है जो उसकी पूरी व्युत्पत्ति में निम्न प्रकार सम्मिलित है (देखो उणादि कोष स्वामी दयानन्द कृत)

"दवति गच्छति दुनोति उपतपति वा स दूतः। बहुकर्त्तव्य साधको राजभृत्यो वा।"

अर्थात्—जो कष्ट भोगे वा अन्य को कष्ट देवे वह भी दूत है और जो गमन करे और विशेष कार्य्यों का साधन करे वह भी दूत है। यह दूसरा अर्थ वास्तव में 'दुगतौ' धातु से जो स्वादिगण में विद्यमान है निष्पन्न होता है। राज के विशेष अधिकारी अथवा राजदूत को भी दूत इसी कारण से कहा जाता है कि वह शीघ्रतर गुह्य (छिपी हुई) बातों (भेदों) को निश्चयात्मक रूप से ज्ञात कर ले आने और पहुंचाने में विशेष प्रकार से समर्थ होता है।

इसके साथ साथ यदि श्री सायण के उपरोक्त दिये हुए भाष्य पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि वह आधिभौतिक अर्थ तो फिर भी सुसंगति रूप से प्रकट करता है क्योंकि उन्होंने भाव यह दर्शाया है कि अग्नि के उत्पन्न होने से पहले यजमान लोग ज्योंही अग्नि के गर्भ अर्थात् अरणियों को धारण करते हैं त्योंही अग्नि उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् उनके होम हुए हव्य पदार्थों को वायु आदिक देवों को पहुंचाने लगता है और यह एक ऐसी सत्यता है जिसको प्रत्येक याज्ञिक वा

यज्ञ का दर्शक सरलता से देख सकता है। 'राम' शब्द का "मार्ग" अर्थ भी उपरोक्त अर्थों में ठीक ठीक घट जाता है। 'एम' का अर्थ चाहे "हम प्राप्त हों" क्रिया रूप में किया जावे, चाहे 'मार्ग' का अर्थ किया जावे उससे विवादास्पद मन्त्र के अन्तिमभाग के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

परन्तु यदि हम उपरोक्त दोनों भाष्यों को छोड़ इस मन्त्र का अर्थ महर्षि दयानन्द कृत भाष्य में देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने किस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ उत्तम रीति से किया है और किस प्रकार मन्त्र के अर्थ में प्राकृतिक और वैज्ञानिक सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है जो न केवल बुद्धि ग्राह्य है किन्तु वेदों के प्रति हृदय को भी आकर्षित करने वाला है।

महर्षि लिखते हैं :—

(कृष्णम्) कर्षकम् (ते) तव (एम) प्राप्नुयाम (रुशतः) सुरूपस्य रुचिकरस्य (पुरः) पूर्वम् (भाः) प्रकाशमान (चरिष्णु) यच्चरति गच्छति (अर्चिः) तेजः (वपुषाम्) रूपवतां शरीराणां (इत) एव (एकम्) असहायम् (यत) (अप्रवीता) अगच्छन्ती (दधते) धरति (ह) खलु (गर्भम्) अन्तः स्वरूपं (सद्यः) शीघ्रम् (चित्) अपि (जातः) प्रकटः भवसि (इत्) (उ) (दूतः) दूत इव वर्त्तमानः।

अन्वयः—हे विद्वन् रुशतस्ते यत् कृष्णंपुरो भाश्चरिष्णु वपुसायेक मर्चिरिदस्ति तद्वयमेम हे विद्वन् यथाऽप्रवीता गर्भं दधते तथाह सद्यश्चिज्जाते। दूत इवेदु भवसि तस्मात्सत्कर्त्तव्योसि।

जिसका भावार्थ महर्षि ने इस प्रकार दिया है :—

हे अध्यापक कृपालो त्वं विद्युत्तेजसो विद्यामस्मान् वोधय येन तेजसा दूतवत् कर्माणि वयं कारयेम।

अर्थात्—हे विद्वान्! जिस उत्तम रूपयुक्त, प्रीतिकारक आपको-जो खींचने वाला प्रथम प्रकाशमान् चलने वाला रूप वाले शरीरों में सहाय रहित तेज है उसको हम लोग प्राप्त होवें और हे विद्वन् जैसे नहीं जाती हुई स्त्री अन्तः सरूप को धारण करती है वैसे निश्चय से शीघ्र ही प्रकट दूत के सदृश वर्त्तमान ही होते हो उससे तुम सत्कार करने योग्य हो।

उपरोक्त उद्धरण से प्रकट है कि 'अप्रवीता' शब्द के अर्थ महर्षि ने अगच्छन्ती अर्थात् गतिरहित स्त्री के लिये हैं जो कि उक्त शब्द का नैसर्गिक अर्थ है और इस बात का द्योतन किया है कि जिस प्रकार स्त्री अचंचल होकर गुह्य गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार विशिष्ट विद्वान् भी निश्चय रूप से वास्तविक भेदों और मर्मों का ज्ञान उपलब्ध कर उनको अपने भीतर अज्ञातरूप में धारण करता है और उनको दूतवत्

अन्यों से लेता और विशेष प्रकार से द्योतन करता है। प्रत्यक्ष है कि इस उपमा में यह भाव बड़ी उत्तमता से प्रविष्ट है कि दूत कर्म्म के लिये दूसरे के भेदों को निश्चयात्मक रूप में ज्ञात करना और उनको अत्यन्त सावधानी से गुह्य और गुप्त रखना उसी प्रकार आवश्यक है जैसे कि एक निश्चल स्त्री गर्भ को धारण कर उसको दूसरों से अनवगत रखती है। यदि ध्यान से देखा जावे तो अग्नि भी यही काम करता है अर्थात् हव्य पदार्थों को सूक्ष्माकर इस प्रकार अदृश्य रूप में अपने भीतर प्रविष्ट कर लेता है कि स्थूल आंखों से उन गर्भगत पदार्थों को हम किसी प्रकार नहीं देख सकते और अदृश्य दशा में वह हव्य पदार्थों का वायुमण्डल में वहन करता रहता है।

सारांश यह कि ऐतिहासिक कृष्ण महाराज जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम का भी वेदों में सर्वथा अभाव है और यह निष्कर्ष हमको इस बात के कहने का साहस देता है कि वेदों के समीचीन अर्थों को हम उसी दशा में पा सकते हैं जब कि हम वैदिक शब्दों के नैसर्गिक अर्थ करने में ही तत्पर रहे और महर्षि के पद चिन्हों पर चलने का सततप्रयत्न करें।

क्रमशः

फूल

चुरा लिए तूने जो तारे नभ के थे हे माली।
छिपा छिपा कर कब तक उनकी कर सकता रखवाली॥
अरे? मौन क्या पड़े रहेंगे ये धरती के भीतर।
सभी फूल बन उठ आवेंगे एक एक कर ऊपर॥

—सत्यप्रकाश

(२४)

विभ्राजञ् ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥

(ऋग्वेद ८ । ९८ । ३)

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् ईश्वर (ज्योतिषा) प्रकाश से (स्वः) प्रकाश स्वरूप लोकों को (विभ्राजत्) प्रकाशवान् करते हुये आप (रोचनं) प्रकाश युक्त (दिवः) द्यौलोक के उस पार (अगच्छः) चले गये हैं। (ते) आपके (सख्याय) मित्रता के लिये (देवाः) विद्वान् लोग (येमिरे) कोशिश करते हैं।

इस मंत्र में पहली बात यह बतलाई है कि संसार में अग्नि, बिजली, नक्षत्र आदि जितने चमकदार पदार्थ हैं उनमें ईश्वर की ही दी हुई चमक है। वस्तुतः ईश्वर ही प्रकाश का पुञ्ज है। अन्य वस्तुओं में प्रकाश ईश्वर से आता है। जिस प्रकार सूर्य्य निकलते ही हरे फूल को हरा और पीले का पीला बना देता है उससे पहले रात्रि की अंधेरी में उनका हरा और पीलापन प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार परमात्मा अपने प्रकाश से सब वस्तुओं को प्रकाशवान कर देता है। "स्वः" नाम है प्रकाशयुक्त पदार्थों का इसमें सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सभी शामिल हैं। इनमें प्रकाश कहां से आया ? वेद उत्तर देता है कि "इन्द्र" अर्थात् ईश्वर ने ज्योतिषा अर्थात् अपनी ज्योति से "विभ्राजत्" अर्थात सब को प्रकाशमय कर दिया। सूर्य्य जब प्रातःकाल उदय होता है तो मानो अपनी सुनहरी रंग की कूंची

संसार की सभी वस्तुओं पर फिरा देता है जिससे यह सब चीजें सुनहरी सी दिखाई देती हैं। इसी प्रकार प्रलय अवस्था में परमाणुओं में किसी प्रकार का प्रकाश या विकास नहीं होता। वह अन्धकारमय होते हैं। परन्तु ईश्वर की प्रेरणा पाते ही वह सब प्रकाशयुक्त होने लगते हैं। मानो ईश्वर अपने प्रकाश को उन अन्धकारमय पदार्थों में प्रविष्ट सा कर रहा है। परन्तु ईश्वर का यह प्रकाशीकरण वहीं समाप्त नहीं होता सूर्य्य की किरणें संसार भर को प्रकाशित करती हैं परन्तु सूर्य्य स्वयं बहुत दूर ऊपर चमक रहा है। वह द्यौलोक से परे हैं। इसी प्रकार ईश्वर संसार में अपना प्रकाश फैलाता हुआ भी इस संसार से कहीं ऊपर है अर्थात् वह यहां से बहुत परे है। यह परे होना या दूरी देश सम्बन्धी नहीं किन्तु स्वरूप सम्बन्धी है। सृष्टि भर ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होती हुई भी ईश्वर नहीं हो जाती, फूल में सूर्य्य का प्रकाश है अवश्य परन्तु यदि वास्तविक सूर्य्य को जानना चाहते हो तो सूर्य्य का अलग से निरीक्षण करो। इसी प्रकार यद्यपि संसार भर में ईश्वर का प्रकाश है तब भी इस प्रकाश के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये संसार सीमा से बाहर असंसारी ईश्वर का ध्यान करना आवश्यक है। यही कारण है कि विद्वान् लोग इस संसार के प्रकाश को साधारण निचली श्रेणी के लोगों के लिये छोड़ते हुये 'इन्द्र' की 'सख्याय' या मित्रता के लिये यत्न करते हैं। प्रकाशित वस्तुओं से प्रकाश उतना ही बड़ा है जैसे मीठे गन्ने की अपेक्षा वह चीनी जिसने गन्ने को मीठा किया हुआ है परन्तु उस चीनी से भी मीठा चीनी का भण्डार है जहाँ से गन्ना आदि सभी मिष्ठ पदार्थ माधुर्य्य को उधार लेते हैं। इसी प्रकार प्रकाश से भी उच्चतम प्रकाश का वह कोष है जिसको ईश्वर या इन्द्र कहते हैं और वहाँ से प्रकाश निकल कर संसार के प्रकाशवान् पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस वेद मंत्र के शब्द-विन्यास में विशेष लालित्य है जो अनुवाद में बताया नहीं जा सकता। इसको जितनी बार पढ़ा जाय उतनी बार ही आत्मा को आह्लाद होता है ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रभु की ज्योति हमारे अन्धकारमय हृदय को प्रकाशयुक्त कर रही है।

भारतवर्षीय आर्य

[पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त]

(भाग ४, अंक २१ से आगे)

आर्य्य समाज ने अपने जन्मकाल से वैदिक धर्म ग्रहण करने और ऊपर उठने का सब को समानाधिकार दिया है, जिसका ज्वलन्त प्रमाण इस समय भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में दृष्टिगत हो रहा है। यही नहीं कि केवल शिखासूत्र धारियों तक ही इस अधिकार को सीमित रक्खा हो, किन्तु अहिन्दू तक इस अधिकार से वञ्चित नहीं रहे हैं। लाखों ऐसे अस्पृश्यों को यज्ञोपवीत देकर द्विज बना दिया, जिनके हाथ का जल क्या फल भी हिन्दू ग्रहण करना उचित नहीं समझते थे। यही नहीं कि केवल यज्ञोपवीत देकर ही उनको छोड़ दिया हो, अथवा उनके हाथ का भोजनादि ग्रहण करने पर ही बस किया हो, किन्तु उनको सच्चा द्विज बनाकर सन्ध्या बन्दनादि का समानाधिकार देकर उनसे वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रायः कर कराया है। सहस्रों वर्षों की कड़ी गृन्थी को आर्य्यसमाज ने बहुत कुछ ढीला कर दिया है। जो मंजिलें सहस्रों वर्षों में तय होने को थीं उनको आधी शताब्दी में पार कर डाला है। आर्य्यसमाज को अभी अपने इतने कार्य पर न गर्व है, न सन्तोष। वह तो वह दिन देखना चाहता है कि जिस दिन 'अछूत' शब्द केवल किसी किसी पुस्तक में ही पड़ा हुआ दिखाई दे।

हाँ, इतना अवश्य ही याद रखना चाहिये कि—आर्य्यसमाज शिखा सूत्र का लोप करके, ऋषियों मुनियों का नाम मिटाकर, वेद-शास्त्रों को पीठ पीछे फैंक कर, राम और कृष्ण को डुबोकर और आर्य्य सभ्यता को खोकर अछूतोद्धार करना नहीं चाहता। दूसरे अछूतोद्धारक (?) और आर्य्यसमाज में केवल इतना ही अन्तर है कि वे तो इस अस्पृश्यता के मिटाने का सौदा किसी विशेष पणबन्ध के साथ कर रहे हैं। वे पणबन्ध है—शिखासूत्र का त्याग, वेद शास्त्रों का अग्नि संस्कार, भारतीय सभ्यता को तिलाञ्जलि, ऋषि और मुनियों का अपमान और संस्कृतादि भाषाओं का वहिष्कार। क्या हमारे दलित भाई शिखादि को लगा कर इन अछूतोद्धारकों के गले से लिपटेंगे? क्या आर्य्यजाति

को खण्ड खण्ड करके निर्बल बनाने में अपनी महत्ता समझेंगे ?

आज कल के अछूतोद्धारक इस अछूतपने का कारण विशेष कर मनुस्मृति को ही समझते हैं। इसको भस्मसात् करके ही अपना कलेजा ठंडा करते हैं। वे समझते हैं कि मनुस्मृति पर अपना रोष प्रकट करने से हमारी और हमारे साथियों की अस्पृश्यता दूर हो जायगी। यह कार्य उनका सूर्य पर थूकने के समान है।

मनुस्मृति और शूद्र

मनु महाराज ने हिन्दू जाति के दो भाग किये हैं—द्विज और शूद्र। यथा —

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥"

(मनु० १०-४॥)

मनु महाराज ने यदि मनुष्य समाज के चार भाग किये तो कौन सा अपराध कर दिया ? क्या यह विभाग अस्वाभाविक है ? यदि संसार की मानव जाति पर दृष्टि डाली जाय तो यही चार विभाग दृष्टिगोचर होंगे।

१—ब्राह्मण = पादरी = मौलवी, सैयद = लामा =
२—क्षत्रिय = मिलिटरी = पठान =
३—वैश्य = मर्चेंट = सौदागर
४—शूद्र = लेबरपार्टी = मजदूर = शैख़

क्या शूद्रों को द्विजों से पृथक् गिनना महा पाप है ? क्या लेबरपार्टी को अन्य लिबरल आदि से पृथक् नहीं गिना जाता ? अब रहे "शूद्राणाम निरवसिता नाम्" अष्टाध्यायी २। ४ १० के अनुसार शूद्रों के दो भेद = निरवसित और अनिरवसित। अर्थात् वहिष्कृत। शूद्रों का यह विभाग स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखता है। लेबरपार्टी में भी दो भेद हैं—एक जैंटिलमैन और लो या मीन्स = (Law and Means)। ठा० गदाधरसिंह जी ने हमको बताया कि एक बार हमने लंदन में एक गली में होकर जाने का इरादा किया। एक फ़ौजी सरदार ने कहा कि "इस गली से न जाइये। इसमें कमीन लोग रहते हैं।" बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस ईसाई देश में नीच लोगों की गली में जाना मैले आदमी पसन्द न करें, वहीं ईसाई लोग उन ब्राह्मणादि द्विजों की इसलिये निन्दा करें कि "इन्होंने = द्विजों ने शूद्रों को वहिष्कृत कर रक्खा है—यह अन्याय है।

याद रखना चाहिये कि जिसमें न विद्या होगी न वीरता और न व्यापार शक्ति होगी न प्रबन्ध शक्ति, उसको विवश होकर सेवा करनी होगी। बस यही वैदिक परिभाषा में "शूद्र" कहाता है। इन शूद्रों में भी जो इतने पतित हो गये हैं कि जिनके भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं, शौच विधि पर कोई ध्यान

नहीं, जिनके संसर्ग से रोग उत्पन्न होने का भय हो वे सदैव ही निरसित=बहिष्कृत सब भले आदमियों से समझे जायेंगे। चीन के यात्री ने दक्षिण देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'वहाँ पर राजाज्ञा द्वारा किसी भी प्रकार के माँस के बेचने की आज्ञा नहीं थी। वहाँ पर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने इस आज्ञा को नहीं माना। वे नगरों के बाहर बसा दिये गये। उनका नगर के भीतर आना रोक दिया गया। यह उनके लिये दण्ड था।" क्या इस दण्ड को कोई अन्याय कह सकता है?

म्लेच्छ जिसको कहते हैं? यह भी समझ लेना चाहिये। "म्लेच्छ"=अव्यक्ते शब्द धातु से म्लेच्छ शब्द बना है। म्लेच्छ उसको कहते हैं जो ठीक ठीक भाषा न बोलता हो=असंस्कृत भाषा बोलता हो। यह शब्द कोई घृणोत्पादक नहीं है। भारतवर्ष की जिस समय संस्कृत भाषा थी, उस समय जो विदेशी यहाँ पर संस्कृत से भिन्न भाषा बोलते हुए आये, यहाँ के निवासियो ने उनको इसलिये म्लेच्छ कहा कि वे विदेशी असंस्कृत भाषा बोलते हैं।

आर्य्य और अनार्य्य=मानवी समुदाय के दो भेद=सभ्य और असभ्य (Civilized and uncivilized) दो भेद मनु महाराज ने कर दिये तो क्या अपराध किया? यदि कोई आर्य्य अनार्य्य बन जाये अथवा अनार्य्य आर्य्य बन जाय अर्थात् एक दूसरे का कर्म करने लगे तो मनु महाराज ने लिख दिया कि इसमें कोई दोष नहीं।

"अनार्यमार्यकर्माणमार्यमाचानार्य कर्मिणम्। संप्रधार्या ब्रवीद्धाता न समौ नासमाविती।"

(मनु० १०-७३)

अर्थात्—द्विज शूद्रों के करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इनको ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि नये सम हैं न असम हैं।

मानव धर्म के अनुसार यदि कोई शूद्र=लेबर आर्य्यों के से कर्म करने लगे तो वह करे और इसी प्रकार एक आर्य्य भी अनार्य्य के कर्म करने में स्वतन्त्र है। लार्ड एक लेबर बन सकता है। एक लेबर भी इस ही नियम से लार्ड बन सकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि पिछली अवस्था याद रक्खे और लार्ड से लेबर बने हुए को लार्ड ही पुकारता रहे और लेबर से लार्ड बने हुए को लेबर ही कहता रहे। इसमें कोई सिद्धान्त दोष नहीं। शूद्र और पाक कर्म=भोजनादि बनाना भी सेवा धर्म है। सेवा कर्म वही स्वीकार करेगा जिसमें न विद्या हो न बल, न धन हो न व्यापार शक्ति। यदि इस प्रकार के गुण हीन दूसरों की सेवा करें तो मनु का क्या दोष? एक मूर्ख मनुष्य किसी विज्ञ के अधिकार में रह

कर कार्य करें तो कार्य उत्तम होगा, राज मजदूर लोग एक ओवरसियर की अधिष्ठता में रह कर भुवन निर्माण करें तो अच्छा होगा। ठीक इसी प्रकार पाक-कर्त्ता यदि आर्य्यों की देख-रेख में पाक क्रिया करे तो शुद्ध और स्वच्छ भोजन बनेगा। स्नान और केश मुण्डन आदि स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखते हैं।

संसार में यह नियम है कि जो मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार योग्यता रखता है उससे वैसा ही काम लिया जाता है। किसी स्टेशनों पर पानी पिलानेवाले से कोई वेद कथा और शास्त्रार्थ नहीं करता। न कोई जज से कुलीपन का काम लेता है। यदि कोई कुली अपने को जज कहे तो दण्डनीय है। जज को कुली कहना भी इसी प्रकार अनुचित और असंगत है। हाँ कुली उन्नति करने में स्वतन्त्र हैं और जज भी अवनति की ओर स्वेच्छा से जा सकता है। जिसका स्वभाव, सेवा करते करते शूद्रता का पड़ गया है उसके लिये मनु जी कहते हैं कि—

शूद्रंत कारयेदास्यं क्रीतमक्रीतमेववा।

(मनु – ८-४। १३)

अर्थात्—अनपढ़ से सेवा ही का काम ले। चाहे मोल लिया हो या नहीं, आदि। क्या कोई बोधानन्द और अछूतानन्द अथवा ईसाई मिशन की किसी कुली को चीन का राष्ट्रपति, भारत का सम्राट् या इङ्गलैंड का महामन्त्री बना देंगे? योग्यता प्राप्त करने पर ही उन्नति कर सकता है अन्यथा नहीं। भारतीय इतिहास में सहस्रों उदाहरण ऐसे विद्यमान हैं जिनमें शूद्र और चाण्डाल तक से ऋषि और मुनि बन गये। अन्य देशों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं। मनु महाराज अथवा आर्य्यों को पक्षपाती कहना नितान्त अनुचित और गहरी भूल है।

लेबर-या शूद्र वही कहाते है जो सेवा करे। यहां सेवासे आशय उस सेवासे नहीं है जो देश सेवा अथवा धर्म सेवा कहाती है। किन्तु वही सेवा जो कोई गुण न रखने पर मेहनत मजदूरी कहाती है। शूद्रों की मेहनत मजदूरी के विषय में मनु महाराज की कितनी न्याययुक्त आज्ञा है, सो सुनिये—

"प्रकलया तस्य तैर्वत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथाहितः। शक्तिचावेक्ष्य दाक्ष्यंच भृत्यानाञ्च परिग्रहम्"।

(मनु १०१। २४)

अर्थ=उस नौकर की नौकरी, सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उसके कुटुम्ब का व्यय देखकर अपने घर के अनुसार उन (द्विजों) की जीविका नियत कर देनी चाहिये।" उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानिच। प्रलाकाश्चैव धान्याना जीर्णश्चैव परिच्छदाः।

(मनु १०।२५।)

अर्थ—शेष बचा हुआ अन्न, पुराने कपड़े, धान्यों को छटन और पुराने वर्तन इनको दे देने चाहिये।

पाठकगण आप विचारें कि इस आज्ञा से मेहनती मज़दूरों पर कौन सा अत्याचार हो गया। आज पूंजी पतियों और मज़दूरों में इसी लिये तो युद्ध हो रहा है कि पूंजीपति मज़दूरी पूरी नहीं देते। पुराने वस्त्रादि मज़दूरी से पृथक् पारितोषिक रूप में दे देना कौन सा पाप है ? यदि कोई ऐसा आपत्ति का समय आ जाय कि शूद्र धनी बनकर विद्वानों का मुक़ाबला करने पर उतारू हो जाय तो राजा को उचित है कि उस शूद्र को अर्थ दण्ड देकर उसका संपूर्ण धन हर ले। यह दण्ड केवल घमंडी मज़दूरों के लिये है न कि भलेमानस के लिये।

(मनु १० । १ २९)

बहुत ऐसे अयोग्य व्यक्ति भी हैं जो बिना प्रमाण पत्र के उच्च पुरुषों की रीस करते हैं, राजा को उचित है कि उनको देश निकाले की सज़ा दे। इसके लिये देखो मनु अध्याय १०। ९६। जो कुछ मनु ने लिखा है वह सब इस सभ्यता के समय में भी हो रहा है। मनु को दोष देना वृथा है।

सदैव संसार एकरस नहीं रहता। कभी कभी पूंजीपतियों और मजदूर पार्टियों में वैमनस्य इतना बढ़ जाता है कि एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दूसरे के नाश में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा समय कभी भारत में भी हो गया होगा। उस समय किसी पूंजीपति ने मानव धर्म शास्त्र में ऐसे वचन मिला दिये होंगे जो शूद्रों के अहित-कर होंगे। अतः ऐसे ऐसे श्लोक मनु अ० ४। ८०-८१। में विद्यमान हैं। ये सारे ही श्लोक त्याज्य हैं। दसवें अध्याय में मनुजी शूद्रों को धर्म का अधिकार बताते हैं" देखो—

(मनु १०। १२६, १२७)

कुछ शूद्र ऐसे होते हैं वेतन न पाकर दास अथवा क्रीतदास होते हैं। उसके लिये मनु महाराज ने यह नियम रक्खा है जो धन सम्पति उनके पास हो वह उसके स्वामी की हो। जब सारा शरीर ही स्वामी का है तो धनादि की क्या कथा ? इसके लिये देखो मनु अ० ८। ४१७) इस न्याययुक्त व्यवस्था के लिये मनु दोषी नहीं ठहर सकते।

हिंसा करना महा पाप है। बिल्ली न्यौला आदि मारने में भी पातक है और उतना पातक है जितना शूद्र के मारने में। बे पढ़ों से पढ़े लिखों की जान अधिक मूल्यवान् है। इस आज्ञा से शूद्रों की तुच्छता सिद्ध नहीं होती किन्तु बिलार आदि जन्तुओं के मारने में भी पाप बताया है। देखो मनु अ० ११। १३१

मनु महाराज ने अ० ८। २६७, २६८, २६९ में गाली देने का दण्ड विधान किया है। जो ब्राह्मण शूद्र को गाली दे तो

१२ पण दण्ड पावे। शूद्र ब्राह्मण को गाली दे तो बेंत आदि से पीटने योग्य है। इन श्लोकों में जहाँ शूद्र को गाली देना मना है, वहां ब्राह्मणादि द्विज भी किसी को गाली न दें, यह लिखा है। योग्य अयोग्य का विचार सर्वत्र ही रहता है। क्या एक विशप या वायसराय को गाली देने वाला उतना ही दण्ड पाता है जितना एक साधारण मजदूर को गाली देने पर? २७०वाँ श्लोक त्याज्य है। आठवें अध्याय के श्लोक २७१, २७२ भी त्याज्य हैं क्योंकि किसी महाद्वेषी के मिलाये हुए हैं। २७९ और २८० श्लोकों में बताया है कि जो अन्त्यज गर्व से किसी द्विजाति का मुक़ाबला करे तो उसका अङ्ग छेदन करे। इन श्लोकों में आगे पीछे क्रोध और अहङ्कार शब्द पड़े हुए हैं। इससे सिद्ध है कि यदि कोई नीच पुरुष किसी बड़े आदमी की तौहीन करे मनुष्यावस्था से वह अमुक अमुक दण्ड पावे। स्वार्थी पुरुष "अन्त्यज" के स्थान शूद्र" शब्द लगाते हैं सो अन्याय है। इस सारी व्यवस्था का सार है कि अयोग्य और योग्य में सदैव पहचान बनी रहे। कोई योग्य अयोग्य की समता न करे। इससे प्रबन्ध में गड़बड़ पड़ती है क्या हाउस आफ लार्ड में एक अन्त्यज बैठ सकता है? क्या जो आसन एक योग्य राष्ट्रपति के लिये नियत है, उस पर यदि कोई मूर्ख घसियारा बैठना चाहे तो दण्डनीय नहीं होगा? क्या एक महान् विद्वान् का सामना करने वाला मूर्ख दण्डनीय नहीं है? संसार में राज्य-व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, परिवार व्यवस्था और साधुव्यवस्था सब पृथक् पृथक् है? संपूर्ण परिषद् और मण्डल साधु मण्डल व योगियों की कुटियाँ नहीं हैं। नवीतरागों के विहार हैं। कहीं क्षुद्र कीटों के मारने का महा पाप है तो कहीं लक्षों सेनाओं का बध महापुण्य का कारण है।

क्रमशः

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

अब तक केशव बाबू के समाज के लिये कोई मन्दिर न था। जनवरी १८६८ ई० में ब्रह्म मन्दिर का निर्माण आरंभ हुआ। मार्च १८६८ ई० में बा० केशव चन्द्र सेन बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त (पुराना पश्चिमोत्तर देश) आदि में प्रचार करने के लिये निकले। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ और बम्बई आदि में प्रार्थना समाज खुल गये जिनको ब्रह्म समाज का एक प्रकार का बम्बई एडीशन (Bombay Edition) कहना चाहिये। इस यात्रा के पश्चात् मुंगेर में ठहरे। यहां उनके भक्ति के व्याख्यानों पर लोग ऐसे लट्टू हुये कि उनको साष्टांग दण्डवत करते और उनको महात्मा बुद्ध तथा महाप्रभु चैतन्य के समान समझते। कुछ ने यहाँ तक कहा कि हमने इनके सम्बन्ध में अलौकिक बातें भी देखी हैं। कुछ ने कहा कि ईसा में और केशव में बड़े छोटे भाई का ही अन्तर है।

यह बात केशव के बहुत से साथियों को पसन्द न आई। उन्होंने आक्षेप किया। केशव कहते थे कि यह बात मुझे भी प्रिय नहीं। परन्तु मैं दूसरों को कैसे रोकूं ? जैसे मेरा आत्मा स्वतंत्र है उसी प्रकार उनका भी स्वतंत्र है। वह मेरी पूजा उचित समझते हैं। श्रीयुत पी० सी० मजूमदार ने जो उनके साथियों में से थे इस विषय में यह लिखा है।

He did not want it, but when it came, he saw in it the hand of God. It was to him valuable testimony that the spirit of God was with him, that his work was true, and his time had come. He did not want to repel the men, who approached him with their homage of admiration, lest he might do harm to any part of their better nature, but he gave frequent hints that what they were doing was liable to misrepresentation. (P. 112)

"वह इसको चाहते न थे, परन्तु जब यह घटना हुई तो उन्होंने जाना कि इसमें ईश्वर का हाथ है। उनके लिये यह एक बहुमूल्य प्रमाण था कि ईश्वर का आत्मा मेरे साथ है, मेरा काम सच्चा

है और मेरा समय आ गया है। जो लोग उनके पास श्रद्धा और भक्ति के साथ आते थे उनको वह दूर करना नहीं चाहते कि कहीं उन लोगों की प्रकृति के उच्च अंश को हानि न पहुँचे। परन्तु उन्होंने बहुधा यह संकेत कर दिया था कि जो कुछ तुम लोग कर रहे हो उससे भ्रम फैलने की संभावना है"। (केशवचन्द्रसेन का जीवन चरित्र पृ० ११२)।

उनके ऊपर यह आक्षेप चलाया गया कि तुम अपनी पूजा कराते हो। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया वह ऊपर के शब्दों से प्रकट है। उन्होंने एक पत्र में लिखा:—

"I have never fallen into the error of supposing that if I pray to God, as a mediator for others, He will forgive or save them."

"अर्थात् मैंने कभी यह भूल नहीं की कि मैं यह मानलूं कि यदि मैं ईश्वर से दूसरों के लिये प्रार्थना करूंगा तो वह उनको क्षमा कर देगा या उनका उद्धार कर देगा"। केशवचन्द्रसेन महाशय अगस्त १८६८ में मुंगेर से शिमले चले गये क्योंकि लार्ड लारेंस ने उनको बुलाया था। वहाँ इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को विहित (जायज़) करार दिलाने के लिये मैरिज बिल (Marriage Bill) या विवाह का कानून पेश कराया। यह बिल १० सितम्बर १८६८ ई० को गवर्नर जनरल की कौंसिल में पेश हुआ और बहुत बड़े विरोध के बाद १९ मार्च १८७२ को "देशी विवाह का कानून" (Native marriage act) के नाम से पास हुआ। पहले इसका नाम (Brahmo-marriage Act) अर्थात् ब्रह्म-बिवाह-एक्ट रक्खा गया था। परन्तु आदि समाज के लोगों ने विरोध किया। वह उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे। वह अपने को हिन्दू समझते थे। इसलिये केशव बाबू बिल में कुछ परिवर्तन करने पर राज़ी होगये। एक्ट के अनुसार वर और बधू को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि हम "हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी बौद्ध, सिख या जैन मत के मानने बाले नहीं हैं"। केशवचन्द्रसेन के परामर्श से उनके ब्रह्मसमाज की ओर से जो प्रार्थना पत्र गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि

"Term 'Hindu' does not include the Brahmos, who deny the authority of the Vedas, are opposed to every form of Brahmanical religion and being eclectics admit proselytes from Hindus, Mohamedans, Christians & other religious sects."

अर्थात् 'हिन्दू' शब्द ब्रह्म समाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद को प्रमाणिक नहीं मानते, ब्राह्मण धर्म के

सभी पक्षों के विरुद्ध हैं और चूंकि अपने सिद्धान्तों को सब से चुन कर बनाया है इसलिये हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई और अन्यधर्म वाले सभी ब्रह्म समाज में प्रवेश करा सकते हैं"।

केशवचन्द्र के साथी 'हिन्दू' शब्द को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी अपनी आदतें भी हिन्दुओं जैसी ही थीं। वह विदेशी फैशन के विरोधी थे। परन्तु या तो वह 'हिन्दू' शब्द को त्यागते या विवाह-एक्ट को। उन्होंने अपने मन को यह संतोष दे लिया कि 'हिन्दू' शब्द मूर्ति पूजकों के लिये रूढ़ि हो गया है अतः हम इस अर्थ में हिन्दू नहीं हैं।

इसी बीच में केशव बाबू इंग्लेण्ड भी हो आये। १५ फर्वरी १८७० को गये और १५ अक्टूबर सन् १८७० ई० को बम्बई में वापिस आ गये। इङ्गलैण्ड में उनका बड़े समारोह से स्वागत हुआ। उनके व्याख्यानों की धूम रही। उनकी महाराणी विक्टोरिया से भी भेंट हुई। उन्होंने 'ईसाई' धर्म की बहुत प्रशंसा की। बम्बई में प्रार्थना समाज में उनका व्याख्यान हुआ। २० अक्टूबर को वह घर आये।

आने पर जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, विवाह का कानून पास हो गया था। केशवचन्द्र सेन ने इसको अपनी समाज सुधार सम्बन्धी विजय समझा और आध्यात्मिकोन्नति के निमित्त एक आश्रम खोला जिसका नाम "भारत-आश्रम" रक्खा गया। इसमें भ्रातृत्व का भाव उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कई ब्राह्म सामाजिक परिवारों को रक्खा। नर नारी भाई बहिन के समान रहते और अपना आध्यात्मिक सुधार करते थे। इस जीवन का मुख्य सिद्धान्त यह था कि अपने वैयक्तिक जीवन को सर्वथा भुला दिया जाय। इससे पहले प्रार्थना अपने कल्याण के लिये की जाती थीं। अब सबके कल्याण के लिये की जाने लगी। भोजन साथ, स्वाध्याय साथ, पूजा साथ, काम साथ। भारत आश्रम पांच वर्ष चला और अच्छा चला। परन्तु कुछ लोग केशव बाबू के विरुद्ध हो गये। उसके मुख्य तीन कारण बताये जाते हैं:—(१) केशव बाबू ने मनुष्य-पूजा और विशेष कर अपनी पूजा की प्रथा चला दी (२) केशव बाबू मानने लगे कि ईश्वर भक्तों के मन में अपने विशेष आदेश भेज देता है। (३) कुछ लोग सामाजिक सुधारों में केशव बाबू से सहमत न थे। उनका कहना था कि केशव बाबू स्त्रियों के लिये कुछ नहीं करते। बात यह है कि श्री केशवचन्द्र सेन जी स्त्रियों की उच्च यूनीवर्सिटी सम्बन्धी शिक्षा के विरुद्ध थे। वह बालविधवा विवाह के तो पक्ष में थे परन्तु स्त्री और पुरुष दोनों के पुनर्विवाहों को अच्छा नहीं समझते थे। वह बाल विवाह के कट्टर विरोधी थे परन्तु

वह चाहते थे कि स्त्रियों की मंगनी छोटी अवस्था में ही हो जाया करे। उनको यह बात पसन्द न थी कि लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में हो। यद्यपि वह अन्तर्जातीय विवाह के सबसे पहले पोषक थे तथापि उनका कथन था कि जहां तक उचित प्रबन्ध हो सके अपनी ही बिरादरी में विवाह करना चाहिये।

इस प्रकार उनके कुछ साथी उनसे अलग हो गये। अब केशवचन्द्रसेन अपना ध्यान योग और भक्ति की ओर अधिक देने लगे। उन्होंने एक बाग़ लिया जिसका नाम "साधन कानन" रक्खा। यहाँ वह और उनके कुछ साथी योग की साधना करते थे। यहीं से उनको एक नई स्फुर्ना हुई और उन्होंने नव विधान (New Dispensation) की नींव डाली। अब उनको निराकार-उपासना में आनन्द नहीं आता था। वह हिन्दू मन्दिरों के भजन, पुष्प, दीप, नैवेद्य की ओर आकर्षित हो चले थे। वे कभी कभी रहस्यमय गूढ़ बातें कह जाते थे जिनका अर्थ दूसरों की समझ में नहीं आता था। पहले तो उनकी प्रार्थनायें केवल शब्द-मय होती थी। अब वह इन के साथ साथ कुछ कृत्य भी चाहते थे। वह कभी किसी मन्दिर में नहीं गये, न मूर्ति पूजी। परन्तु हिन्दुओं की पूजा का सा भाव उनकी पूजा में भी झलकने लगा। नव-विधान या न्यू डिस्पेंसेशन का क्या सिद्धान्त था? इसका कुछ कुछ हाल केशव बाबू के शब्दों में ही सुनिये। जब १८८१ ई० का वार्षिकोत्सव हुआ और नव-विधान का झंडा गाड़ा गया तो उन्होंने कहा था:—

"Behold the flag of the new Dispensation. The silken flag is crimson with the blood of martyrs. It is the flag of the Great King of Heaven & Earth, the one supreme lord... Behold the spirits of all the prophets & saints of heaven assembled overhead, a holy confraternity in whose union is the harmony of faith, hope & Joy. And at the foot of the holy standard are the scriptures of the Hindus, Christians, Mahomedans & Buddhists, the sacred repositories of the wisdom of ages and the inspiration of saints; our light, and our guide. Four scriptures are here united in blessed harmony, under the shadow of this flag. Here is put together the international fellowship of Asia, Europe, Africa and America."

"अर्थात् नव-विधान के झण्डे को देखो। रेशमी झण्डा शहीदों के रक्त से लाल है। यह झण्डा है परम प्रभु का जो आकाश और भूमि का महाराजा है देखो सब पैग़म्बरों और स्वर्ग के सन्तों के आत्मा हमारे सिर पर हैं। जिनके सम्मिलन में ही श्रद्धा, आशा और आनन्द है। इस झण्डे के नीचे हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसल्मानों और बौद्धों के शास्त्र हैं। जिनमें युग-युगान्तर की विद्या और महात्माओं के आदेश हैं जो हमको प्रकाश और उपदेश देते हैं। इस झण्डे की छत्र-छाया में चार शास्त्र सम्मिलित हैं। यहाँ एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका का अन्तर्जातीय भ्रातृत्व विद्यमान है।"

क्रमशः

शंका-समाधान

शंका

दिनमान् दिखाना याने मेरी आजकल ग्रह दशा कैसी है पतड़े वालों से दिखाया करते हैं। क्या यह वेदोक्त हैं? इसका उत्तर देने की कृपा करें। —पूसराज शर्म्मा

समाधान

नहीं। यह केवल गपोड़ा है और भोले भालों को ठगने के लिये हैं। इसने संसार को बहुत दुख दिया है और शीघ्र ही इसको रोक देना चाहिये। यह झूठे भ्रम फैलाकर लोगों को कर्तव्य से च्युत कर देता है।

शंका

१—अक्सर लोग पेड़ की जड़ में छोटी छोटी मछलियां डाला करते हैं इसलिये कि पेड़ में कोई रोग न लगने पाये। यह अनुचित है या उचित?

२—जब लड़कियों की शादी होती है तो उस दिन लोग व्रत उपवास रहा करते हैं। यह ठीक है या नहीं?

प्रेषक श्री विश्वनाथ, ईसापुर जौनपुर।

समाधान

१—उचित नहीं। इससे हिंसा होती है!

२—उपवास की कोई आवश्यकता नहीं। यह प्रथा 'कन्यादान' का ठीक अर्थ न समझने के कारण चल पड़ी है।

शंका

१—"ग्रहन" चाँद पूर्णमासी, सूर्य्य अमावस्या को पड़ता है। यह क्या है? क्या होता है, सूतक क्यों लगता है? राउ-केतु क्यों फिरते हैं? बहुत खराब माना जाता है।

२—तारा २॥ महीना का माना है, जिसमें कोई भी काम न करें यह क्यों?

३—पंचक क्या हैं इसमें कोई मर जाता है तो पांच पुतला डाब का बना कर पहिले जलाया जाता है फिर मुरदा का दाग होता है। यह क्या है?

प्रेषक सिरेहमल कानूगो, लाडूनो।

समाधान

१—इसका कारण चन्द्रमा और पृथ्वी का घूमना है। 'सूतक' कोई चीज नहीं। केवल ढकोसला है।

२—"तारों के घूमने" से और "काम न करने से" कोई सम्बन्ध नहीं। यह ढकोसला है!

३—यह भी ढकोसला है। इन बातों को मानना ठीक नहीं!

भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान

[यह भाषण श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने प्रयाग महिला विद्यापीठ के उपाधि वितरण के समय वसंत पंचमी ता० ११ फर्वरी १९३२ को दिया था ।

—सम्पादक]

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

यजु० अध्याय ३६ मंत्र १२

प्रारंभ

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि प्रारंभ पुरुष रूप में आत्मा था । वह अकेला होने से सन्तुष्ट नहीं था । उसने इच्छा की कि उसका एक साथी हो । वह आत्मा विस्तार में इतना था जितना स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं । उस (आत्मा) ने अपने को दो भाग करके गिराया इस (विभक्त होने) से वे दोनों भाग पति और पत्नी हुये और इस प्रकार विभक्त होने से वे आधे दाने (दाल) के सदृश हुये[1] उपनिषद् के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गार्हस्थ (पति और पत्नी का संयुक्त) शरीर एक दाने के सदृश था । उसकी बराबर बराबर दो दालें होकर पुरुष और स्त्री हुईं, इसलिये स्पष्ट है कि उन दोनों में समता होनी चाहिये । वैदिक साहित्य में जगह जगह इस समता के चिह्न पाये जाते हैं ।

वेद और स्त्री जाति

अथर्ववेद ११ । ५ । १८ में कन्याओं को, ब्रह्मचर्य्य का पालन करके, युवा पति के साथ विवाह करने की शिक्षा दी गई है । स्वामी दयानन्द ने अपने पूना के एक व्याख्यान में कहा था कि "स्त्रियां आजीवन ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण करती थीं (सुलभा) और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन

(१) सहैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानम् द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धं वृगलमिव । (वृह० १।४।३)

और गुरु गृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे (उपदेश मंजरी पृष्ठ २०)

अथर्ववेद ३। २५। १-६ में स्त्रियों में इन गुणों के होने का विधान किया गया है:—मृदु, विमन्यु (क्रोधरहित), प्रिय वादिनी, अनुव्रता (पति के व्रत में सम्मिलित होने वाली), क्रतौ असः (पति के कार्य्यों में सहायता देने वाली)

अथर्व १। १४। १-४ में उन्हें कन्या (कमनीया), कुलपा, ते (पत्युः) भगम् (अर्थात् पति का ऐश्वर्य्य) कहा है।

अथर्व १। २७। ४ में स्त्रियों के नेतृत्व का इस प्रकार वर्णन है:—

इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः।

अर्थात् जिसे कोई जीत न सके, न कोई लूट सके; ऐसी इन्द्राणी आगे बढ़े। तै० सं० २। २। ८। १ में; "इन्द्राणी वै सेनायै देवता" कहकर इन्द्राणी का अर्थ सेनापत्नी किया गया है। अर्थात् उन्हें युद्ध में सेना के नेतृत्व का भी अधिकार वेद ने दिया है:—

अथर्व ३। ८। २ में स्त्रियों को शूर पुत्रों की देने वाली कह कर आवाहन किया गया है—

ऋग्वेद १०। ८५। ४६ में नवागता बधु को गृह की समाज्ञी कहा गया है।

यजुर्वेद में कन्या को अधिकार ही नहीं दिया गया बल्कि आवश्यक ठहराया गया है कि वह उस युवक से विवाह न करे जो एक से अधिक पत्नी रखने का इच्छुक हो।

यजुर्वेद १२। ६२ में उन्हें यह भी अधिकार दिया गया है कि दान धर्म रहित और दूसरे अवगुण रखने वाले युवकों से विवाह न करें।

यजुर्वेद १२। ९२ में स्त्री को "निऋते" (सत्याचरण करने वाली) कह कर, विधान किया गया है कि 'यम' = नियन्ता पुरुष और यम्या = न्याय करने वाली स्त्री के साथ पृथ्वी पर आरूढ़ हो, जिसका भाव यह है कि प्रबन्ध और न्याय दोनों विभागों में उन्हें भाग लेने का आदेश है। अब इस प्रकरण का और अधिक बढ़ाना उचित नहीं है जितना लिखा गया वह यह प्रगट कर देने के लिये पर्याप्त है कि वेद

में जो अधिकार पुरुषों के हैं वे ही सब स्त्रियों को दिये गये हैं और यही कारण है कि प्राचीन काल की स्त्रियों ने इतनी विद्योन्नति की थी। लोपा, मुद्रा आदि अनेक स्त्रियां वेद की ऋषिकायें थीं उन्होंने वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश किया और उनकी शिक्षा, स्त्री पुरुष, सभी को दी।

वाल्मीकीय रामायण और स्त्री जाति

लगभग वाल्मीकीय रामायण के रचना काल तक स्त्रियों का मान इसी प्रकार बना रहा—वाल्मीकीय रामायण में जगह जगह इसके प्रमाण मिलते हैं उनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया जाता है :—

(१) रामचन्द्र के युवराज होने की ख़बर सुन कर कौशिल्या ने प्राणायाम् करते हुये ईश्वर का ध्यान किया[1]।

(२) रामचन्द्र जब कौशिल्या के गृह में गये तो उनको हवन करते हुये देखा[2]।

(३) रामचन्द्र के वन जाने पर उनकी मंगल कामना से कौशिल्या ने घृतादि से हवन किया[3]।

(४) जब रामचन्द्र सीता के गृह में वन जाने की अनुमति लेने के लिये आये, तब सीता ने रामचन्द्र के निषेध करने पर भी उनसे कहा कि "यदि आप वन जावेंगे तो मैं तुम्हारे आगे चल कर रास्ते में जो झाड़ी और कांटे होंगे उन्हें साफ़ करती चलूँगी।"[4] उस (सीता) ने यह भी कहा कि "मुझे माता और पिता ने सब प्रकार की शिक्षा दी है इसलिये आपको 'किन्तु परन्तु' न करके, जो मैं कहती हूँ उसे मानना

---

(१) श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्। (अयो० ४। ३३)

(२) प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तः पुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्। (अयो० २०। १६)

(३) हावयामास विधिना राम मंगल कारणात्। घृतं श्वेतानि माल्यानि-समिधःश्वेतवसर्षपान्॥ (अयो० २५। २८)

(४) यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रस्ते गमिष्यामि मृदन्ती कुशकंटकान्। (अयो० २७। ७)

चाहिये।"[1] जब फिर भी रामचन्द्र ने सीता को अपने इरादे को छोड़ने का आग्रह करते हुये अवध ही में रहने की बात कही और कहा कि जब मेरे पीछे भरत तुम्हें नमस्कार करने के लिये आया करें तो उनके सामने तुम मेरी बड़ाई न करना क्योंकि राजा लोग दूसरों की प्रशंसा नहीं सुना करते हैं। तब सीता ने बड़ी तेजस्विता प्रदर्शित करते हुये, रामचन्द्र से कहा कि आप क्यों इस प्रकार की बातें करते हैं- जो आप जैसे राजकुमारों को शोभा नहीं देतीं। उसने यह भी कहा कि "यदि मेरे पिता (जनक) यह जानते कि रामचन्द्र पुरुष के रूप में स्त्री ही हैं तो वे तुम्हारे साथ मेरा विवाह कभी नहीं करते।"[2] इससे स्पष्ट है कि समय पड़ने पर स्त्रियां पुरुषों की ताड़ना भी कर सक्ती थीं।

(५) जब शत्रुघ्न मन्थरा को, यह जान कर कि सारी अशान्ति का कारण यही है, बध करने लगे तो भरत ने शत्रुघ्न से कहा कि स्त्रियां अबध्या:[3] हैं इसलिये तुम इसे मुआफ़ कर दो। भरत ने यह भी कहा कि यदि रामचन्द्र सुन लेंगे कि तुमने इस मन्थरा का बध कर दिया है तो याद रक्खो कि वे तुम से और मुझसे बोलना भी पसन्द न करेंगे[4]।

(६) जिस समय लक्ष्मण, रामचन्द्र जी के भेजे हुये पंपापुरी में, इस लिये प्रविष्ट हुये कि सुग्रीव को भर्त्सना करें तो सुग्रीव भयभीत हो कर स्वयं लक्ष्मण के सामने नहीं आया, किन्तु अपनी स्त्री तारा को

---

(१) अनुशिष्टास्मिमात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यम् यथा मया। (अयो० २७। १०)

(२) किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथलाधिपः। राम ! जामातरं प्राप्य स्त्रियम् पुरुषविग्रहम्। (अयो० ३०। ३)

(३) अवध्याः सर्व भूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।

(अयो० ७८।२१)

(४) इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतेध्रुवम्॥

(अयोध्या कांड ७८।२३)

भेजा और कहा कि "तुझको देखकर लक्ष्मण क्रोध न करेंगे क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष स्त्रियों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करते[1]।

रामायण के उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि उस समय तक वेदों की शिक्षानुसार स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और उनका समाज में समुचित मान था। महाभारत काल में इस मान में कमी हुई। द्रौपदी का जो अपमान, भीष्मपितामहादि के होते हुये, भरी सभा में हुआ वह इसका प्रमाण है। दुर्भाग्य से यह कमी उत्तरोत्तर बढ़ती गई और स्वामी शंकराचार्य्य जी के काल में यह अधोगति, पराकाष्ठा की सीमा को पहुंच चुकी थी।

स्वामी शंकराचार्य्य और स्त्री जाति

श्रीमद् शंकराचार्य्य के नाम से उनकी लिखी हुई वर्णित एक लघुपुस्तिका, प्रश्नोत्तरी के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ के उत्तर अत्यन्त आपत्ति-जनक हैं। एक प्रश्न है कि "नरक का द्वार कौन है"? उत्तर दिया गया है कि "स्त्री"[2] फिर एक दूसरा प्रश्न है कि "विश्वास पात्र कौन नहीं है"? इसका भी "स्त्री" ही उत्तर दिया गया है[3]। फिर एक प्रश्न है कि "कौन सा वह विष है जो अमृत के समान प्रतीत होता है।" उत्तर में वह विष "स्त्री" ही को बतलाया गया है[4]। इस प्रकार के और ऐसे ही अत्यन्त आपत्ति जनक प्रश्नोतर एक दर्जन से भी अधिक हैं, जो इस पुस्तक में दिये गये हैं। स्त्री जाति के अपमान की यह प्रवृत्ति कम नहीं हुई किन्तु बराबर बढ़ती ही गई। श्री तुलसीदास जी ने भी "ढोल गंवार" वाली चौपाई का ढोल पीट कर इसमें भाग लिया।

---

(१) त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः कचित्कुर्वन्ति दारुणम् ॥
(किष्किंधा ३३।३६)

(२) द्वारं किमेकं नरकस्य? स्त्रीम्।

(३) विश्वास पात्र न किमस्ति? नारी।

(४) किं तद्विषं भाति सुधोपमम्? स्त्रीम्।

स्वामी दयानन्द और स्त्री जाति

आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्येय केवल वेदों का प्रचार करना था। इसलिये उनके लिये अनिवार्य्य था कि वे स्त्री जाति की मान वृद्धि न करते। उन्होंने उदयपुर में एक ८, ९ वर्ष की बालिका के सामने नत मस्तक होकर देश वासियों को बतला दिया कि वे एक छोटी सी बालिका को भी मातृ-शक्ति के रूप में देखते हैं और चाहते हैं कि देश और जाति में "मातृवत्परदारेषु" की शिक्षा का फिर से मान होने लगे। श्रीयुत रंगा अय्यर M. L. A. ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Father India में उचित रीति से लिखा है कि "In the 19th century Rishi Dayananda Saraswati came as a Massiah to preach the restoration of women to their ancient glory". यह बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि स्त्री जाति के सम्बन्ध में अब जाति का दृष्टिकोण बदला हुआ है। अब प्रत्येक माता और पिता अपनी कन्या को सुशिक्षिता देखना चाहता है और प्रत्येक युवक, पढ़ी लिखी कन्या ही से विवाह करने का इच्छुक है। परिवर्तनकाल जाति के लिये बड़ा कठिन काल हुआ करता है। ऐसे समय की कुछ भी भूल विनाशक हो जाया करती है।

स्त्री जाति का परिवर्तन-काल

स्त्री जाति के भी इस परिवर्तनकाल में बड़ी सावधानी अपेक्षित है। कुछेक ध्यान में रखने योग्य सावधानियों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

(१) स्त्री और पुरुष मनुष्य जाति के दो भाग हैं और दोनों की, लोक सम्बन्धी आवश्यकतायें और कर्तव्य भी पृथक पृथक हैं। इसलिये उनकी शिक्षा पद्धति भी पृथक पृथक होनी चाहिये। जो लोग कन्याओं को शिक्षा दिलाने के उत्साह में, उन्हें वही शिक्षा जो पुत्रों को दी जाती है, दिलाने लगते हैं, बड़ी भूल करते हैं। सच तो यह है कि प्रचलित शिक्षापद्धति में देश की परस्थिति और जाति की आवश्यकताओं पर दृष्टि डालकर मौलिक परिवर्तन करने की जरूरत है तब वह पुत्रों के लिये भी उपयोगी बन सकती है और पुत्रियों के लिये तो उसे एक दम बदल देना पड़ेगा। मुझे प्रसन्नता है कि प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस पाठविधि के विभिन्नता

के सिद्धान्त को अपना रक्खा है और अनेक समझदार आदमी इसी प्रकार का मत रखने लगे हैं।

(२) दूसरी बात "सम्मिलित शिक्षा" (Co-education) है। प्राचीन काल से इस देश में यही सिद्धान्त बराबर माना और काम में लाया जाता रहा है कि बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। पश्चिमी देशों की नक़ल करके इस देश में कई जगह कन्या और पुत्रों को आश्रमों में इकट्ठा रक्खा गया और उन्हें एक ही शिक्षणालय में एक ही पाठ-विधि से शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। मुझे जहां तक मालूम हो सका है, प्रत्येक जगह इस परीक्षण में असफलता हुई। इसलिये इस सम्बन्ध में भी यही नियम प्रतिष्ठित रहना चाहिये कि दोनों बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। कुछ समय बीता जब अमरीका की एक शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट में यह शिकायत की गई थी कि अधिकतर स्त्री अध्यापिकाओं से शिक्षा पाकर और उनकी अनेक बातों का अनुकरण करने से लड़के Womanised हो रहे हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि इस समय शिक्षा पाने वाली कन्याओं में, शारीरिकोन्नति की ओर से उदासीनता आ रही है। इस कुटेव का फल यह है कि अनेक स्त्रियां पहले ही प्रसव-काल में मौत के गाल में समा जाती हैं। पुराना तरीक़ा, गृह सम्बन्धी सभी काम स्वयं करने का बहुत अच्छा था, परन्तु उन्हें तो अब पढ़ी लिखी स्त्रियां छोड़ रही हैं और उसके स्थान पर, और ही कोई व्यायाम करतीं, ऐसा भी प्रायः नहीं देखा जाता। इसलिये आवश्यक है कि कन्याओं को, विवाह से पहले और विवाह के बाद भी, किसी न किसी प्रकार का व्यायाम, चाहे वह गृह-कार्य्य के रूप में हो चाहे और किसी प्रकार का, अवश्य सेव करना चाहिये। माता का सब से बड़ा काम जैसा कि इटली के भाग्य-विधाता मसोलनी ने भी कुछ समय बीता कहा था—"बलवान पुत्र और बलवती पुत्रियों का पैदा करना है।" यदि माता स्वयं निर्बला है तो वह किस प्रकार बलवती सन्तान पैदा कर सकती है ? एक बार मुझे भ्रमण करते हुए, एक ग्राम के निकट, एक जङ्गली जाति (हाबूडा) की एक माता को बच्चा जनते हुये. देखने का अनायास अवसर मिल गया। मुझे

एक बड़े घने वृक्ष की छाया में, सड़क के किनारे, ग्रीष्म ऋतु की दुपहरी में एक दिन विश्राम करने के लिये बाधित होना पड़ा। उसी समय (हांबूडा) जाति का एक जत्था वहां आया और उसी वृक्ष की छाया में, वह भी ठहर गया। वहीं आते ही, उस जत्थे के साथ वाली एक माता के बच्चा पैदा हुआ। नाम मात्र की सहायता एक दूसरी स्त्री ने दी थी अन्यथा सारे काम स्वयं उसी बच्चा पैदा करने वाली माता ने कर लिये। थोड़ी देर के बाद वह माता उस बच्चे को एक टोकरे में लिटा कर और उस टोकरे को अपने सिर पर रख कर चल दी। कठिनता से इस सब काम में ३ घण्टे लगे होंगे। परन्तु पढ़ी लिखी मातायें ३ घण्टे नहीं किन्तु ३ सप्ताह में मुश्किल से काम करने के योग्य होती हैं। यह अन्तर, शारीरिक परिश्रम से उदासीनता ही का फल है।

(४) शारीरिकोन्नति के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है, कि कन्याओं के विवाह की आयु, सोलह वर्ष से किसी हालत में भी कम न हो—अल्पायु में विवाह होने का यही दुष्परिणाम नहीं होता कि स्त्रियां और उनकी सन्तान निर्बल होती हैं बल्कि इसका इससे भी अधिक भयंकर परिणाम; बाल-विधवाओं की संख्या-वृद्धि है। नीचे की सारिणी से इसका कुछ अनुमान हो सकता है :—

आयु वर्ष	विवाहिता स्त्रियों की संख्या	विधवा		योग (अन्य मतों की विधवाओं की संख्या सहित
		हिन्दू	मुसलमान	
०—१	१३२१२	८६६	१०९	१०१४
१—२	१७७५३	७५५	६४	८५६
२—३	४९७८७	१५६४	१६६	१८०७
३—४	१३५१०५	३९८७	५८०९	८२७३
४—५	३०२४२५	७६०३	१२८१	१७७०३
५—१०	२२१९७७८	७७५८५	१४२७६	९४२४०
१०—१५	१००८७०२४	१८१५०७	३६२६४	२२३०३२
योग	१२८२४०८३	२७३८६७	५७९६९	३४६९२५

उपर्युक्त सारिणी से बाल विधवाओं की संख्या प्रकट होती है। भला जिस देश में, एक एक दो दो वर्ष की आयु वाली कन्यायें एक दो नहीं अपितु हजारों की संख्या में विधवा हों क्या उस देश के पुरुष और

नोट—ये अङ्क १९११ ई० की जन-संख्या के चित्रों से लिये गये हैं।

स्त्रियों को भी पढ़ा लिखा कहा जा सकता है ? इन दुर्भाग्य वाली विधवाओं के कष्टों की कहानी बड़ी लम्बी है। अवकाश नहीं कि उसे यहां सुनाया जावे परन्तु इतना तो कह ही देना चाहिये कि अपने को बड़ा दयालु कहने वाले हिन्दू इन (विधवाओं) पर दया नहीं करते। यदि बाल-विधवाओं की भोली और निर्दोष आंखों से बहते हुये आंसुओं को देख कर तुम्हें दया नहीं आती तो तुम कैसे दयालु हो ?

अस्तु ! यदि सोलह वर्ष से कम आयु वाली कन्याओं का विवाह न होता तो यह साढ़े तीन लाख के लगभग विधवायें तो देश में न होतीं। मुझे प्रसन्नता है कि इन विधवाओं पर तरस खाकर दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा ने एसेम्बली में एक बिल पेश किया है, जिससे विधवाओं का भी कुछ स्वत्व दायभाग में ठहराया गया है। विधवायें सहायता पाने की अधिकारिणी हैं इसलिये उनकी जिस प्रकार से भी संभव हो, सहायता करनी चाहिये।

—— ——

———

समालोचना

धम्मपद—श्रीमान् पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० कृत हिन्दी अनुवाद सहित। प्रकाशक कला प्रेस प्रयाग। पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १) सजिल्द १।।)

महात्मा बुद्ध के हृदय में विश्वप्रेम का भाव भरा हुआ था। बुद्धत्व (यथार्थ ज्ञान) प्राप्त कर लेने के बाद वह जो कुछ उपदेश देते और कार्य करते थे वह सब शुद्ध, सात्विक, निस्वार्थ प्रेम के भाव से प्रेरित होकर। कुछ लोग उन्हें नास्तिक समझते हैं परन्तु ऐसे "विश्वप्रेमी-नास्तिक" उन आस्तिकों से करोड़ गुना श्रेष्ठ हैं जो आस्तिकता के परदे में झूठ बोलते और धोखा देते हैं अथवा गाड और खुदा के नाम पर अन्ध-श्रद्धा अन्ध-विश्वास और कदाचार फैलाते हैं तथा आडम्बर रचते, अन्याय और अत्याचार करते हैं। इस प्रसिद्ध पुस्तक में महात्मा बुद्ध के उन सदुपदेशों का सुन्दर मनोहर संग्रह है जिनको ग्रहण करके उनके जीवनकाल में ही करोड़ों मनुष्यों का चरित सुधर गया था। और उनके बाद तो बहुत से देशों में बौद्ध मत फैल गया।

हमारे पौराणिक भाइयों में जिस प्रकार गीता की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार बौद्धों में धम्मपद का सम्मान है। इसे बौद्धों की गीता कहना सर्वथा उचित है। अस्तु, मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त-कर्त्ता तथा आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम्० ए० ने धम्मपद का हिन्दी अनुवाद किया है। आरंम्भ में ३८ पृष्ठ की सुन्दर भूमिका है। भूमिका विद्वत्तापूर्ण और मनोहारिणी है, पढ़ने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को जी नहीं चाहता। भूमिका में सम्पूर्ण पुस्तक का सारांश भी लिख दिया है। पुस्तक में कुल २६ अध्याय हैं। एक अध्याय में तो महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट ही कहा है कि जाति से ब्राह्मण नहीं किन्तु सत्यता, दया क्षमा, शान्ति, संयम, विद्वत्ता, अहिंसा, सदाचार परोपकार आदि गुणों से ब्राह्मण कहता व मानता हूं।

धम्मपद के सब छन्द प्राकृत भाषा के हैं जो कि मोटे अक्षरों में छपे हैं। इसके बाद हिन्दी अनुवाद छपा है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर, सरल और सरस है। कागज छपाई सब उत्तम है।

महात्मा बुद्ध के उपदेश इतने मधुर, मनोहर हैं कि किसी भी मतवादी को अप्रिय नहीं लग सकते। उनके उपदेशों से प्रत्येक मत के लोग लाभ उठा सकते हैं। हमें आशा है कि हमारे आर्यसामाजिक और पौराणिक दोनों भाई इस ग्रन्थ-रत्न को पढ़कर लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। —कृष्णानन्द

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ४

(१)

अनुवाद

१६—अथ तृतीयं प्रहरति। द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमं रसं प्रजा उपजीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तादित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गो०—मौगिति।

१९-अब वह तीसरी बार प्रहार करता है नीचे का मंत्रांश पढ़कर:—

द्रप्सस्ते द्यां मास्कन्।

(यजु० १। २६)

"तेरा रस आकाश में सूख न जाये"। पृथ्वी का वही रस है जिसके द्वारा प्रजाओं का जीवन चलता है। इस प्रकार वह कहता है कि "द्यौलोक को न जा"। अब वह कहता है:—

"व्रज को जा.........मत छोड़"। (देखो १७ वीं० ब्रा० का अन्त)।

२०—स वै त्रियजुषा हरति। त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनमेवल्लोकैरभिनिदधात्य-द्धावै तयदिमेलोका अद्धो तयत्रयजुस्तस्मात्त्रियजुषा हरति।

२०—वह तीन यजुओं का जाप करके फेंकता है। यह तीन ही लोक हैं। इसको इन तीन लोकों द्वारा दबाता है। जो यह तीन लोक हैं वही यजु हैं। इस लिये तीन यजुओं से फेंकता है।

२१—तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तयदिमां ल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तयत्तूष्णीं तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्।

२१—चौथी बार मौन साधकर (बिना मंत्र पढ़े) फेंकता है—इन तीन लोकों के पार कोई चौथा लोक हो या न हो उससे भी इस दुष्ट शत्रु को भगा देता है। यह भी अनिश्चित है कि चौथा लोक हो या न हो और जो कुछ चुपचाप (बिना मंत्र के) किया जाय वह भी अनिश्चित है इस लिये चौथी बार चुपचाप फेंकता है।

[२]

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

यजुर्वेद पहले अध्याय के २४, २५, तथा २६ मंत्रों को जप करके स्फ्या द्वारा भूमि खोदने और मिट्टी फेंकने का विधान है।

[३]

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

(१) तस्माच्छरो नाम यद शीर्यत।

(१। २। ४। १)

चूंकि टूट गया, इसलिये (तीर का) नाम शर पड़ा' ('शृ' धातु का अर्थ हैं तोड़ना)

(२) इन्द्र के टूटे हुये वज्र के चार टुकड़े हुये (१) यूप (२) स्फ्य (३) रथ (४) शर। पहले दो से ब्राह्मण यज्ञ करते हैं। दूसरे दो से क्षत्रिय रक्षा करते हैं।

(१।२।४।२)

अध्वरो वै यज्ञः।

(१।२।४।५)

(३) 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। अथवा यज्ञ हिंसा रहित होता है।

(४) देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्या। (१।२।४।८)

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं।

———

शतपथ ब्राह्मण (सभाष्य)

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ५

[१]

अनुवाद

१—देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ-हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवदं खलु भुवनमिति ।

१—देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान बड़ाई के लिये झगड़ा करते थे। तब देव पराजित हो गये। असुरों ने सोचा कि हमारा ही यह सब जगत् है।

२—त होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ।

२—तब उन्होंने कहा—"आओ, इस पृथ्वी को बांट लें और इसको बांट कर इस पर रहें। अब इसको बैल के चमड़ों द्वारा पश्चिम से पूर्व तक बांटा।

३—तद्वै देवाः शुश्रुवुः । विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ।

३—तब देवों ने इस बात को सुना। असुर इस पृथ्वी को बांट रहे हैं। चलो वहां चलें जहाँ यह असुर बांट रहे हैं। क्योंकि यदि असुर पृथ्वी को आपस में बांट लेंगे तो हम कहां रहेंगे। तब वह यज्ञ को विष्णु के रूप आगे करके पहुंचे।

४—ते होचुः । अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजता स्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त—इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति ।

४—तब उन्होंने कहा, "इस पृथ्वी में हमारा भी बांट करो। हमको भी इसमें कुछ भाग दो।" असुरों ने इस पर डाह किया और कहा, "हम केवल इतना देंगे जितने पर यह विष्णु सो सके।"

५—वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडरे महद्वै नोऽदुर्ये नोयज्ञसम्मितमदुरिति ।

५—विष्णु बौना था। परन्तु देवों ने इसका बुरा न माना और कहा, "अगर उन्होंने यज्ञ के बराबर भाग दे दिया तो बहुत दे दिया।"

६—ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ।

६—उन्होंने पूर्वाभिमुख विष्णु को लिटाकर सब ओर से छन्दों द्वारा घेर दिया।

"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"।
(यजु० १ । २७)

गायत्र छन्द द्वारा तुझे दक्षिण की ओर घेरता हूँ।

त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।
(यजु० १ । २७)

त्रैष्टुभ छन्द से तुझे पश्चिम की ओर घेरता हूं।

जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।
(यजु० १ । २७)

जागत छन्द से तुझे उत्तर की ओर घेरता हूँ।

७—तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्वां पृथिवीꣳ समविन्दन्त तद्यदेनेनेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्तैवꣳ ह वाऽइमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद।

७—सब ओर से उसको छन्दों द्वारा घेर कर और पूर्व की ओर अग्नि रख कर उसके द्वारा पूजा तथा श्रम करते रहे। इसके द्वारा उन्होंने इस सब पृथ्वी को ले लिया। और चूंकि इसके द्वारा उन्होंने सब पृथ्वी जीत ली इसलिये इसका "वेदि" नाम पड़ा। इसी लिये कहते हैं कि जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी इसीके द्वारा सब पृथ्वी को प्राप्त किया। जो पुरुष इस बात को इस प्रकार समझता है वह इस सबको शत्रुओं से छीन लेता है और शत्रुओं को भाग रहित कर देता है।

८—सोऽयं विष्णुर्ग्लानः। छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच।

८—अब यह विष्णु थक गया। परन्तु सब ओर छन्दों से और पूर्व की ओर अग्नि से घिरा होने के कारण भाग न सका। तब औषधियों की जड़ में जा छिपा।

९—ते ह देवा ऊचुः। क नु विष्णुरभूत् क नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त—इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे।

९—तब देव कहने लगे —"विष्णु कहां गया? यज्ञ कहाँ गया"? उन्होंने कहा" सब ओर छन्दों द्वारा और पूर्व की ओर अग्नि द्वारा घिरा होने के कारण भाग तो सकता नहीं। इसलिये यहीं ढूंढो। थोड़ा सा खोद कर उन्होंने ढूंढा। तीन अङ्गुल पर पाया। इस वेदि तीन अंगुल गहरी होनी चाहिये। इसलिये पाङ्चि ऋषि ने सोमयज्ञ की वेदि तीन अंगुल गहरी बनाई।

दूसरा वर्ष समाप्त

दूसरे वर्ष का अन्तिम अंक पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है। अगले अंक से वेदोदय का तीसरा वर्ष आरम्भ होगा। इस दो वर्ष के काल में वेदोदय को १०००) से अधिक घाटा उठाना पड़ा है। देश में भी परिस्थिति इस समय बड़ी भयंकर हो रही है। पर हम हताश नहीं है। पवित्र उद्देश्य तथा पाठकों का प्रेम हमारे साथ है। यदि अगले वर्ष में हमारे ग्राहकों की कृपा रही तो वेदोदय में हमको घाटा न रहेगा। वेदोदय के पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि वे हमारी सहायता करना चाहते हैं, यदि वे समझते हैं कि 'वेदोदय' आर्य्य समाज, तथा वेदों का प्रचार कर रहा है तो कम से कम २ ग्राहक बनाकर अवश्य भेज दें। दो ग्राहकों का बनाना कोई बड़ी बात नहीं; अपने मित्रों को वेदोदय दिखाइये। यदि किन्हीं कारणों से आप स्वयं प्रार्थना न कर सकें तो हमको पता लिख भेजिये। हमारे कई प्रेमियों ने बहुत से ग्राहक बनाये हैं। विशेष रूप से पं० शिवचरणलाल जी, आर्य्य पुरोहित कालपी का नाम उल्लेखनीय है।

लेखक महोदयों के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं। यदि उनकी अमूल्य सहायता न मिली होती तो हम वेदोदय को इतना सुन्दर न निकाल पाते। हमें आशा है कि भविष्य में भी हमारे लेखक तथा पाठकों की ऐसी ही कृपा रहेगी।

मलवीय जयंती

गत ११ फर्वरी १९३२ को बसन्त पंचमी के दिवस पूज्य मालवीय जी की ७०वीं० वर्ष गांठ काशी में बड़ी धूमधाम के साथ मनाई गई। देश के सभी प्रमुख नेताओं की ओर से बधाइयां आई तथा अनेकों संस्थाओं की ओर से अभिनन्दन पत्र पढ़े गये। उन सबका उत्तर मालवीय जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में दिया। आपने कहा—"यदि मेरे किसी अनुचित कर्म से हमारी पवित्र और प्रिय जन्मभूमि को लज्जा से मस्तक अवनत करना पड़ेगा,

तो मैं चाहूँगा कि उसी क्षण मुझे मृत्यु प्राप्त हो।"

पं० मदनमोहन मालवीय ने वह काम किया है जो सर सय्यद अहमद खां ने मुसल्मान जाति के लिये किया था। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि मालवीय जी का कार्य्य सर सय्यद अहमद के कार्य्य से कहीं अधिक है। हिन्दू विश्व विद्यालय एक ऐसी संस्था है जिस पर समस्त हिन्दू जाति तथा भारतवर्ष को गर्व हो सकता है। मालवीय जी ने स्वर्गीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द के साथ शुद्धि तथा अछूतोद्धार का कार्य्य किया था। अब भी हिन्दू जाति के कार्य्य में हम उनको पीछे नहीं पाते हैं। ऐसा निस्वार्थ सेवी नेता हमारे बीच में बहुत दिनों रहे यही हमारी मंगल कामना है।

हमारी ईश्वर से पुनः प्रार्थना है कि मालवीय जी को चिरायु करे।

कानपुर के दो प्रमुख व्यक्ति

लगभग तीन मास में हो कानपुर के दो प्रमुख अर्य्यसमाज के कार्य्य कर्त्ता इस पृथ्वी से उठ गये। श्री रायबहादुर बा० आनन्द स्वरूप जी की मृत्यु से लोग दुःखित ही थे कि मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी की मृत्यु का समाचार मिला। इन दोनों व्यक्तियों की सेवायें बड़ी अमूल्य हैं और उन सेवाओं का विस्तृत वर्णन "अर्य्यसमाज के निर्माता" शीर्षक में निकलेगा। यहाँ पर संकेत रूप से इतना हो लिखा जा सकता है कि कानपुर का सुन्दर आर्य्यसमाज मंदिर जिसमें १ लाख रुपया लगा है, डी० ए० वी० हाई स्कूल कानपुर तथा डी० ए० वी० कालिज कानपुर की स्थापना इन दोनों के ही उद्योग से हुई थी। इन दोनों के लगातार परिश्रम से डी० ए० वी० कालिज स्थापित हो सका। मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी उत्तम कवि तथा लेखक थे। "आर्य्यवर्त्त" नामक उर्दू का साप्ताहिक पत्र उनके सम्पादकत्व में बहुत दिनों तक निकला। यह दोनों आत्मायें २५-३० वर्ष से लगातार साथ साथ काम करती रहीं और आकस्मिक रूप से इस लोक से भी वे एक साथ ही उठ गई। संयुक्त प्रान्त को उनकी मृत्यु से जो क्षति पहुँची वह अकथनीय है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को सद्गति दे।

(भाग ३, ४)

[चैत्र १९८८ से फाल्गुन १९८८ तक]

—:०:—

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल०-एल० बी०

———

प्रचारार्थ वार्षिक मूल्य २)

अनुक्रमणिका

कविता

अनुरंजन (कविता)—[कवि "कर्ण" महोदय] २८१, ३६१

अपनी असमर्थता—[श्री हरिशरण जी श्रीवास्तव 'मराल' बी० ए०, एल० एल० बी०, मेरठ] ३२१

आर्य समाज का पहला नियम—कविता [श्री विश्वप्रकाश] २४१

ईश्वर कहाँ है ?—[श्री० पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] २०१

ईश्वर गरिमा (कविता) [श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"] १६१

ऋषि की स्मृति—कविता—[श्री० पं० राजाराम 'पाण्डेय' "मधुप"] ३९५

दयानन्द ऋषि आयेंगे—कविता—[श्री पं० शिवचरणलाल जी आर्य पुरोहित, कालपी] १७३

दो नेत्र—कविता—[श्री विश्वप्रकाश] १

प्रार्थना—कविता—[श्री पं० राजाराम पांडेय "मधुप"] ... ४१

फूल—कविता—[श्री सत्यप्रकाश] ४५१

भक्त की भावना--कविता—[वैदिक धर्म विशारद पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०, एल-टी०] ११६

मैं और फूल—कविता—[श्री० विश्वप्रकाश] ... ८१

महा-पुरुष—कविता—[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुम"] ४०१

वेदोदय—कविता—[श्री स्वा० केवलानन्द सरस्वती] २११

शुभागमन—कविता—[श्री कवि "मर्ण" महोदय] १२१

हमारा सर्वस्व (कविता)—[श्री पं० सूर्य देव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०] ४४१

लेख

आर्य जीवन की आवश्यकता—[श्री० राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा] २०३

ईश्वर की भक्ति—[श्री० पं० कृष्णानन्द जी, प्रयाग] ४८, ९७,

उर्वशी और पुरुरवा—[श्री० पंडित शिव शर्मा जी, महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, आगरा] ८२, १२२

ऋषि दयानन्द और आर्य समाज—[श्री पं० श्रुतबन्धु शास्त्री वेदतीर्थ आचार्य गुरुकुल सोनगढ़ काठियावाड़] २९१

कुरान की छानबीन—[श्री पं० देवीदत्त जी, टेम्परेन्स प्रीचर] ... २६१

छन्द और स्वर—[श्री० सत्यप्रकाश एम० एस० सी०, एफ० आई० सी० एस०, सम्पादक 'विज्ञान'] ५

तपोवन की कथायें—[स्नातक पं० शङ्करदेवजी, गुरुकुल सूपा] १५

१—शिष्य सत्यकाम ...

२—गुरुपत्नी का वात्सल्य ... ५६
३—शिष्य उत्तङ्क ... १०६
४—यज्ञ-रक्षा ... १३३
५—ब्रह्मवेत्ता राजा अश्वपति १७१
६—उषस्ति मुनि और आपद्धर्म की मर्यादा ... २०९
७—राजा जानश्रुति और ब्रह्मज्ञान का वेतन ... २७३
८—माता कुन्ती और कर्ण—२९३
९—मुनि विश्वामित्र और राम लक्ष्मण ... ३२८
१०—शृङ्गी मुनि का तपस्तेज ३७४

धर्म विजय—श्रीमती सुदक्षिणा देवी वर्मा, बी० ए०] ... २४९

प्रार्थना केवल वेद मन्त्रों से ही करनी चाहिये—[पं० श्रुत बन्धु शास्त्री, वेदतीर्थ आचार्य, गुरुकुल सोनगढ़ काठियावाड़ ८८

प्रेत विद्या—प्रहसन १५३

भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान—[श्री महात्मा नारायण स्वामी जी] ४६५

भारतवर्षीय आर्य—श्री पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक आर्य, प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रांत... ३३५, ४५४

भारत की धार्मिक जागृति—१९वीं शताब्दी में—[श्री प्रेम बहादुर वर्मा, बी० एस० सी०, बनारस] ५८

मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता—श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए० ... ९१

मांस सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—[राजरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा] ४१७

मणिमेकलै में सांख्य दर्शन—[श्री० स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ लाहौर] ... १६९

मोजजों का अन्ध-विश्वास—[श्री पं० कृष्णानन्दजी ... ३१५, ३३७,

मातृ ज्योति—
१—सुखी परिवार—[श्री विश्वप्रकाश] ... २८
२—एक राजपूत रमणी [कुसुम] २९
३—वैदिक वधू—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ११४ १४५, १८९, २२९, २७७, ३११

यज्ञोपवीत या जनेऊ—[श्री० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] ३६४

यज्ञोपवीत का महत्व—[श्री० पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार विद्यावाचस्पति, बंगलौर] ४०४

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द—[श्री० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०] १८३, २२१, २४२, ३४८, ३७६, ४०९ ४६०

वेद और विकासवाद—[श्री० प्रो० धर्मदेव [illegible] वस्पति, गुरुकुल कांगड़ी .. १३४

वेदार्थ और स्वामी दयानन्द—[श्री बा० श्यामसुन्दरलाल जी एडवोकेट, मैनपुरी] ... ४२ २८४, ३२३, ४४३

वेदों की झांकी—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] १३ ५४, ८६, १२३, १६७, २०५, २५६ २९७, ३३३, ३८१, ४०७, ४५२

वैदिक राहु—श्री० पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी० (गणित) बी० एस० सी० आनर्स] ... ३८३ ४२६

वैदिक त्रैतवाद—श्री० बा० पूर्णचन्द जी बी० ए०, एल० एल० बी, एडवोकेट ... १६४

वेदों की संसार के लिये आवश्यकता—[श्री पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ... ३१

वेदों के कतिपय नामों की परिभाषाएँ—[श्री० पं० शिवचरण लाल, आर्य पुरोहित कालपी] २२७

शतपथ ब्राह्मण सभाष्य] ... २५, ६९, ११७, १५७, १९५, २३५, २७५, ३५५, ४३३, ४७५

शङ्का समाधान—२३, ६८, १०९, १४६ १७४, २१९, २६९, ३५३, ४६३ ४६४

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज और वेद-भाष्य—[श्री पं० शिवशर्मा जी आर्य महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, यू० पी०] २

आर्य समाज के निर्माता—

१—श्री स्वामी नित्यानन्द जी सरस्वती [श्री विश्वप्रकाश जी, बी० ए०, एल-एल०बी] ... ३५

मेरी जीवन कथा—[श्री राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी बड़ौदा १४७ १७५, २१२, २६५

३—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी [श्री पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ... ३०३, ३४४, ३९६, ४२०

समालोचना—

१—वेदोपदेश, आर्यों का प्राचीन गौरव ... १०५

२—स्त्री शिक्षा, शतपथ में एक पथ १९५

३—भूलों की भूलो [श्री पं० कृष्णानन्द जो] शान्ति के पथ पर २०८

४—त्याग की भावना, वाणी, मध्य देशादि वैश्य सेवक ... ३३२

५—सुधा ... ३८०

६—वैदिक त्रैतबाद ... ४३७

७—धम्मपद ... ४७४

सम्पादकीय—

१—नया वर्ष ३१

२—सायणाचार्य और नियोग ७१

३—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन १११

४—वेद प्रचार १५१

५—पृथ्वी की आयु १९१

६—आर्य समाज फूलो फलो २३१

७—अन्ध विश्वास के भयंकर परिणाम २७१

८—हृदय की दिवाली ३११

९—सारनाथ का मन्दिर ३५१

१०—ज्योतिष पर पाश्चात्य वैज्ञानिक ३९१

११—द्वितीय आर्य महा सम्मेलन ४३८

१२—दूसरा वर्ष समाप्त, मालवीय जयंती, कानपूर के दो प्रमुख पुरुष ४७१

सम्भाषण—श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ३८५

स्वर्ग १११, १२७

स्वामी दयानन्द और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन—[श्री बाबू पूर्णचन्दजी बी० ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट आगरा] १८

हमारे पर्व दिवस—[श्री० पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय, बी० ए०, एल० टी० २५८ २८७

Reg. No. 2041.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य २॥)

एक प्रति का ।)

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press. Zero Road. Allahabad.

भाग ४] मार्च, सन १९३२ [पूर्ण संख्या ३४

सम्पादक

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये २।।)

श्री पं० गंगाप्रसाद, उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१–हमारा सर्वस्व—(कविता)–[श्री पं० सूर्य देव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए०] ४४१

२–वेदार्थ और स्वामी दयानन्द–[श्री बाबू श्याम सुन्दरलाल जी ऐडवोकेट, मैनपुरी] ४४३

३–फूल—कविता–[श्री सत्यप्रकाश] ४५१

३–वेदों की झांकी–[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४५२

५–भारतवर्षीय आर्य–[श्री पं० शिव शर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त] ४५३

६–राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४६०

७—शंका समाधान– ४६४

८–भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान–[श्री० महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज] ४६५

९—समालोचना ४५४

१०–शतपथ ब्राह्मण ४६०

११–सम्पादकीय– ४७९

श्री० पं० मदनमोहन मालवीय जी

आपकी ७०वीं वर्ष गांठ बसंत पंचमी को बड़ी धूमधाम से काशी नगर में मनायी गई।

कला प्रेस, प्रयाग।

ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४	फागुन संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, मार्च १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२	संख्या ६ पूर्ण सं २४

हमारा सर्वस्व

[पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० ए०]

परमेश का प्रसारा, संसार का सहारा।
वर वेद धर्म प्यारा, सर्वस्व है हमारा ॥ टेक ॥
करते सदा रहे थे, योगीश मान जिसका।
तरते सदा रहे थे, ले गेय ज्ञान जिसका ॥
सुरलोक का सितारा।
सर्वस्व है हमारा ॥ १ ॥

मुनि विश्व से पृथक हो, वन में निवास करते।
स्वाध्याय से अथक हो, परमार्थ आश करते ॥
प्रभु प्रेम का पिटारा।
सर्वस्व है हमारा ॥ २ ॥

बहु बाल ब्रह्मचारी, बन ज्ञान के भिखारी।
श्रुति देवता पुजारा, थे पीत वस्त्र-धारी॥
व्रत वेद हेतु धारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ३॥

वर्चस्वि ब्राह्मणों को, सुर तेज मान दाता।
वर वीर क्षत्रियों को, बल ओज का विधाता॥
विट् शूद्र का सहारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ४॥

परमेश! जब मरें हम, तो वेद वेद रटते।
बलिदान निज करें हम, पीछे कभी न हटते॥
हो वेद अमृतधारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ५॥

प्राचीन आर्य्यजन का, सर्वस्व वेद ही था।
जीवन तथा मरण का, उद्देश्य भी वही था॥
श्रुति "सूर्य" का उजारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ६॥

वेदार्थ और स्वामी दयानन्द

[भाग ४, अंक २१ से आगे]

[श्री बा० श्यामसुन्दर लाल जी एडवोकेट, मैनपुरी]

पिछले अंक में, मैंने निवेदन किया था कि "कृष्ण" एक दूसरा शब्द है जो अवैदिक और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में योगिराज श्री कृष्णचन्द्र महाराज के लिये प्रायः रूढ़ि होगया है और चूंकि उपरोक्त महाराज ब्रह्मबल और क्षात्रबल दोनों में अद्वितीय थे, योगियों में योगीश्वर और पुरुषों में पुरुषोत्तम थे, उनके अद्वितीय गुणों का हिन्दू समाज पर इतना अधिक प्रभाव खचित हो गया कि वह कालान्तर में साक्षात् परमात्मा के अवतार माने जाने लगे और उपरोक्त शब्द उनके लिये पीछे से रूढ़ि बन गया। इस शब्द का सम्बन्ध उपरोक्त कृष्ण महाराज से न जाने कितनी शताब्दियों अथवा सहस्राब्दियों से इतना घनिष्ठ हिन्दू जाति में जुड़ गया है और प्रत्येक हिन्दू (आर्य्य) मा का दूध पीने के समय से आजीवन उक्त शब्द को उपरोक्त महापुरुष के साथ साथ जुड़ा हुआ सुनने और पढ़ने का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसके लिये यह मानना असम्भव सा हो जाता है कि यह शब्द संस्कृत साहित्य में सामान्यतया किसी अन्य अर्थ में भी आ सकता है। इस सब का फलस्वरूप प्रतिफल यह हुआ है कि संस्कृत साहित्य में कहीं पर 'कृष्ण' शब्द के आने पर तत्काल स्वभावतः उपरोक्त कृष्ण महाराज का भाव हमारे नेत्रों के सन्मुख नृत्य करने लगता है।

इस लेख में हमको यही दिखलाना है कि वेदों का 'कृष्ण' एक स्थान पर नहीं किन्तु सम्पूर्ण अनेक स्थलों पर स्पष्टतया कृष्ण (काला) वर्ण अथवा आकर्षण गुण का द्योतक होकर, कहीं पर मेघ का विशेषण है, कहीं पर भौतिक अग्नि और विद्युत का विशेषण है, कहीं पर प्राकृतिक आकर्षण (Gravitation) का ग्राहक है इत्यादि परन्तु ऐतिहासिक उपरोक्त कृष्ण महाराज के अर्थ में एक स्थान पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

मैंने इस बात के कहने का कि 'कृष्ण' शब्द वेदों में एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का ग्रहणकर्त्ता नहीं है क्यों साहस किया है इसका एक हेतु तो यह है कि सब के सब स्थल स्फुटतया उपरोक्त दो अर्थों में से किसी न किसी

एक अर्थ को अपने साथ लिये हुए दृष्टि पड़ रहे हैं तथा द्वितीय हेतु यह है कि श्री सायणाचार्य्य महाराज जो ऐतिहासिक अर्थ की गंध पाते हुए भी अपने भाष्य में कभी ऐतिहासिक अर्थ के देने से नहीं चूकते इस 'कृष्ण' शब्द का एक स्थान पर भी ऐतिहासिक अर्थ देने का साहस नहीं करते।

'कृष्ण' शब्द किसी न किसी विभक्ति में वा अन्य शब्द के साथ मिल कर ऋग्वेद में ६४ स्थानों पर, यजुर्वेद में २५, सामवेद ९ तथा अथर्ववेद में ३२ स्थानों पर विद्यमान है; परन्तु एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का पता नहीं है। प्रत्येक मन्त्र को उद्धृत कर और उसका अर्थ देकर प्रकट करना कि वास्तविकता इसी प्रकार है विज्ञपाठकों का समय खोना उचित प्रतीत नहीं होता, अतएव मैं केवल एक ऋग्वेद मन्त्र को इस कारण से प्रस्तुत करना उचित समझता हूं कि उक्त मन्त्रस्थ 'कृष्ण' शब्द को स्वर्गीय श्री पं० ज्वालाप्रसाद मुरादाबादी ने ऐतिहासिक 'कृष्ण' के अर्थ में व्याख्यात करने का प्रयास किया है और उस पर श्री सायणाचार्य्य और महर्षि दयानन्द का भाष्य भी उपस्थित है जिससे ज्ञात होगा कि उक्त पण्डित जी का अर्थ उस स्थल पर ठीक नहीं बैठता।

मंत्र निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णु अर्चिर्वपुषामिदेकं यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः।"

(ऋ० ४-७-९)

उक्त मन्त्र का सायण भाष्य निम्न है :—

"हे अग्ने ! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमन मार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति। भाः तव सम्बन्धिनो दीप्तिः, पुरः पुरस्ताद् भवति। चरिष्णु संचरण शीलम् अर्चिः त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित मुख्यमेव भवति यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भत्व जननहेतुमरणिं दधतेह धारयन्ति खलु। सत्वं सद्यश्चित्सद्यएव जात उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतोभवस्येव।"

अर्थात्–हे अग्ने तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है, चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुए यजमान लोग ज्यों ही तेरे गर्भरूप अरणि को धरते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है।

तात्पर्य्य यह है (स्वर्गीय श्री० पं० तुलसीराम स्वामी के भास्कर प्रकाश से उद्धृत) कि अग्नि का मार्ग काला है। जहां होकर आग निकलती है, वहां काला

पड़ जाता है। आग के साथ साथ आगे आगे उसका प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का प्रकाश तत्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञकर्त्ता लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं तो वह तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमान के दिये हुए हविभाग को वायु आदि देवों को पहुंचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में गाया गया है।

उक्त अर्थ में इस बात के संकेत करने की आवश्यकता है कि श्री सायणाचार्य्य ने मन्त्रस्थ 'अप्रवीता' शब्द को बहुवचनान्त लेकर (अनुपगता यजमानाः) समीप न गये हुए यजमानों का किया है और 'दधते' शब्द को जो एक वचनान्त क्रिया है (वचन व्यत्यय से) बहुवचनान्त मान लिया है और उसका (धारयन्ति) धारण करते हैं ऐसा अर्थ किया है क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर व्याकरण के अनुसार ऐसा कर सकने का विधान है। परन्तु अन्यथा सब प्रकार से श्री सायण का दिया अर्थ आधिभौतिक अर्थ में सुसंगत हो जाता है। किसी प्रकार की कोई ईंचा खींची उक्त अर्थों में दृष्टि नहीं पड़ती। यह ध्यान रखने की बात है कि सर्वोत्तम अर्थ वही होता है जिसमें यथा समय सम्भव 'व्यत्यय' का आश्रय कम लिया गया हो क्योंकि 'व्यत्यय' का अर्थ ही यह है कि साधारण नियम के प्रतिकूल कोई अनियमता पर नियम अङ्गीकृत करना पड़े।

अब इसके आगे मैं श्री० पं० ज्वालाप्रसाद जी का दिया हुआ अर्थ जो उन्होंने अपने रचित पुस्तक दयानन्द तिमिर भास्कर में दिया है उद्धृत करता हूं जो निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम इति हे भूमन्! ते तव रुद्ररूपेण पुरस्तिस्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरः स्थूल सूक्ष्मकारण देहान् ग्रसतस्तुर्य्यस्वरूपस्य यत्कृष्णंभाः सत्यानन्द चिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिर्ज्वालावदंश मात्रं समष्टिः जीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्त्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतंगमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निगडे गुप्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकी पुत्रोयति छान्दोग्ये देवव्याएव कृष्ण मातृत्व दर्शनात् सागर्भं स्वगर्भं दधते धारयति दध धारणे इत्यस्य रूपमह प्रसिद्धं सत्वंजातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् संघद्दु सघएव उ निश्चितं दूतः दुनोति इति दूतः मातुः खेदकरोऽति वियोग दुःखप्रदो भवसीत्यर्थः एतेन देवकी पतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितिम्।"

अर्थात्—हे भूमन्! आपका जो सच्चिदानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्र

रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होवें जिन आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूप से वर्त्तमान है और जो कृष्णभा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ ग्रस्त देवकी गर्भरूप से धारण करती भई। छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए (और उसके वियोग जन्म दुखसे कारण होकर दूत हुए) इससे श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिन्दंशत्व वो धन किया।

उपरोक्त अर्थों को ऊपरी दृष्टि से देखने' से ऐसा मालूम होता है कि भाष्य-कर्त्ता ने 'व्यत्यय' का आश्रय न लेते हुए भी 'कृष्ण' शब्द के अर्थ में एक प्रकार का गौरव उत्पन्न कर दिया है। विज्ञ पाठक यह भी बलपूर्वक कह सकते हैं कि माना यह बात ठीक है कि उपरोक्त मन्त्र का ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण उक्त सातवें सूक्त का देवता अग्नि है और इसलिये उपरोक्त मन्त्र में अग्नि का ही विषय माना जा सकता है और इसलिये श्री सायणा-चार्य्य का अर्थ अग्नि को देवता मानकर जो उपरोक्त भांति किया गया है वह एक अंश में ठीक हो परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'अग्नि' देवता के होने से केवल भौतिक अग्नि का ग्रहण किया जा सके अपितु सम्भव है कि अग्नि देवता से तात्पर्य विद्युत, विद्वान्, सभेश, सेनापति, आत्मा, परमात्मा आदि किसी एक का हो क्योंकि अग्नि शब्द इन सब अर्थों में कहीं न कहीं वेदों में विद्यमान पाया जाता है और महर्षि दयानन्द ने भी अग्नि शब्द के अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक आध्यात्मिक प्रभेद से उक्त विविध पदार्थों के लिये ग्रहण किये हैं। मेरी सम्मति में यह तर्क सर्वथा सुसंगत है और श्री सायणाचार्य्य के विरुद्ध अन्य प्रकार का अर्थ करने में उक्त पण्डित जी सब प्रकार से अधिकारी थे। परन्तु मैंने श्री सायण का अर्थ इस अभिप्राय से नहीं दिया है और न श्री सायण ने वेदस्थ 'कृष्ण' शब्द को कहीं भी ऐति-हासिक 'कृष्ण' के अर्थ में लिया है इस हेतु से निवेदन की है। किन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी वा अन्य को उसके विरुद्ध अर्थ करने का अधिकार नहीं है किन्तु उपरोक्त निवेदन का तात्पर्य यह है कि पौराणिक सब के सब पंडितों पर श्री सायणाचार्य्य की धाक इतनी अधिक है और वह उनमें इतने मान्य समझे जाते हैं कि उनके विपरीत भाष्य को यह पण्डित महोदय किसी प्रकार मानने को तय्यार नहीं होते और यदि ऐसे सर्वमान्य

आचार्य्य को ऐसे समय में 'कृष्ण' शब्द के अर्थ ऐतिहासिक कृष्ण से नहीं सूझे जब कि, भगवान् कृष्ण का अवतार हिन्दू जाति में प्रचुर रूप में प्रचलित था और जब वेद के ऐतिहासिक अर्थों की भरमार थी तो विज्ञ पुरुष के लिये यह निष्कर्ष सुगमता से निकल आता है कि इस मन्त्र अथवा 'कृष्ण' शब्द को लिये हुए अन्य मन्त्रों में ऐतिहासिक कृष्ण का प्रवेश नहीं है।

जो हो कोई पुरुष न्यायतः किसी अन्य को उस अधिकार से वञ्चित नहीं कर सकता जो उसको उक्त प्रकार प्राप्त है और इसलिये इस बात को मानकर की श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी को श्री सायणाचार्य्य के अर्थों से विपरीत अर्थ दे सकने में सब प्रकार से अधिकार था उनके अर्थों की इस अभिप्राय से मीमांसा करनी आवश्यक है कि उन्होंने जो कुछ अर्थ दिया है वह सुसंगत है वा नहीं और शब्दों के अर्थों में कोई बलात् खींचा तानीं तो नहीं है।

पण्डित ज्वालाप्रसाद जी के उपरोक्त अर्थों से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस मन्त्र का देवता भूमा ग्रहण किया है और भूमा परमात्मा को कहते हैं और अग्नि शब्द परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है अतएव अग्नि को भूमा नाम से सम्बोधन करने में उक्त पण्डित जी अर्थ करने के मर्यादा के भीतर ही हैं।

पुनः "कृष्णांभा" शब्द का अर्थ उन्होंने सत्यानन्द चिन्मात्र रूप का अंगीकृत किया है अतः यह अर्थ भी शब्दार्थ से विरुद्ध प्रतीत नहीं होता क्योंकि आकर्षण करने वाला तेज सरलता से उक्त अर्थ का द्योतक हो सकता है। इसके आगे 'राम' शब्द का अर्थ उक्त पण्डित जी ने (प्राप्नु याम) "हम प्राप्त होवें" का किया है और यह अर्थ भी व्याकरण के अनुकूल ही है क्योंकि 'राम' शब्द मार्ग का भी वाचक है और बहुवचनान्त उत्तम पुरुष के साथ क्रिया का भी रूप है। पुनः आगे चलकर श्री० पण्डित जी 'दूत' शब्द का अर्थ "दुनोति इति दूतः" ऐसा करते हैं। सो यह अर्थ भी व्याकरण और साहित्य के अविरुद्ध है क्योंकि दूत शब्द का जहां अन्य अर्थ होता है वहां यह अर्थ भी (टुदुउपतापे) धातु से निष्पन्न होता है परन्तु आगे चलकर जब पण्डित जी "अप्रवीता" शब्द का अर्थ 'देवकी' का करते हैं तो वह एक ऐसी चेष्टा करते हैं जिसके लिये उनको कोई आधार न किसी भाष्य का प्राप्त है और न उस अर्थ शैली (यौगिकार्य की शैली) का ही सहाय उनको मिलता है जिसका आश्रय लेकर निरुक्ताचार्य्य और स्वामी दयानन्द के मन्तव्यानुसार उन्होंने अन्य शब्दों के अर्थ किये हैं। 'अप्रवीता' शब्द का अर्थ निरुद्धगति अथवा एकान्त सेवी स्त्री का

होना समझ में आ सकता है क्योंकि गर्भाधान के समय ऐसा करना स्त्री के लिये प्राकृतिक धर्म है परन्तु सामान्य स्त्री जाति को छोड़ यह 'अप्रवीता' शब्द 'देवकी' में रूढ़ि है अथवा देवकी का अर्थ दे सकता है यह बात किसी प्रकार बुद्धि संगत नहीं है। छान्दोग्य उपनिषत् का "कृष्णाय देवकी पुत्राय" यह वाक्यखण्ड जो हेतुरूप से उक्त पण्डित जी ने उद्धृत किया है उससे 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने के लिये कोई सहायता नहीं मिलती। वहां तो केवल इतना प्रसंग आया है कि एक अंगिरा वंशोत्पन्न घोर नामा ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को उपदेश दिया कि हे कृष्ण अन्तकाल में उपासक तीन पदों का जप करे इत्यादि और इस उपदेश को सुन कर कृष्ण तृप्त हो गये यथा :—

"तद्धैतत् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायों क्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलाया मेतत्त्रयं प्रति पद्येताक्षितमस्य च्युतमसि प्राणस ँ शित मसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।"

(छा० ३-१७-६)

उक्त उदाहरण से यह तो विदित होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण घोर ऋषि के शिष्य थे परन्तु इस स्थल पर अप्रवीता शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का कोई गंध वा संकेत नहीं है। केवल इतनी बात से कि हिन्दू मात्र में कृष्ण देवकी पुत्र प्रख्यात है और उनका अथवा किन्हीं अन्य कृष्णनामी महानुभाव का देवकी पुत्र होना छान्दोग्य उपनिषत् से उक्त प्रकार पाया जाता है यह बात सिद्ध नहीं होती कि मन्त्र में 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में लेने का कोई आधार है।

द्वितीय 'दधते' वार्त्तमानिक क्रिया का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक "देवकी" से नहीं ठीक बैठता क्योंकि ऐतिहासिक देवकी के लिये भूत कालिक क्रिया की आवश्यकता थी न कि वर्त्तमानिक क्रिया की। उक्त भाष्यकर्ता ने नागरी भाष्य देने में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग भी किया है क्योंकि नागरी अर्थ में लिखा है "गर्भधारण करती भई" परन्तु संस्कृत भाष्य में काल व्यत्यय न मान कर वर्त्तमान ही अर्थ किया है। यदि कहा जावे कि ऐतिहासिक वर्त्तमानिक क्रिया भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होती ही नहीं देखी जाती किन्तु साहित्य में लावण्य उत्पन्न करने वाली समझी जाती है तो यह बात भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि अन्य आगे पीछे के मन्त्रों में कोई भी ऐतिहासिक वर्णन नहीं है और न उक्त पण्डित जी को यह साहस हुआ कि आगे पीछे किसी मन्त्र में भी उपरोक्त ऐतिहासिक भाव को वर्णित बतला सकते। अतएव ऐतिहासिक वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग इस स्थल पर नहीं समझा जा सकता। हां काल

'व्यत्यय' का आश्रय लिया जा सकता है परन्तु इस व्यत्यय के मानने से जो किसी व्यत्यय के आश्रय न लेने के रूप में मैंने ऊपर पण्डित जी के अर्थों की प्रशंसा की थी वह जाती रहती है और जब पण्डित जी ने स्वयं ऐसा नहीं कहा तो उक्त तर्क के प्रस्तुत करने की भी आवश्यकता नहीं है।

अतएव जब 'अप्रतीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का किञ्चिदपि आधार नहीं मिलता तो यह बात भी सुगमता से समझी जा सकती है कि 'दूत' शब्द का अर्थ इस स्थल पर खेदकारक का किसी प्रकार सुसंगत नहीं हो सकता। 'खेदकारक' का अर्थ उसी समय तक कुछ सम्बन्धित होता प्रतीत होता था जब कि 'देवकी' को वहां स्थान मिल सकता। तथा यह बात सुप्रसिद्ध है कि वेदों में 'दूत' शब्द अधिकतर 'ले जाने वाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अग्नि को देवताओं का दूत इसी कारण से अनेक स्थलों पर कहा गया है कि वह हव्यवाहन है और देवताओं के लिये हव्य का वाहन किया करता है। व्याकरण और साहित्य प्रयोग की दृष्टि से खेद कारक के अर्थ अवश्य हो सकते हैं परन्तु यहां पर वह अर्थ सुसंगत नहीं है किन्तु दूसरा अर्थ उसका यहां पर अपेक्षित है जो उसकी पूरी व्युत्पत्ति में निम्न प्रकार सम्मिलित है (देखो उणादि कोष स्वामी दयानन्द कृत)

"दवति गच्छति दुनोति उपतपति वा स दूतः। बहुकर्त्तव्य साधको राजभृत्यो वा।"

अर्थात्—जो कष्ट भोगे वा अन्य को कष्ट देवे वह भी दूत है और जो गमन करे और विशेष कार्य्यों का साधन करे वह भी दूत है। यह दूसरा अर्थ वास्तव में 'दुगतौ' धातु से जो स्वादिगण में विद्यमान है निष्पन्न होता है। राज के विशेष अधिकारी अथवा राजदूत को भी दूत इसी कारण से कहा जाता है कि वह शीघ्रतर गुह्य (छिपी हुई) बातों (भेदों) को निश्चयात्मक रूप से ज्ञात कर ले आने और पहुंचाने में विशेष प्रकार से समर्थ होता है।

इसके साथ साथ यदि श्री सायण के उपरोक्त दिये हुए भाष्य पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि वह आधिभौतिक अर्थ तो फिर भी सुसंगति रूप से प्रकट करता है क्योंकि उन्होंने भाव यह दर्शाया है कि अग्नि के उत्पन्न होने से पहले यजमान लोग ज्योंही अग्नि के गर्भ अर्थात् अरणियों को धारण करते हैं त्योंही अग्नि उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् उनके होम हुए हव्य पदार्थों को वायु आदिक देवों को पहुंचाने लगता है और यह एक ऐसी सत्यता है जिसको प्रत्येक याज्ञिक वा

यज्ञ का दर्शक सरलता से देख सकता है। 'राम' शब्द का "मार्ग" अर्थ भी उपरोक्त अर्थों में ठीक ठीक घट जाता है। 'एम' का अर्थ चाहे "हम प्राप्त हों" क्रिया रूप में किया जावे, चाहे 'मार्ग' का अर्थ किया जावे उससे विवादास्पद मन्त्र के अन्तिमभाग के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

परन्तु यदि हम उपरोक्त दोनों भाष्यों को छोड़ इस मन्त्र का अर्थ महर्षि दयानन्द कृत भाष्य में देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने किस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ उत्तम रीति से किया है और किस प्रकार मन्त्र के अर्थ में प्राकृतिक और वैज्ञानिक सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है जो न केवल बुद्धि ग्राह्य है किन्तु वेदों के प्रति हृदय को भी आकर्षित करने वाला है।

महर्षि लिखते हैं :—

(कृष्णम्) कर्षकम् (ते) तव (एम) प्राप्नुयाम (रुशतः) सुरूपस्य रुचिकरस्य (पुरः) पूर्वम् (भाः) प्रकाशमान (चरिष्णु) यच्चरति गच्छति (अर्चिः) तेजः (वपुषाम्) रूपवतां शरीराणां (इत) एव (एकम्) असहायम् (यत) (अप्रवीता) अगच्छन्ती (दधते) धरति (ह) खलु (गर्भम्) अन्तः स्वरूपं (सद्यः) शीघ्रम् (चित्) अपि (जातः) प्रकटः भवसि (इत्) (उ) (दूतः) दूत इव वर्त्तमानः।

अन्वयः—हे विद्वन् रुशतस्ते यत् कृष्णंपुरो भाश्चरिष्णु वपुसायेक मर्चिरि दस्ति तद्वयमेम हे विद्वन् यथाऽप्रवीता गर्भं दधते तथाह सद्यश्चिज्जाते। दूत इत्येदु भवसि तस्मात्सत्कर्त्तव्योसि।

जिसका भावार्थ महर्षि ने इस प्रकार दिया है :—

हे अध्यापक कृपालो त्वं विद्युत्तेजसो विद्यामस्मान् वोधय येन तेजसा दूतवत् कर्माणि वयं कारयेम।

अर्थात्—हे विद्वान्! जिस उत्तम रूपयुक्त, प्रीतिकारक आपको-जो खींचने वाला प्रथम प्रकाशमान् चलने वाला रूप वाले शरीरों में सहाय रहित तेज है उसको हम लोग प्राप्त होवें और हे विद्वन् जैसे नहीं जाती हुई स्त्री अन्तः सरूप को धारण करती है वैसे निश्चय से शीघ्र ही प्रकट दूत के सदृश वर्त्तमान ही होते हो उससे तुम सत्कार करने योग्य हो।

उपरोक्त उद्धरण से प्रकट है कि 'अप्रवीता' शब्द के अर्थ महर्षि ने अगच्छन्ती अर्थात् गतिरहित स्त्री के लिये हैं जो कि उक्त शब्द का नैसर्गिक अर्थ है और इस बात का द्योतन किया है कि जिस प्रकार स्त्री अचंचल होकर गुह्य गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार विशिष्ट विद्वान् भी निश्चय रूप से वास्तविक भेदों और मर्मों का ज्ञान उपलब्ध कर उनको अपने भीतर अज्ञातरूप में धारण करता है और उनको दूतवत्

अन्यों से लेता और विशेष प्रकार से द्योतन करता है। प्रत्यक्ष है कि इस उपमा में यह भाव बड़ी उत्तमता से प्रविष्ट है कि दूत कर्म्म के लिये दूसरे के भेदों को निश्चयात्मक रूप में ज्ञात करना और उनको अत्यन्त सावधानी से गुह्य और गुप्त रखना उसी प्रकार आवश्यक है जैसे कि एक निश्चल स्त्री गर्भ को धारण कर उसको दूसरों से अनवगत रखती है। यदि ध्यान से देखा जावे तो अग्नि भी यही काम करता है अर्थात् हव्य पदार्थों को सूक्ष्माकर इस प्रकार अदृश्य रूप में अपने भीतर प्रविष्ट कर लेता है कि स्थूल आंखों से उन गर्भगत पदार्थों को हम किसी प्रकार नहीं देख सकते और अदृश्य दशा में वह हव्य पदार्थों का वायुमण्डल में वहन करता रहता है।

सारांश यह कि ऐतिहासिक कृष्ण महाराज जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम का भी वेदों में सर्वथा अभाव है और यह निष्कर्ष हमको इस बात के कहने का साहस देता है कि वेदों के समीचीन अर्थों को हम उसी दशा में पा सकते हैं जब कि हम वैदिक शब्दों के नैसर्गिक अर्थ करने में ही तत्पर रहे और महर्षि के पद चिन्हों पर चलने का सततप्रयत्न करें।

क्रमशः

फूल

चुरा लिए तूने जो तारे नभ के थे हे माली।
छिपा छिपा कर कब तक उनकी कर सकता रखवाली॥
अरे ! मौन क्या पड़े रहेंगे ये धरती के भीतर।
सभी फूल बन उठ आवेंगे एक एक कर ऊपर॥

—सत्यप्रकाश

(२४)

विभ्राजञ् ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥

(ऋग्वेद ८ । ९८ । ३)

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् ईश्वर (ज्योतिषा) प्रकाश से (स्वः) प्रकाश स्वरूप लोकों को (विभ्राजत्) प्रकाशवान् करते हुये आप (रोचनं) प्रकाश युक्त (दिवः) द्यौलोक के उस पार (अगच्छः) चले गये हैं। (ते) आपके (सख्याय) मित्रता के लिये (देवाः) विद्वान् लोग (येमिरे) कोशिश करते हैं।

इस मंत्र में पहली बात यह बतलाई है कि संसार में अग्नि, बिजली, नक्षत्र आदि जितने चमकदार पदार्थ हैं उनमें ईश्वर की ही दी हुई चमक है। वस्तुतः ईश्वर ही प्रकाश का पुञ्ज है। अन्य वस्तुओं में प्रकाश ईश्वर से आता है। जिस प्रकार सूर्य्य निकलते ही हरे फूल को हरा और पीले का पीला बना देता है उससे पहले रात्रि की अंधेरी में उनका हरा और पीलापन प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार परमात्मा अपने प्रकाश से सब वस्तुओं को प्रकाशवान कर देता है। "स्वः" नाम है प्रकाशयुक्त पदार्थों का इसमें सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सभी शामिल हैं। इनमें प्रकाश कहां से आया ? वेद उत्तर देता है कि "इन्द्र" अर्थात् ईश्वर ने ज्योतिषा अर्थात् अपनी ज्योति से "विभ्राजत्" अर्थात सब को प्रकाशमय कर दिया। सूर्य्य जब प्रातःकाल उदय होता है तो मानो अपनी सुनहरी रंग की कूंची

संसार की सभी वस्तुओं पर फिरा देता है जिससे यह सब चीजें सुनहरी सी दिखाई देती हैं। इसी प्रकार प्रलय अवस्था में परमाणुओं में किसी प्रकार का प्रकाश या विकास नहीं होता। वह अन्धकारमय होते हैं। परन्तु ईश्वर की प्रेरणा पाते ही वह सब प्रकाशयुक्त होने लगते हैं। मानो ईश्वर अपने प्रकाश को उन अन्धकारमय पदार्थों में प्रविष्ट सा कर रहा है। परन्तु ईश्वर का यह प्रकाशीकरण वहीं समाप्त नहीं होता सूर्य्य की किरणें संसार भर को प्रकाशित करती हैं परन्तु सूर्य्य स्वयं बहुत दूर ऊपर चमक रहा है। वह द्यौलोक से परे हैं। इसी प्रकार ईश्वर संसार में अपना प्रकाश फैलाता हुआ भी इस संसार से कहीं ऊपर है अर्थात् वह यहां से बहुत परे है। यह परे होना या दूरी देश सम्बन्धी नहीं किन्तु स्वरूप सम्बन्धी है। सृष्टि भर ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होती हुई भी ईश्वर नहीं हो जाती, फूल में सूर्य्य का प्रकाश है अवश्य परन्तु यदि वास्तविक सूर्य्य को जानना चाहते हो तो सूर्य्य का अलग से निरीक्षण करो। इसी प्रकार यद्यपि संसार भर में ईश्वर का प्रकाश है तब भी इस प्रकाश के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये संसार सीमा से बाहर असंसारी ईश्वर का ध्यान करना आवश्यक है। यही कारण है कि विद्वान् लोग इस संसार के प्रकाश को साधारण निचली श्रेणी के लोगों के लिये छोड़ते हुये 'इन्द्र' की 'सख्याय' या मित्रता के लिये यत्न करते हैं। प्रकाशित वस्तुओं से प्रकाश उतना ही बड़ा है जैसे मीठे गन्ने की अपेक्षा वह चीनी जिसने गन्ने को मीठा किया हुआ है परन्तु उस चीनी से भी मीठा चीनी का भण्डार है जहाँ से गन्ना आदि सभी मिष्ठ पदार्थ माधुर्य्य को उधार लेते हैं। इसी प्रकार प्रकाश से भी उच्चतम प्रकाश का वह कोष है जिसको ईश्वर या इन्द्र कहते हैं और वहाँ से प्रकाश निकल कर संसार के प्रकाशवान् पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस वेद मंत्र के शब्द-विन्यास में विशेष लालित्य है जो अनुवाद में बताया नहीं जा सकता। इसको जितनी बार पढ़ा जाय उतनी बार ही आत्मा को आह्लाद होता है ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रभु की ज्योति हमारे अन्धकारमय हृदय को प्रकाशयुक्त कर रही है।

भारतवर्षीय आर्य

[पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त]

(भाग ४, अंक २१ से आगे)

आर्य्य समाज ने अपने जन्मकाल से वैदिक धर्म ग्रहण करने और ऊपर उठने का सब को समानाधिकार दिया है, जिसका ज्वलन्त प्रमाण इस समय भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में दृष्टिगत हो रहा है। यही नहीं कि केवल शिखासूत्र धारियों तक ही इस अधिकार को सीमित रक्खा हो, किन्तु अहिन्दू तक इस अधिकार से वञ्चित नहीं रहे हैं। लाखों ऐसे अस्पृश्यों को यज्ञोपवीत देकर द्विज बना दिया, जिनके हाथ का जल क्या फल भी हिन्दू ग्रहण करना उचित नहीं समझते थे। यही नहीं कि केवल यज्ञोपवीत देकर ही उनको छोड़ दिया हो, अथवा उनके हाथ का भोजनादि ग्रहण करने पर ही बस किया हो, किन्तु उनको सच्चा द्विज बनाकर सन्ध्या बन्दनादि का समानाधिकार देकर उनसे वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रायः कर कराया है। सहस्रों वर्षों की कड़ी गृन्थी को आर्य्यसमाज ने बहुत कुछ ढीला कर दिया है। जो मंजिलें सहस्रों वर्षों में तय होने को थीं उनको आधी शताब्दी में पार कर डाला है। आर्य्यसमाज को अभी अपने इतने कार्य पर न गर्व है, न सन्तोष। वह तो वह दिन देखना चाहता है कि जिस दिन 'अछूत' शब्द केवल किसी किसी पुस्तक में ही पड़ा हुआ दिखाई दे।

हाँ, इतना अवश्य ही याद रखना चाहिये कि—आर्य्यसमाज शिखा सूत्र का लोप करके, ऋषियों मुनियों का नाम मिटाकर, वेद-शास्त्रों को पीठ पीछे फेंक कर, राम और कृष्ण को डुबोकर और आर्य्य सभ्यता को खोकर अछूतोद्धार करना नहीं चाहता। दूसरे अछूतोद्धारक (?) और आर्य्यसमाज में केवल इतना ही अन्तर है कि वे तो इस अस्पृश्यता के मिटाने का सौदा किसी विशेष पणबन्ध के साथ कर रहे हैं। वे पणबन्ध है—शिखासूत्र का त्याग, वेद शास्त्रों का अग्नि संस्कार, भारतीय सभ्यता को तिलाञ्जलि, ऋषि और मुनियों का अपमान और संस्कृतादि भाषाओं का वहिष्कार। क्या हमारे दलित भाई शिखादि को लगा कर इन अछूतोद्धारकों के गले से लिपटेंगे ? क्या आर्य्यजाति

को खण्ड खण्ड करके निर्बल बनाने में अपनी महत्ता समझेंगे ?

आज कल के अछूतोद्धारक इस अछूतपने का कारण विशेष कर मनुस्मृति को ही समझते हैं। इसको भस्मसात् करके ही अपना कलेजा ठंडा करते हैं। वे समझते हैं कि मनुस्मृति पर अपना रोष प्रकट करने से हमारी और हमारे साथियों की अस्पृश्यता दूर हो जायगी। यह कार्य उनका सूर्य पर थूकने के समान है।

मनुस्मृति और शूद्र

मनु महाराज ने हिन्दू जाति के दो भाग किये हैं—द्विज और शूद्र। यथा—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्ण द्विजातयः। चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥"

(मनु० १०-४॥)

मनु महाराज ने यदि मनुष्य समाज के चार भाग किये तो कौन सा अपराध कर दिया ? क्या यह विभाग अस्वाभाविक है ? यदि संसार की मानव जाति पर दृष्टि डाली जाय तो यही चार विभाग दृष्टिगोचर होंगे।

१—ब्राह्मण = पादरी = मौलवी, सैयद = लामा =
२—क्षत्रिय = मिलिटरी = पठान =
३—वैश्य = मर्चेंट = सौदागर
४—शूद्र = लेबरपार्टी = मजदूर = शैख़

क्या शूद्रों को द्विजों से पृथक् गिनना महा पाप है ? क्या लेबरपार्टी को अन्य लिबरल आदि से पृथक् नहीं गिना जाता ? अब रहे "शूद्राणाम निरवसिता नाम्" अष्टाध्यायी २। ४ १० के अनुसार शूद्रों के दो भेद = निरवसित और अनिरवसित। अर्थात् वहिष्कृत। शूद्रों का यह विभाग स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखता है। लेबरपार्टी में भी दो भेद हैं—एक जैंटिलमैन और लो या मीन्स = (Law and Means)। ठा० गदाधरसिंह जी ने हमको बताया कि एक बार हमने लंदन में एक गली में होकर जाने का इरादा किया। एक फ़ौजी सरदार ने कहा कि "इस गली से न जाइये। इसमें कमीन लोग रहते हैं।" बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस ईसाई देश में नीच लोगों की गली में जाना भले आदमी पसन्द न करें, वहीं ईसाई लोग उन ब्राह्मणादि द्विजों की इसलिये निन्दा करें कि "इन्होंने = द्विजों ने शूद्रों को वहिष्कृत कर रक्खा है—यह अन्याय है।

याद रखना चाहिये कि जिसमें न विद्या होगी न वीरता और न व्यापार शक्ति होगी न प्रबन्ध शक्ति, उसको विवश होकर सेवा करनी होगी। बस यही वैदिक परिभाषा में "शूद्र" कहाता है। इन शूद्रों में भी जो इतने पतित हो गये हैं कि जिनके भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं, शौच विधि पर कोई ध्यान

नहीं, जिनके संसर्ग से रोग उत्पन्न होने का भय हो वे सदैव ही निरवसित = वहिष्कृत सब भले आदमियों से समझे जायेंगे। चीन के यात्री ने दक्षिण देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'वहाँ पर राजाज्ञा द्वारा किसी भी प्रकार के माँस के बेचने की आज्ञा नहीं थी। वहाँ पर कुछ ऐसे भो व्यक्ति थे जिन्होंने इस आज्ञा को नहीं माना। वे नगरों के बाहर बसा दिये गये। उनका नगर के भीतर आना रोक दिया गया। यह उनके लिये दण्ड था।" क्या इस दण्ड को कोई अन्याय कह सकता है ?

म्लेच्छ जिसको कहते हैं ? यह भी समझ लेना चाहिये। "म्लेच्छ" = अव्यक्ते शब्द धातु से म्लेच्छ शब्द बना है। म्लेच्छ उसको कहते हैं जो ठीक ठीक भाषा न बोलता हो = असंस्कृत भाषा बोलता हो। यह शब्द कोई घृणोत्पादक नहीं है। भारतवर्ष की जिस समय संस्कृत भाषा थी, उस समय जो विदेशी यहाँ पर संस्कृत से भिन्न भाषा बोलते हुए आये, यहाँ के निवासियो ने उनको इसलिये म्लेच्छ कहा कि वे विदेशी असंस्कृत भाषा बोलते हैं।

आर्य्य और अनार्य्य = मानवी समुदाय के दो भेद = सभ्य और असभ्य (Civilized and uncivilized) दो भेद मनु महाराज ने कर दिये तो क्या अपराध किया ? यदि कोई आर्य्य अनार्य्य बन जाये अथवा अनार्य्य आर्य्य बन जाय अर्थात् एक दूसरे का कर्म करने लगे तो मनु महाराज ने लिख दिया कि इसमें कोई दोष नहीं।

"अनार्यमार्यकर्माणमार्यंमाचानार्य कर्मिणम्। संप्रधार्या ब्रवीद्धाता न समौ नासमावितौ।"

(मनु० १०-७३)

अर्थात्—द्विज शूद्रों के करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इनको ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि नये सम हैं न असम हैं।

मानव धर्म के अनुसार यदि कोई शूद्र = लेबर आर्य्यों के से कर्म करने लगे तो वह करे और इसी प्रकार एक आर्य्य भी अनार्य्य के कर्म करने में स्वतन्त्र है। लार्ड एक लेबर बन सकता है। एक लेबर भी इस हो नियम से लार्ड बन सकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि पिछली अवस्था याद रक्खे और लार्ड से लेबर बने हुए को लार्ड ही पुकारता रहे और लेबर से लार्ड बने हुए को लेबर ही कहता रहे। इसमें कोई सिद्धान्त दोष नहीं। शूद्र और पाक कर्म = भोजनादि बनाना भी सेवा धर्म है। सेवा कर्म वही स्वीकार करेगा जिसमें न विद्या हो न बल, न धन हो न व्यापार शक्ति। यदि इस प्रकार के गुण हीन दूसरों की सेवा करें तो मनु का क्या दोष ? एक मूर्ख मनुष्य किसी विज्ञ के अधिकार में रह

कर कार्य करें तो कार्य उत्तम होगा, राज मजदूर लोग एक ओवरसियर की अधिष्ठता में रह कर भुवन निर्माण करें तो अच्छा होगा। ठीक इसी प्रकार पाक-कर्त्ता यदि आर्य्यों की देख-रेख में पाक क्रिया करे तो शुद्ध और स्वच्छ भोजन बनेगा। स्नान और केश मुण्डन आदि स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखते हैं।

संसार में यह नियम है कि जो मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार योग्यता रखता है उससे वैसा ही काम लिया जाता है। किसी स्टेशनों पर पानी पिलानेवाले से कोई वेद कथा और शास्त्रार्थ नहीं करता। न कोई जज से कुलीपन का काम लेता है। यदि कोई कुली अपने को जज कहे तो दण्डनीय है। जज को कुली कहना भी इसी प्रकार अनुचित और असंगत है। हाँ कुली उन्नति करने में स्वतन्त्र हैं और जज भी अवनति की ओर स्वेच्छा से जा सकता है। जिसका स्वभाव, सेवा करते करते शूद्रता का पड़ गया है उसके लिये मनु जी कहते हैं कि—

शूद्रंत कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेववा।

(मनु – ८-४। १३)

अर्थात्—अनपढ़ से सेवा ही का काम ले। चाहे मोल लिया हो या नहीं, आदि। क्या कोई बोधानन्द और अछूतानन्द अथवा ईसाई मिशन की किसी कुली को चीन का राष्ट्रपति, भारत का सम्राट् या इङ्गलैंड का महामन्त्री बना देंगे ? योग्यता प्राप्त करने पर ही उन्नति कर सकता है अन्यथा नहीं। भारतीय इतिहास में सहस्रों उदाहरण ऐसे विद्यमान हैं जिनमें शूद्र और चाण्डाल तक से ऋषि और मुनि बन गये। अन्य देशों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं। मनु महाराज अथवा आर्य्यों को पक्षपाती कहना नितान्त अनुचित और गहरी भूल है।

लेबर-या शूद्र वही कहाते है जो सेवा करे। यहां सेवासे आशय उस सेवासे नहीं है जो देश सेवा अथवा धर्म सेवा कहाती है। किन्तु वही सेवा जो कोई गुण न रखने पर मेहनत मजदूरी कहाती है। शूद्रों की मेहनत मजदूरी के विषय में मनु महाराज की कितनी न्याययुक्त आज्ञा है, सो सुनिये—

"प्रकलया तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथाहितः। शक्तिचावेक्ष्य दाक्ष्यंच भृत्यानाञ्च परिग्रहम्"।

(मनु १०१। २४)

अर्थ=उस नौकर की नौकरी, सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उसके कुटुम्ब का व्यय देखकर अपने घर के अनुसार उन (द्विजों) की जीविका नियत कर देनी चाहिये।" उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानिच। प्रलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः।

(मनु १०। २५।)

अर्थ=शेष बचा हुआ अन्न, पुराने कपड़े, धान्यों को छटन और पुराने वर्त्तन इनको दे देने चाहिये।

पाठकगण आप विचारें कि इस आज्ञा से मेहनती मज़दूरों पर कौन सा अत्याचार हो गया। आज पूंजी पतियों और मज़दूरों में इसी लिये तो युद्ध हो रहा है कि पूंजीपति मज़दूरी पूरी नहीं देते। पुराने वस्त्रादि मज़दूरी से पृथक् पारितोषिक रूप में दे देना कौन सा पाप है? यदि कोई ऐसा आपत्ति का समय आ जाय कि शूद्र धनी बनकर विद्वानों का मुक़ाबला करने पर उतारू हो जाय तो राजा को उचित है कि उस शूद्र को अर्थ दण्ड देकर उसका संपूर्ण धन हर ले। यह दण्ड केवल घमंडी मज़दूरों के लिये है न कि भलेमानस के लिये।

(मनु १०। १२९)

बहुत ऐसे अयोग्य व्यक्ति भी हैं जो बिना प्रमाण पत्र के उच्च पुरुषों की रीस करते हैं, राजा को उचित है कि उनको देश निकाले की सज़ा दे। इसके लिये देखो मनु अध्याय १०। ९६। जो कुछ मनु ने लिखा है वह सब इस सभ्यता के समय में भी हो रहा है। मनु को दोष देना वृथा है।

सदैव संसार एकरस नहीं रहता। कभी कभी पूंजीपतियों और मज़दूर पार्टियों में वैमनस्य इतना बढ़ जाता है कि एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दूसरे के नाश में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा समय कभी भारत में भी हो गया होगा। उस समय किसी पूंजीपति ने मानव धर्म शास्त्र में ऐसे वचन मिला दिये होंगे जो शूद्रों के अहित-कर होंगे। अतः ऐसे ऐसे श्लोक मनु अ० ४। ८०-८१। में विद्यमान हैं। ये सारे ही श्लोक त्याज्य हैं। दसवें अध्याय में मनुजी शूद्रों को धर्म का अधिकार बताते हैं" देखो—

(मनु १०। १२६, १२७)

कुछ शूद्र ऐसे होते हैं वेतन न पाकर दास अथवा क्रीतदास होते हैं। उसके लिये मनु महाराज ने यह नियम रक्खा है जो धन सम्पति उनके पास हो वह उसके स्वामी की हो। जब सारा शरीर ही स्वामी का है तो धनादि की क्या कथा? इसके लिये देखो मनु अ० ८। ४१७) इस न्याययुक्त व्यवस्था के लिये मनु दोषी नहीं ठहर सकते।

हिंसा करना महा पाप है। बिल्ली न्यौला आदि मारने में भी पातक है और उतना पातक है जितना शूद्र के मारने में। बे पढ़ों से पढ़े लिखों की जान अधिक मूल्यवान् है। इस आज्ञा से शूद्रों की तुच्छता सिद्ध नहीं होती किन्तु बिलार आदि जन्तुओं के मारने में भी पाप बताया है। देखो मनु अ० ११। १३१

मनु महाराज ने अ० ८। २६७, २६८, २६९ में गाली देने का दण्ड विधान किया है। जो ब्राह्मण शूद्र को गाली दे तो

१२ पण दण्ड पावे। शूद्र ब्राह्मण को गाली दे तो बेंत आदि से पीटने योग्य है। इन श्लोकों में जहाँ शूद्र को गाली देना मना है, वहां ब्राह्मणादि द्विज भी किसी को गाली न दें, यह लिखा है। योग्य अयोग्य का विचार सर्वत्र ही रहता है। क्या एक विशप या वायसराय को गाली देने वाला उतना ही दण्ड पाता है जितना एक साधारण मज़दूर को गाली देने पर? २७०वाँ श्लोक त्याज्य है। आठवें अध्याय के श्लोक २७१, २७२ भी त्याज्य हैं क्योंकि किसी महाद्वेषी के मिलाये हुए हैं। २७९ और २८० श्लोकों में बताया है कि जो अन्त्यज गर्व से किसी द्विजाति का मुक़ाबला करे तो उसका अङ्ग छेदन करे। इन श्लोकों में आगे पीछे क्रोध और अहङ्कार शब्द पड़े हुए हैं। इससे सिद्ध है कि यदि कोई नीच पुरुष किसी बड़े आदमी की तौहीन करे मनुष्यावस्था से वह अमुक अमुक दण्ड पावे। स्वार्थी पुरुष "अन्त्यज" के स्थान शूद्र" शब्द लगाते हैं सो अन्याय है। इस सारी व्यवस्था का सार है कि अयोग्य और योग्य में सदैव पहचान बनी रहें। कोई योग्य अयोग्य की समता न करे। इससे प्रबन्ध में गड़बड़ पड़ती है क्या हाउस आफ लार्ड में एक अन्त्यज बैठ सकता है? क्या जो आसन एक योग्य राष्ट्रपति के लिये नियत है, उस पर यदि कोई मूर्ख घसियारा बैठना चाहे तो दण्डनीय नहीं होगा? क्या एक महान् विद्वान् का सामना करने वाला मूर्ख दण्डनीय नहीं है? संसार में राज्य-व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, परिवार व्यवस्था और साधुव्यवस्था सब पृथक् पृथक् है? संपूर्ण परिषद् और मण्डल साधु मण्डल व योगियों की कुटियाँ नहीं हैं। नवीतरागों के विहार हैं। कहीं क्षुद्र कीटों के मारने का महा पाप है तो कहीं लक्षों सेनाओं का बध महापुण्य का कारण है।

क्रमशः

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

अब तक केशव बाबू के समाज के लिये कोई मन्दिर न था। जनवरी १८६८ ई० में ब्रह्म मन्दिर का निर्माण आरंभ हुआ। मार्च १८६८ ई० में बा० केशव चन्द्र सेन बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त (पुराना पश्चिमोत्तर देश) आदि में प्रचार करने के लिये निकले। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ और बम्बई आदि में प्रार्थना समाज खुल गये जिनको ब्रह्म समाज का एक प्रकार का बम्बई एडीशन (Bombay Edition) कहना चाहिये। इस यात्रा के पश्चात् मुंगेर में ठहरे। यहां उनके भक्ति के व्याख्यानों पर लोग ऐसे लट्टू हुये कि उनको साष्टांग दण्डवत करते और उनको महात्मा बुद्ध तथा महाप्रभु चैतन्य के समान समझते। कुछ ने यहाँ तक कहा कि हमने इनके सम्बन्ध में अलौकिक बातें भी देखी हैं। कुछ ने कहा कि ईसा में और केशव में बड़े छोटे भाई का ही अन्तर है।

यह बात केशव के बहुत से साथियों को पसन्द न आई। उन्होंने आक्षेप किया। केशव कहते थे कि यह बात मुझे भी प्रिय नहीं। परन्तु मैं दूसरों को कैसे रोकूं? जैसे मेरा आत्मा स्वतंत्र है उसी प्रकार उनका भी स्वतंत्र है। वह मेरी पूजा उचित समझते हैं। श्रीयुत पी० सी० मजूमदार ने जो उनके साथियों में से थे इस विषय में यह लिखा है।

He did not want it, but when it came, he saw in it the hand of God. It was to him valuable testimony that the spirit of God was with him, that his work was true, and his time had come. He did not want to repel the men, who approached him with their homage of admiration, lest he might do harm to any part of their better nature, but he gave frequent hints that what they were doing was liable to misrepresentation. (P. 112)

"वह इसको चाहते न थे, परन्तु जब यह घटना हुई तो उन्होंने जाना कि इसमें ईश्वर का हाथ है। उनके लिये यह एक बहुमूल्य प्रमाण था कि ईश्वर का आत्मा मेरे साथ है, मेरा काम सच्चा

है और मेरा समय आ गया है। जो लोग उनके पास श्रद्धा और भक्ति के साथ आते थे उनको वह दूर करना नहीं चाहते कि कहीं उन लोगों की प्रकृति के उच्च अंश को हानि न पहुँचे। परन्तु उन्होंने बहुधा यह संकेत कर दिया था कि जो कुछ तुम लोग कर रहे हो उससे भ्रम फैलने की संभावना है"। (केशवचन्द्रसेन का जीवन चरित्र पृ० ११२)।

उनके ऊपर यह आक्षेप चलाया गया कि तुम अपनी पूजा कराते हो। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया वह ऊपर के शब्दों से प्रकट है। उन्होंने एक पत्र में लिखाः—

"I have never fallen into the error of supposing that if I pray to God, as a mediator for others, He will forgive or save them."

"अर्थात् मैंने कभी यह भूल नहीं की कि मैं यह मानलूं कि यदि मैं ईश्वर से दूसरों के लिये प्रार्थना करूंगा तो वह उनको क्षमा कर देगा या उनका उद्धार कर देगा"। केशवचन्द्रसेन महाशय अगस्त १८६८ में मुंगेर से शिमले चले गये क्योंकि लार्ड लारेंस ने उनको बुलाया था। वहाँ इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को विहित (जायज़) करार दिलाने के लिये मैरिज बिल (Marriage Bill) या विवाह का कानून पेश कराया। यह बिल १० सितम्बर १८६८ ई० को गवर्नर जनरल की कौंसिल में पेश हुआ और बहुत बड़े विरोध के बाद १९ मार्च १८७२ को "देशी विवाह का कानून" (Native marriage act) के नाम से पास हुआ। पहले इसका नाम (Brahmo-marriage Act) अर्थात् ब्रह्म-विवाह-एक्ट रक्खा गया था। परन्तु आदि समाज के लोगों ने विरोध किया। वह उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे। वह अपने को हिन्दू समझते थे। इसलिये केशव बाबू बिल में कुछ परिवर्तन करने पर राज़ी होगये। एक्ट के अनुसार वर और बधू को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि हम "हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी बौद्ध, सिख या जैन मत के मानने वाले नहीं हैं"। केशवचन्द्रसेन के परामर्श से उनके ब्रह्मसमाज की ओर से जो प्रार्थना पत्र गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि

"Term 'Hindu' does not include the Brahmos, who deny the authority of the Vedas, are opposed to every form of Brahmanical religion and being eclectics admit proselytes from Hindus, Mohamedans, Christians & other religious sects."

अर्थात् 'हिन्दू' शब्द ब्रह्म समाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद को प्रमाणिक नहीं मानते, ब्राह्मण धर्म के

सभी पक्षों के विरुद्ध हैं और चूंकि अपने सिद्धान्तों को सब से चुन कर बनाया है इसलिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्यधर्म वाले सभी ब्रह्म समाज में प्रवेश करा सकते हैं"।

केशवचन्द्र के साथी 'हिन्दू' शब्द को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी अपनी आदतें भी हिन्दुओं जैसी ही थीं। वह विदेशी फैशन के विरोधी थे। परन्तु या तो वह 'हिन्दू' शब्द को त्यागते या विवाह-एक्ट को। उन्होंने अपने मन को यह संतोष दे लिया कि 'हिन्दू' शब्द मूर्ति पूजकों के लिये रूढ़ि हो गया है अतः हम इस अर्थ में हिन्दू नहीं हैं।

इसी बीच में केशव बाबू इंग्लेण्ड भी हो आये। १५ फर्वरी १८७० को गये और १५ अक्टूबर सन् १८७० ई० को बम्बई में वापिस आ गये। इङ्गलैण्ड में उनका बड़े समारोह से स्वागत हुआ। उनके व्याख्यानों की धूम रही। उनकी महाराणी विक्टोरिया से भी भेंट हुई। उन्होंने 'ईसाई' धर्म की बहुत प्रशंसा की। बम्बई में प्रार्थना समाज में उनका व्याख्यान हुआ! २० अक्टूबर को वह घर आये।

आने पर जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, विवाह का कानून पास हो गया था। केशवचन्द्र सेन ने इसको अपनी समाज सुधार सम्बन्धी विजय समझा और आध्यात्मिकोन्नति के निमित्त एक आश्रम खोला जिसका नाम "भारत-आश्रम" रक्खा गया। इसमें भ्रातृत्व का भाव उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कई ब्राह्म सामाजिक परिवारों को रक्खा। नर नारी भाई बहिन के समान रहते और अपना आध्यात्मिक सुधार करते थे। इस जीवन का मुख्य सिद्धान्त यह था कि अपने वैयक्तिव जीवन को सर्वथा भुला दिया जाय। इससे पहले प्रार्थना अपने कल्याण के लिये की जाती थीं। अब सबके कल्याण के लिये की जाने लगी। भोजन साथ, स्वाध्याय साथ, पूजा साथ, काम साथ। भारत आश्रम पांच वर्ष चला और अच्छा चला। परन्तु कुछ लोग केशव बाबू के विरुद्ध हो गये। उसके मुख्य तीन कारण बताये जाते हैं:—(१) केशव बाबू ने मनुष्य-पूजा और विशेष कर अपनी पूजा की प्रथा चला दी (२) केशव बाबू मानने लगे कि ईश्वर भक्तों के मन में अपने विशेष आदेश भेज देता है। (३) कुछ लोग सामाजिक सुधारों में केशव बाबू से सहमत न थे। उनका कहना था कि केशव बाबू स्त्रियों के लिये कुछ नहीं करते। बात यह है कि श्री केशवचन्द्र सेन जी स्त्रियों की उच्च यूनीवर्सिटी सम्बन्धी शिक्षा के विरुद्ध थे। वह बालविधवा विवाह के तो पक्ष में थे परन्तु स्त्री और पुरुष दोनों के पुनर्विवाहों को अच्छा नहीं समझते थे। वह बाल विवाह के कट्टर विरोधी थे परन्तु

वह चाहते थे कि स्त्रियों की मंगनी छोटी अवस्था में ही हो जाया करे। उनको यह बात पसन्द न थी कि लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में हो। यद्यपि वह अन्तर्जातीय विवाह के सबसे पहले पोषक थे तथापि उनका कथन था कि जहां तक उचित प्रबन्ध हो सके अपनी ही बिरादरी में विवाह करना चाहिये।

इस प्रकार उनके कुछ साथी उनसे अलग हो गये। अब केशवचन्द्रसेन अपना ध्यान योग और भक्ति की ओर अधिक देने लगे। उन्होंने एक बाग़ लिया जिसका नाम "साधन कानन" रक्खा। यहाँ वह और उनके कुछ साथी योग की साधना करते थे। यहीं से उनको एक नई स्फुर्ना हुई और उन्होंने नव विधान (New Dispensation) की नींव डाली। अब उनको निराकार-उपासना में आनन्द नहीं आता था। वह हिन्दू मन्दिरों के भजन, पुष्प, दीप, नैवेद्य की ओर आकर्षित हो चले थे। वे कभी कभी रहस्यमय गूढ़ बातें कह जाते थे जिनका अर्थ दूसरों की समझ में नहीं आता था। पहले तो उनकी प्रार्थनायें केवल शब्द-मय होती थी। अब वह इन के साथ साथ कुछ कृत्य भी चाहते थे। वह कभी किसी मन्दिर में नहीं गये, न मूर्ति पूजी। परन्तु हिन्दुओं की पूजा का सा भाव उनकी पूजा में भी झलकने लगा। नव-विधान या न्यू डिस्पेंसेशन का क्या सिद्धान्त था? इसका कुछ कुछ हाल केशव बाबू के शब्दों में ही सुनिये। जब १८८१ ई० का वार्षिकोत्सव हुआ और नव-विधान का झंडा गाड़ा गया तो उन्होंने कहा था:—

"Behold the flag of the new Dispensation. The silken flag is crimson with the blood of martyrs. It is the flag of the Great King of Heaven & Earth, the one supreme lord... Behold the spirits of all the prophets & saints of heaven assembled overhead, a holy confraternity in whose union is the harmony of faith, hope & Joy. And at the foot of the holy standard are the scriptures of the Hindus, Christians, Mahomedans & Buddhists, the sacred repositories of the wisdom of ages and the inspiration of saints, our light, and our guide. Four scriptures are here united in blessed harmony, under the shadow of this flag. Here is put together the international fellowship of Asia, Europe, Africa and America."

"अर्थात् नव-विधान के झण्डे को देखो। रेशमी झण्डा शहीदों के रक्त से लाल है। यह झण्डा है परम प्रभु का जो आकाश और भूमि का महाराजा है देखो सब पैगम्बरों और स्वर्ग के सन्तों के आत्मा हमारे सिर पर हैं। जिनके सम्मिलन में ही श्रद्धा, आशा और आनन्द है। इस झण्डे के नीचे हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों और बौद्धों के शास्त्र हैं। जिनमें युग-युगान्तर की विद्या और महात्माओं के आदेश हैं जो हमको प्रकाश और उपदेश देते हैं। इस झण्डे की छत्र-छाया में चार शास्त्र सम्मिलित हैं। यहाँ एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका का अन्तर्जातीय भ्रातृत्व विद्यमान है।"

क्रमशः

शंका-समाधान

शंका

दिनमान् दिखाना याने मेरी आजकल ग्रह दशा कैसी है पतड़े वालों से दिखाया करते हैं। क्या यह वेदोक्त है ? इसका उत्तर देने की कृपा करें। —पूसराज शर्म्मा

समाधान

नहीं। यह केवल गपोड़ा है और भोले भालों को ठगने के लिये हैं। इसने संसार को बहुत दुख दिया है और शीघ्र ही इसको रोक देना चाहिये। यह झूठे भ्रम फैलाकर लोगों को कर्तव्य से च्युत कर देता है।

शंका

१—अक्सर लोग पेड़ की जड़ में छोटी छोटी मछलियां डाला करते हैं इसलिये कि पेड़ में कोई रोग न लगने पाये। यह अनुचित है या उचित ?

२—जब लड़कियों की शादी होती है तो उस दिन लोग व्रत उपवास रहा करते हैं। यह ठीक है या नहीं ?

प्रेषक श्री विश्वनाथ, ईसापुर जौनपुर।

समाधान

१—उचित नहीं। इससे हिंसा होती है !

२—उपवास की कोई आवश्यकता नहीं। यह प्रथा 'कन्यादान' का ठीक अर्थ न समझने के कारण चल पड़ी है।

शंका

१—"ग्रहन" चाँद पूर्णमासी, सूर्य्य अमावस्या को पड़ता है। यह क्या है ? क्या होता है, सूतक क्यों लगता है ? राउ-केतु क्यों फिरते हैं ? बहुत खराब माना जाता है।

२—तारा २॥ महीना का माना है, जिसमें कोई भी काम न करें यह क्यों ?

३—पंचक क्या हैं इसमें कोई मर जाता है तो पांच पुतला डाब का बना कर पहिले जलाया जाता है फिर मुरदा का दाग होता है। यह क्या है ?

प्रेषक सिरेहमल कानूगो, लाडूनो।

समाधान

१—इसका कारण चन्द्रमा और पृथ्वी का घूमना है। 'सूतक' कोई चीज़ नहीं। केवल ढकोसला है।

२—"तारों के घूमने" से और "काम न करने से" कोई सम्बन्ध नहीं। यह ढकोसला है !

३—यह भी ढकोसला है। इन बातों को मानना ठीक नहीं !

भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान

[यह भाषण श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने प्रयाग महिला विद्यापीठ के उपाधि वितरण के समय बसंत पंचमी ता० ११ फर्वरी १९३२ को दिया था।

—सम्पादक]

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

यजु० अध्याय ३६ मंत्र १२

प्रारंभ

वृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि प्रारंभ पुरुष रूप में आत्मा था। वह अकेला होने से सन्तुष्ट नहीं था। उसने इच्छा की कि उसका एक साथी हो। वह आत्मा विस्तार में इतना था जितना स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं। उस (आत्मा) ने अपने को दो भाग करके गिराया इस (विभक्त होने) से वे दोनों भाग पति और पत्नी हुये और इस प्रकार विभक्त होने से वे आधे दाने (दाल) के सदृश हुये[1] उपनिषद् के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गार्हस्थ (पति और पत्नी का संयुक्त) शरीर एक दाने के सदृश था। उसकी बराबर बराबर दो दालें होकर पुरुष और स्त्री हुईं, इसलिये स्पष्ट है कि उन दोनों में समात होनी चाहिये। वैदिक साहित्य में जगह जगह इस समता के चिह्न पाये जाते हैं।

वेद और स्त्री जाति

अथर्ववेद ११। ५। १८ में कन्याओं को, ब्रह्मचर्य्य का पालन करके, युवा पति के साथ विवाह करने की शिक्षा दी गई है। स्वामी दयानन्द ने अपने पूना के एक व्याख्यान में कहा था कि "स्त्रियां आजीवन ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण करती थीं (सुलभा) और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन

(१) सहैतावानास यथा स्त्री पुमांꣳसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानम् द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धं वृगलमिव। (वृह० १।४।३)

और गुरु गृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे (उपदेश मंजरी पृष्ठ २०)

अथर्ववेद ३ । २५ । १-६ में स्त्रियों में इन गुणों के होने का विधान किया गया है:—मृदु, विमन्यु (क्रोधरहित), प्रिय वादिनी, अनुव्रता (पति के व्रत में सम्मिलित होने वाली), क्रतौ असः (पति के कार्य्यों में सहायता देने वाली)

अथर्व १ । १४ । १-४ में उन्हें कन्या (कमनीया), कुलपा, ते (पत्युः) भगम् (अर्थात् पति का ऐश्वर्य्य) कहा है।

अथर्व १ । २७ । ४ में स्त्रियों के नेतृत्व का इस प्रकार वर्णन है:—

इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः ।

अर्थात् जिसे कोई जीत न सके, न कोई लूट सके; ऐसी इन्द्राणी आगे बढ़े। तै० सं० २ । २ । ८ । १ में; "इन्द्राणी वै सेनायै देवता" कहकर इन्द्राणी का अर्थ सेनापत्नी किया गया है। अर्थात् उन्हें युद्ध में सेना के नेतृत्व का भी अधिकार वेद ने दिया है:—

अथर्व ३ । ८ । २ में स्त्रियों को शूर पुत्रों की देने वाली कह कर आवाहन किया गया है—

ऋग्वेद १० । ८५ । ४६ में नवागता बधु को गृह की समाज्ञी कहा गया है।

यजुर्वेद में कन्या को अधिकार ही नहीं दिया गया बल्कि आवश्यक ठहराया गया है कि वह उस युवक से विवाह न करे जो एक से अधिक पत्नी रखने का इच्छुक हो ।

यजुर्वेद १२ । ६२ में उन्हें यह भी अधिकार दिया गया है कि दान धर्म रहित और दूसरे अवगुण रखने वाले युवकों से विवाह न करें ।

यजुर्वेद १२ । ९२ में स्त्री को "निर्ऋते" (सत्याचरण करने वाली) कह कर, विधान किया गया है कि 'यम'=नियन्ता पुरुष और यम्या= न्याय करने वाली स्त्री के साथ पृथ्वी पर आरूढ़ हो, जिसका भाव यह है कि प्रबन्ध और न्याय दोनों विभागों में उन्हें भाग लेने का आदेश है। अब इस प्रकरण का और अधिक बढ़ाना उचित नहीं है जितना लिखा गया वह यह प्रगट कर देने के लिये पर्याप्त है कि वेद

में जो अधिकार पुरुषों के हैं वे ही सब स्त्रियों को दिये गये हैं और यही कारण है कि प्राचीन काल की स्त्रियों ने इतनी विद्योन्नति की थी। लोपा, मुद्रा आदि अनेक स्त्रियां वेद की ऋषिकायें थीं उन्होंने वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश किया और उनकी शिक्षा, स्त्री पुरुष, सभी को दी।

वाल्मीकीय रामायण और स्त्री जाति

लगभग वाल्मीकीय रामायण के रचना काल तक स्त्रियों का मान इसी प्रकार बना रहा—वाल्मीकीय रामायण में जगह जगह इसके प्रमाण मिलते हैं उनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया जाता है :—

(१) रामचन्द्र के युवराज होने की खबर सुन कर कौशिल्या ने प्राणायाम् करते हुये ईश्वर का ध्यान किया[१]।

(२) रामचन्द्र जब कौशिल्या के गृह में गये तो उनको हवन करते हुये देखा[२]।

(३) रामचन्द्र के वन जाने पर उनकी मंगल कामना से कौशिल्या ने घृतादि से हवन किया[३]।

(४) जब रामचन्द्र सीता के गृह में वन जाने की अनुमति लेने के लिये आये, तब सीता ने रामचन्द्र के निषेध करने पर भी उनसे कहा कि "यदि आप वन जावेंगे तो मैं तुम्हारे आगे चल कर रास्ते में जो झाड़ी और कांटे होंगे उन्हें साफ करती चलूँगी।"[४] उस (सीता) ने यह भी कहा कि "मुझे माता और पिता ने सब प्रकार की शिक्षा दी है इसलिये आपको 'किन्तु परन्तु' न करके, जो मैं कहती हूँ उसे मानना

---

(१) श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुषं ध्याय माना जनार्दनम्। (अयो० ४। ३३)

(२) प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तः पुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्। (अयो० २०। १६)

(३) हावयामास विधिना राम मंगल कारणात्। घृतं श्वेतानि माल्यानि-समिधःश्वेतवसर्षपान्॥ (अयो० २५। २८)

(४) यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रस्ते गमिष्यामि मृदन्ती कुश-कंटकान्। (अयो० २७। ७)

चाहिये।"[१] जब फिर भी रामचन्द्र ने सीता को अपने इरादे को छोड़ने का आग्रह करते हुये अवध ही में रहने की बात कही और कहा कि जब मेरे पीछे भरत तुम्हें नमस्कार करने के लिये आया करें तो उनके सामने तुम मेरी बड़ाई न करना क्योंकि राजा लोग दूसरों की प्रशंसा नहीं सुना करते हैं। तब सीता ने बड़ी तेजस्विता प्रदर्शित करते हुये, रामचन्द्र से कहा कि आप क्यों इस प्रकार की बातें करते हैं जो आप जैसे राजकुमारों को शोभा नहीं देतीं। उसने यह भी कहा कि "यदि मेरे पिता (जनक) यह जानते कि रामचन्द्र पुरुष के रूप में स्त्री ही हैं तो वे तुम्हारे साथ मेरा विवाह कभी नहीं करते।"[२] इससे स्पष्ट है कि समय पड़ने पर स्त्रियां पुरुषों की ताड़ना भी कर सक्ती थीं।

(५) जब शत्रुघ्न मन्थरा को, यह जान कर कि सारी अशान्ति का कारण यही है, बध करने लगे तो भरत ने शत्रुघ्न से कहा कि स्त्रियां अबध्याः[३] हैं इसलिये तुम इसे मुआफ़ कर दो। भरत ने यह भी कहा कि यदि रामचन्द्र सुन लेंगे कि तुमने इस मन्थरा का बध कर दिया है तो याद रक्खो कि वे तुम से और मुझसे बोलना भी पसन्द न करेंगे[४]।

(६) जिस समय लक्ष्मण, रामचन्द्र जी के भेजे हुये पंपापुरी में, इस लिये प्रविष्ट हुये कि सुग्रीव को भर्त्सना करें तो सुग्रीव भयभीत हो कर स्वयं लक्ष्मण के सामने नहीं आया, किन्तु अपनी स्त्री तारा को

---

(१) अनुशिष्टोस्मिमात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या बर्तितव्यम् यथा मया। (अयो० २७। १०)

(२) किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथलाधिपः। राम ! जामातरं प्राप्य स्त्रियम् पुरुषविग्रहम्। (अयो० ३०। ३)

(३) अवध्याः सर्व भूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।

(अयो० ७८।२१)

(४) इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।

त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतेध्रुवम्॥

(अयोध्या कांड ७८।२३)

भेजा और कहा कि "तुझको देखकर लक्ष्मण क्रोध न करेंगे क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष स्त्रियों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करते[1]।

रामायण के उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि उस समय तक वेदों की शिक्षानुसार स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और उनका समाज में समुचित मान था। महाभारत काल में इस मान में कमी हुई। द्रौपदी का जो अपमान, भीष्मपितामहादि के होते हुये, भरी सभा में हुआ वह इसका प्रमाण है। दुर्भाग्य से यह कमी उत्तरोत्तर बढ़ती गई और स्वामी शंकराचार्य्य जी के काल में यह अधोगति, पराकाष्ठा की सीमा को पहुंच चुकी थी।

स्वामी शंकराचार्य्य और स्त्री जाति

श्रीमद् शंकराचार्य्य के नाम से उनकी लिखी हुई वर्णित एक लघुपुस्तिका, प्रश्नोत्तरी के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ के उत्तर अत्यन्त आपत्ति-जनक हैं। एक प्रश्न है कि "नरक का द्वार कौन है"? उत्तर दिया गया है कि "स्त्री"[2] फिर एक दूसरा प्रश्न है कि "विश्वास पात्र कौन नहीं है"? इसका भी "स्त्री" ही उत्तर दिया गया है[3]। फिर एक प्रश्न है कि "कौन सा वह विष है जो अमृत के समान प्रतीत होता है।" उत्तर में वह विष "स्त्री" ही को बतलाया गया है[4]। इस प्रकार के और ऐसे ही अत्यन्त आपत्ति जनक प्रश्नोतर एक दर्जन से भी अधिक हैं, जो इस पुस्तक में दिये गये हैं। स्त्री जाति के अपमान की यह प्रवृत्ति कम नहीं हुई किन्तु बराबर बढ़ती ही गई। श्री तुलसीदास जी ने भी "ढोल गंवार" वाली चौपाई का ढोल पीट कर इसमें भाग लिया।

---

(१) त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥
(किष्किंधा ३३।३६)

(२) द्वारं किमेकं नरकस्य? स्त्रीम्।

(३) विश्वास पात्र न किमस्ति? नारी।

(४) किं तद्विषं भाति सुधोपमम्? स्त्रीम्।

स्वामी दयानन्द और स्त्री जाति

आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्येय केवल वेदों का प्रचार करना था। इसलिये उनके लिये अनिवार्य्य था कि वे स्त्री जाति की मान वृद्धि न करते। उन्होंने उदयपुर में एक ८, ९ वर्ष की बालिका के सामने नत मस्तक होकर देश वासियों को बतला दिया कि वे एक छोटी सी बालिका को भी मातृ-शक्ति के रूप में देखते हैं और चाहते हैं कि देश और जाति में "मातृवत्परदारेषु" की शिक्षा का फिर से मान होने लगे। श्रीयुत रंगा अय्यर M. L. A. ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Father India में उचित रीति से लिखा है कि "In the 19th century Rishi Dayananda Saraswati came as a Massiah to preach the restoration of women to their ancient glory". यह बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि स्त्री जाति के सम्बन्ध में अब जाति का दृष्टिकोण बदला हुआ है। अब प्रत्येक माता और पिता अपनी कन्या को सुशिक्षिता देखना चाहता है और प्रत्येक युवक, पढ़ी लिखी कन्या ही से विवाह करने का इच्छुक है। परिवर्तनकाल जाति के लिये बड़ा कठिन काल हुआ करता है। ऐसे समय की कुछ भी भूल विनाशक हो जाया करती है।

स्त्री जाति का परिवर्तन-काल

स्त्री जाति के भी इस परिवर्तनकाल में बड़ी सावधानी अपेक्षित है। कुछेक ध्यान में रखने योग्य सावधानियों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

(१) स्त्री और पुरुष मनुष्य जाति के दो भाग हैं और दोनों की, लोक सम्बन्धी आवश्यकतायें और कर्तव्य भी पृथक पृथक हैं। इसलिये उनकी शिक्षा पद्धति भी पृथक पृथक होनी चाहिये। जो लोग कन्याओं को शिक्षा दिलाने के उत्साह में, उन्हें वही शिक्षा जो पुत्रों को दी जाती है, दिलाने लगते हैं, बड़ी भूल करते हैं। सच तो यह है कि प्रचलित शिक्षापद्धति में देश की परस्थिति और जाति की आवश्यकताओं पर दृष्टि डालकर मौलिक परिवर्तन करने की जरूरत है तब वह पुत्रों के लिये भी उपयोगी बन सकती है और पुत्रियों के लिये तो उसे एक दम बदल देना पड़ेगा। मुझे प्रसन्नता है कि प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस पाठविधि के विभिन्नता

के सिद्धान्त को अपना रक्खा है और अनेक समझदार आदमी इसी प्रकार का मत रखने लगे हैं।

(२) दूसरी बात "सम्मिलित शिक्षा" (Co-education) है। प्राचीन काल से इस देश में यही सिद्धान्त बराबर माना और काम में लाया जाता रहा है कि बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। पश्चिमी देशों की नक़ल करके इस देश में कई जगह कन्या और पुत्रों को आश्रमों में इकट्ठा रक्खा गया और उन्हें एक ही शिक्षणालय में एक ही पाठ-विधि से शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। मुझे जहां तक मालूम हो सका है, प्रत्येक जगह इस परीक्षण में असफलता हुई। इसलिये इस सम्बन्ध में भी यही नियम प्रतिष्ठित रहना चाहिये कि दोनों बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। कुछ समय बीता जब अमरीका की एक शिक्षा सम्बन्धी रिपोर्ट में यह शिकायत की गई थी कि अधिकतर स्त्री अध्यापिकाओं से शिक्षा पाकर और उनकी अनेक बातों का अनुकरण करने से लड़के Womanised हो रहे हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि इस समय शिक्षा पाने वाली कन्याओं में, शारीरिकोन्नति की ओर से उदासीनता आ रही है। इस कुटेव का फल यह है कि अनेक स्त्रियां पहले ही प्रसव-काल में मौत के गाल में समा जाती हैं। पुराना तरीक़ा, गृह सम्बन्धी सभी काम स्वयं करने का बहुत अच्छा था, परन्तु उन्हें तो अब पढ़ी लिखी स्त्रियां छोड़ रही हैं और उसके स्थान पर, और ही कोई व्यायाम करतीं, ऐसा भी प्रायः नहीं देखा जाता। इसलिये आवश्यक है कि कन्याओं को, विवाह से पहले और विवाह के बाद भी, किसी न किसी प्रकार का व्यायाम, चाहे वह गृह-कार्य्य के रूप में हो चाहे और किसी प्रकार का, अवश्य मेव करना चाहिये। माता का सब से बड़ा काम जैसा कि इटली के भाग्य-विधाता मसोलनी ने भी कुछ समय बीता कहा था—"बलवान पुत्र और बलवती पुत्रियों का पैदा करना है।" यदि माता स्वयं निर्बला है तो वह किस प्रकार बलवती सन्तान पैदा कर सकती है? एक बार मुझे भ्रमण करते हुए, एक ग्राम के निकट, एक जङ्गली जाति (हाबूडा) की एक माता को बच्चा जनते हुये देखने का अनायास अवसर मिल गया। मुझे

एक बड़े घने वृक्ष की छाया में, सड़क के किनारे, ग्रीष्म ऋतु की दुपहरी में एक दिन विश्राम करने के लिये बाधित होना पड़ा। उसी समय (हाबूडा) जाति का एक जत्था वहां आया और उसी वृक्ष की छाया में, वह भी ठहर गया। वहीं आते ही, उस जत्थे के साथ वाली एक माता के बच्चा पैदा हुआ। नाम मात्र की सहायता एक दूसरी स्त्री ने दी थी अन्यथा सारे काम स्वयं उसी बच्चा पैदा करने वाली माता ने कर लिये। थोड़ी देर के बाद वह माता उस बच्चे को एक टोकरे में लिटा कर और उस टोकरे को अपने सिर पर रख कर चल दी। कठिनता से इस सब काम में ३ घण्टे लगे होंगे। परन्तु पढ़ी लिखी मातायें ३ घण्टे नहीं किन्तु ३ सप्ताह में मुश्किल से काम करने के योग्य होती हैं। यह अन्तर, शारीरिक परिश्रम से उदासीनता ही का फल है।

(४) शारीरिकोन्नति के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है, कि कन्याओं के विवाह की आयु, सोलह वर्ष से किसी हालत में भी कम न हो—अल्पायु में विवाह होने का यही दुष्परिणाम नहीं होता कि स्त्रियां और उनकी सन्तान निर्बल होती हैं बल्कि इसका इससे भी अधिक भयंकर परिणाम, बाल-विधवाओं की संख्या-वृद्धि है। नीचे की सारिणी से इसका कुछ अनुमान हो सकता है:—

आयु वर्ष	विवाहिता स्त्रियों की संख्या	विधवा		योग (अन्य मतों की विधवाओं की संख्या सहित
		हिन्दू	मुसलमान	
०—१	१३२१२	८६६	१०९	१०१४
१—२	१७७५३	७५५	६४	८५६
२—३	४९७८७	१५६४	१६६	१८०७
३—४	१३५१०५	३९८७	५८०९	८२७३
४—५	३०२४२५	७६०३	१२८१	१७७०३
५—१०	२२१९७७८	७७५८५	१४२७६	९४२४०
१०—१५	१००८७०२४	१८१५०७	३६२६४	२२३०३२
योग	१२८२४०८३	२७३८६७	५७९६९	३४५९२५

उपर्युक्त सारिणी से बाल विधवाओं की संख्या प्रकट होती है। भला जिस देश में, एक एक दो दो वर्ष की आयु वाली कन्यायें एक दो नहीं अपितु हजारों की संख्या में विधवा हों क्या उस देश के पुरुष और

नोट—ये अङ्क १९११ ई० की जन-संख्या के चित्रों से लिये गये हैं।

स्त्रियों को भी पढ़ा लिखा कहा जा सकता है? इन दुर्भाग्य वाली विधवाओं के कष्टों की कहानी बड़ी लम्बी है। अवकाश नहीं कि उसे यहां सुनाया जावे परन्तु इतनी तो कह ही देना चाहिये कि अपने को बड़ा दयालु कहने वाले हिन्दू इन (विधवाओं) पर दया नहीं करते। यदि बाल-विधवाओं की भोली और निर्दोष आंखों से बहते हुये आंसुओं को देख कर तुम्हें दया नहीं आती तो तुम कैसे दयालु हो?

अस्तु! यदि सोलह वर्ष से कम आयु वाली कन्याओं का विवाह न होता तो यह साढ़े तीन लाख के लगभग विधवायें तो देश में न होतीं। मुझे प्रसन्नता है कि इन विधवाओं पर तरस खाकर दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा ने एसेम्बली में एक बिल पेश किया है, जिससे विधवाओं का भी कुछ स्वत्व दायभाग में ठहराया गया है। विधवायें सहायता पाने की अधिकारिणी हैं इसलिये उनकी जिस प्रकार से भी संभव हो, सहायता करनी चाहिये।

—— ——

आप हमारी क्यों सहायता करें?

——— ——

समालोचना

धम्मपद—श्रीमान् पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० कृत हिन्दी अनुवाद सहित। प्रकाशक कला प्रेस प्रयाग। पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १) सजिल्द १।।)

महात्मा बुद्ध के हृदय में विश्वप्रेम का भाव भरा हुआ था। बुद्धत्व (यथार्थ ज्ञान) प्राप्त कर लेने के बाद वह जो कुछ उपदेश देते और कार्य करते थे वह सब शुद्ध, सात्विक, निस्वार्थ प्रेम के भाव से प्रेरित होकर। कुछ लोग उन्हें नास्तिक समझते हैं परन्तु ऐसे "विश्वप्रेमी-नास्तिक" उन आस्तिकों से करोड़ गुना श्रेष्ठ हैं जो आस्तिकता के परदे में झूठ बोलते और धोखा देते हैं अथवा गाड और खुदा के नाम पर अन्ध-श्रद्धा अन्ध-विश्वास और कदाचार फैलाते हैं तथा आडम्बर रचते, अन्याय और अत्याचार करते हैं। इस प्रसिद्ध पुस्तक में महात्मा बुद्ध के उन सदुपदेशों का सुन्दर मनोहर संग्रह है जिनको ग्रहण करके उनके जीवनकाल में ही करोड़ों मनुष्यों का चरित सुधर गया था। और उनके बाद तो बहुत से देशों में बौद्ध मत फैल गया।

हमारे पौराणिक भाइयों में जिस प्रकार गीता की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार बौद्धों में धम्मपद का सम्मान है। इसे बौद्धों की गीता कहना सर्वथा उचित है। अस्तु, मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त-कर्त्ता तथा आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम्० ए० ने धम्मपद का हिन्दी अनुवाद किया है आरंम्भ में ३८ पृष्ठ की सुन्दर भूमिका है। भूमिका विद्वत्तापूर्ण और मनोहारिणी है, पढ़ने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को जी नहीं चाहता। भूमिका में सम्पूर्ण पुस्तक का सारांश भी लिख दिया है पुस्तक में कुल २६ अध्याय हैं। एक अध्याय में तो महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट ही कहा है कि जाति से ब्राह्मण नहीं किन्तु सत्यता, दया क्षमा, शान्ति, संयम, विद्वत्ता, अहिंसा, सदाचार परोपकार आदि गुणों से ब्राह्मण कहता व मानता हूं।

धम्मपद के सब छन्द प्राकृत भाषा के हैं जो कि मोटे अक्षरों में छपे हैं। इसके बाद हिन्दी अनुवाद छपा है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर, सरल और सरस है। कागज छपाई सब उत्तम है।

महात्मा बुद्ध के उपदेश इतने मधुर, मनोहर हैं कि किसी भी मतवादी को अप्रिय नहीं लग सकते। उनके उपदेशों से प्रत्येक मत के लोग लाभ उठा सकते हैं। हमें आशा है कि हमारे आर्यसामाजिक और पौराणिक दोनों भाई इस ग्रन्थ-रत्न को पढ़कर लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

—कृष्णानन्द

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ४

(१)

अनुवाद

१६—अथ तृतीयं प्रहरति। द्रप्सस्ते द्यांमा स्कान्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमंऽ रसं प्रजा उपजीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तादित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गो०—मौगिति।

१९-अब वह तीसरी बार प्रहार करता है नीचे का मंत्रांश पढ़कर:—

द्रप्सस्ते द्यां मास्कन्।

(यजु० १। २६)

"तेरा रस आकाश में सूख न जाये"।

पृथ्वी का वही रस है जिसके द्वारा प्रजाओं का जीवन चलता है। इस प्रकार वह कहता है कि "द्यौलोक को न जा"। अब वह कहता है:—

"व्रज को जा.........मत छोड़"। (देखो १७ वीं० ब्रा० का अन्त)।

२०—स वै त्रियंजुषा हरति। त्रयो इमे लोका एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्यथो वै तद्यदिमेलोका अद्धो तद्यजुस्तस्मात्त्रियंजुषा हरति।

२०—वह तीन यजुओं का जाप करके फेंकता है। यह तीन ही लोक है। इसको इन तीन लोकों द्वारा दबाता है। जो यह तीन लोक हैं वही यजु हैं। इस लिये तीन यजुओं से फेंकता है।

२१—तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदिमां ल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यन्तूष्णीं तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्।

२१—चौथी बार मौन साधकर (बिना मंत्र पढ़े) फेंकता है—इन तीन लोकों के पार कोई चौथा लोक हो या न हो उससे भी इस दुष्ट शत्रु को भगा देता है। यह भी अनिश्चित है कि चौथा लोक हो या न हो और जो कुछ चुपचाप (बिना मंत्र के) किया जाय वह भी अनिश्चित है इस लिये चौथी बार चुपचाप फेंकता है।

[२]

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

यजुर्वेद पहले अध्याय के २४, २५, तथा २६ मंत्रों को जप करके स्फ्या द्वारा भूमि खोदने और मिट्टी फेंकने का विधान है।

[३]

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

(१) तस्माच् छरो नाम यद शीर्यत।

(१। २। ४। १)

चूंकि टूट गया, इसलिये (तीर का) नाम शर पड़ा' ('शृ' धातु का अर्थ हैं तोड़ना)

(२) इन्द्र के टूटे हुये वज्र के चार टुकड़े हुये (१) यूप (२)स्फ्य (३) रथ (४) शर। पहले दो से ब्राह्मण यज्ञ करते हैं। दूसरे दो से क्षत्रिय रक्षा करते हैं। (१।२।४।२)

अध्वरो वै यज्ञः।

(१।२।४।५)

(३) 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। अध्वरा यज्ञ हिंसा रहित होता है।

(४) देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्या। (१।२।४।८)

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं।

———

शतपथ ब्राह्मण (सभाष्य)

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ५

[१]

अनुवाद

१—देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ।

१—देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान बड़ाई के लिये झगड़ा करते थे। तब देव पराजित हो गये। असुरों ने सोचा कि हमारा ही यह सब जगत् है।

२—त होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ।

२—तब उन्होंने कहा—"आओ, इस पृथ्वी को बांट लें और इसको बांट कर इस पर रहें। अब इसको बैल के चमड़ों द्वारा पश्चिम से पूर्व तक बांटा।

३—तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ।

३—तब देवों ने इस बात को सुना। असुर इस पृथ्वी को बांट रहे हैं। चलो वहां चलें जहाँ यह असुर बांट रहे हैं। क्योंकि यदि असुर पृथ्वी को आपस में बांट लेंगे तो हम कहां रहेंगे। तब वह यज्ञ को विष्णु के रूप आगे करके पहुंचे।

४—ते होचुः। अनु नोऽस्यां पृथिव्यामा भजता स्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त—इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति ।

४—तब उन्होंने कहा, "इस पृथ्वी में हमारा भी बांट करो। हमको भी इसमें कुछ भाग दो।" असुरों ने इस पर डाह किया और कहा, "हम केवल इतना देंगे जितने पर यह विष्णु सो सके।"

५—वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडरे महद्वै नोऽदुर्ये नोयज्ञसम्मितमदुरिति ।

५—विष्णु बौना था। परन्तु देवों ने इसका बुरा न माना और कहा, "अगर उन्होंने यज्ञ के बराबर भाग दे दिया तो बहुत दे दिया।"

६—ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामितिदक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ।

६—उन्होंने पूर्वाभिमुख विष्णु को लिटाकर सब ओर से छन्दों द्वारा घेर दिया।

"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"। (यजु० १। २७)

गायत्र छन्द द्वारा तुझे दक्षिण की ओर घेरता हूँ।

त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। (यजु० १। २७)

त्रैष्टुभ छन्द से तुझे पश्चिम की ओर घेरता हूं।

जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। (यजु० १। २७)

जागत छन्द से तुझे उत्तर की ओर घेरता हूँ।

७—तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्वां पृथिवीꣳ समविन्दन्त तद्यदेनेनेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्तैवꣳ ह वाऽइमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद।

७—सब ओर से उसको छन्दों द्वारा घेर कर और पूर्व की ओर अग्नि रख कर उसके द्वारा पूजा तथा श्रम करते रहे। इसके द्वारा उन्होंने इस सब पृथ्वी को ले लिया। और चूंकि इसके द्वारा उन्होंने सब पृथ्वी जीत ली इसलिये इसका "वेदि" नाम पड़ा। इसी लिये कहते हैं कि जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी इसीके द्वारा सब पृथ्वी को प्राप्त किया। जो पुरुष इस बात को इस प्रकार समझता है वह इस सबको शत्रुओं से छीन लेता है और शत्रुओं को भाग रहित कर देता है।

८—सोऽयं विष्णुर्ग्लानः। छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच।

८—अब यह विष्णु थक गया। परन्तु सब ओर छन्दों से और पूर्व की ओर अग्नि से घिरा होने के कारण भाग न सका। तब औषधियों की जड़ में जा छिपा।

९—ते ह देवा ऊचुः। क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैशान्विच्छतेति तं खनन्त—इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्तयाध्वरस्य वेदिं चक्रे।

९—तब देव कहने लगे —"विष्णु कहां गया? यज्ञ कहाँ गया"? उन्होंने कहा" सब ओर छन्दों द्वारा और पूर्व की ओर अग्नि द्वारा घिरा होने के कारण भाग तो सकता नहीं। इसलिये यहीं ढूंढो। थोड़ा सा खोद कर उन्होंने ढूंढा। तीन अङ्गुल पर पाया। इस वेदि तीन अंगुल गहरी होनी चाहिये। इसलिये पाञ्चि ऋषि ने सोमयज्ञ की वेदि तीन अंगुल गहरी बनाई।

दूसरा वर्ष समाप्त

दूसरे वर्ष का अन्तिम अंक पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है। अगले अंक से वेदोदय का तीसरा वर्ष आरम्भ होगा। इस दो वर्ष के काल में वेदोदय को १०००) से अधिक घाटा उठाना पड़ा है। देश में भी परिस्थिति इस समय बड़ी भयंकर हो रही है। पर हम हताश नहीं है। पवित्र उद्देश्य तथा पाठकों का प्रेम हमारे साथ है। यदि अगले वर्ष में हमारे ग्राहकों की कृपा रही तो वेदोदय में हमको घाटा न रहेगा। वेदोदय के पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि वे हमारी सहायता करना चाहते हैं, यदि वे समझते हैं कि 'वेदोदय' आर्य्य समाज, तथा वेदों का प्रचार कर रहा है तो कम से कम २ ग्राहक बनाकर अवश्य भेज दें। दो ग्राहकों का बनाना कोई बड़ी बात नहीं; अपने मित्रों को वेदोदय दिखाइये। यदि किन्हीं कारणों से आप स्वयं प्रार्थना न कर सकें तो हमको पता लिख भेजिये। हमारे कई प्रेमियों ने बहुत से ग्राहक बनाये हैं। विशेष रूप से पं० शिवचरणलाल जी, आर्य्य पुरोहित कालपी का नाम उल्लेखनीय है।

लेखक महोदयों के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं। यदि उनकी अमूल्य सहायता न मिली होती तो हम वेदोदय को इतना सुन्दर न निकाल पाते। हमें आशा है कि भविष्य में भी हमारे लेखक तथा पाठकों की ऐसी ही कृपा रहेगी।

मालवीय जयंती

गत ११ फर्वरी १९३२ को बसन्त पंचमी के दिवस पूज्य मालवीय जी की ७०वीं० वर्ष गांठ काशी में बड़ी धूमधाम के साथ मनाई गई। देश के सभी प्रमुख नेताओं की ओर से बधाइयां आईं तथा अनेकों संस्थाओं की ओर से अभिनन्दन पत्र पढ़े गये। उन सबका उत्तर मालवीय जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में दिया। आपने कहा—"यदि मेरे किसी अनुचित कर्म से हमारी पवित्र और प्रिय जन्मभूमि को लज्जा से मस्तक अवनत करना पड़ेगा,

तो मैं चाहूँगा कि उसी क्षण मुझे मृत्यु प्राप्त हो।"

पं० मदनमोहन मालवीय ने वह काम किया है जो सर सय्यद अहमद खां ने मुसल्मान जाति के लिये किया था। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि मालवीय जी का कार्य्य सर सय्यद अहमद के कार्य्य से कहीं अधिक है। हिन्दू विश्व विद्यालय एक ऐसी संस्था है जिस पर समस्त हिन्दू जाति तथा भारतवर्ष को गर्व हो सकता है। मालवीय जी ने स्वर्गीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द के साथ शुद्धि तथा अछूतोद्धार का कार्य्य किया था। अब भी हिन्दू जाति के कार्य्य में हम उनको पीछे नहीं पाते हैं। ऐसा निस्वार्थ सेवी नेता हमारे बीच में बहुत दिनों रहे यही हमारी मंगल कामना है।

हमारी ईश्वर से पुनः प्रार्थना है कि मालवीय जी को चिरायु करे।

कानपुर के दो प्रमुख व्यक्ति

लगभग तीन मास में हो कानपुर के दो प्रमुख अर्य्यसमाज के कार्य्य कर्त्ता इस पृथ्वी से उठ गये। श्री रायबहादुर बा० आनन्द स्वरूप जी की मृत्यु से लोग दुःखित ही थे कि मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी की मृत्यु का समाचार मिला। इन दोनों व्यक्तियों की सेवायें बड़ी अमूल्य हैं और उन सेवाओं का विस्तृत वर्णन "अर्य्यसमाज के निर्माता" शीर्षक में निकलेगा। यहाँ पर संकेत रूप से इतना हो लिखा जा सकता है कि कानपुर का सुन्दर आर्य्यसमाज मंदिर जिसमें १ लाख रुपया लगा है, डी० ए० वी० हाई स्कूल कानपुर तथा डी० ए० वी० कालिज कानपुर की स्थापना इन दोनों के ही उद्योग से हुई थी। इन दोनों के लगातार परिश्रम से डी० ए० वी० कालिज स्थापित हो सका। मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी उत्तम कवि तथा लेखक थे। "आर्य्यवर्त्त" नामक उर्दू का साप्ताहिक पत्र उनके सम्पादकत्व में बहुत दिनों तक निकला। यह दोनों आत्मायें २५-३० वर्ष से लगातार साथ साथ काम करती रहीं और आकस्मिक रूप से इस लोक से भी वे एक साथ ही उठ गईं। संयुक्त प्रान्त को उनकी मृत्यु से जो क्षति पहुँची वह अकथनीय है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को सद्गति दे।

भाग ५] अप्रैल, सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २५

वेदोदय

सम्पादक

वार्षिक मूल्य २) श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए० एक प्रति का ।)
विदेश के लिये २।) श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल०बी०

विषय-सूची

१—भजन [श्री पं० राजाराम पांडेय "मधुप"] १
२—मांस विचार [श्री पं० गोपीनाथ जी वैद्य, आर्य्यसमाज मैनपुरी] २
३—वेदों की झांकी १०
४—क्या आर्यसमाज एक सम्प्रदाय है ? [श्री पं० कृष्णानन्द जी] १२
५—समालोचना—चपटी खोपड़ी [श्री चिन्तामणि "मणि"] १९
६—स्वर्ग [श्री महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज दिल्ली] २०
७—आर्य समाज के निर्माता-ठाकुर कृष्णलाल जी २८
८—राममोहनराय केशवचन्द्र सेन और दयानन्द [श्री० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०] ३१
९—सम्पादकीय—नया वर्ष सुखदाई हो—शतपथ ब्राह्मण ३६
१०—शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य] ३७

वेदोदय के नियम

१—"वेदोदय"-प्रत्येक अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से २), वी० पी० से २।≈), विदेश से २॥), नमूने का अङ्क।) के टिकट आने पर भेजा जाता है।

३—"वेदोदय" का वर्ष चैत्र मास से प्रारम्भ होता है, किन्तु साल के अन्दर किसी भी मास से ग्राहक श्रेणी में नाम लिखाया जा सकता है।

४—पत्र आदि लिखते समय अपना पूरा पता और ग्राहक नम्बर स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

५—यदि ३ मास तक के लिए ही पता बदलवाना हो, तो अपने डाकखाने में ही प्रबंध कर लेना चाहिए। कार्यालय में तभी लिखना चाहिए, जब कि पता अधिक समय के लिए बदलवाना हो।

६—हर एक ग्राहक के नाम वेदोदय बड़ी सावधानी से कई बार जांच कर भेजा जाता है, यदि १५ ता० तक ग्राहक महाशय को पत्र न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी सज्जन ने बीच में ही वेदोदय को ग़ायब कर लिया है। ऐसी दशा में पहिले अपने डाकखाने में लिखा-पढ़ी करनी चाहिये और इसपर भी वेदोदय न मिले, तो डाकखाने के जवाब सहित कार्यालय में इसकी सूचना भेजने पर दूसरी प्रति भेज दी जावेगी।

७—लेखों को छापने न छापने या न्यूनाधिक करने का अधिकार सम्पादक को है।

श्री लाला दीवानचन्द जी एम० ए०

आपका सारा त्यागमय जीवन आर्य्य समाज की सेवा में बीता है। आप डी० ए० वी० कालिज कानपुर के प्रिंसिपल तथा आगरा विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर हैं। उच्च समाज में आपके कारण आर्य्य समाज की ख्याति तथा गौरव में वृद्धि हो गई है।
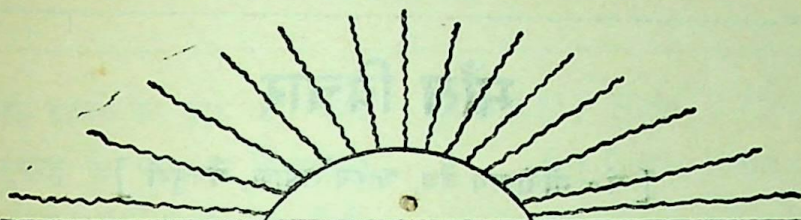
ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ५ | चैत्र संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, अप्रेल १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३ | संख्या १ पूर्ण सं० २५

भजन

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय, 'मधुप']

दर्शन करूँ मैं तेरा कैसे प्रभो बतादे।
साहस को खो चुका हूं आशा तो कुछ बँधा दे॥ १॥
हूँ नीच अति ही स्वामिन्! विद्या बिहीन भी हूं।
धर बाँह मेरी भगवन्! आगे को पग बढ़ा दे॥ २॥
मझधार में है नैया; मतिहीन है खेवैया।
कृपा-दृष्टि को बढ़ा के, मुझे पार तो लगा दे॥ ३॥
षट् शत्रु से घिरे हैं; साथी हमारे सारे।
कर रूप ज्ञान अपना; हे ईश्वर! बढ़ा दे॥ ४॥
आँधी प्रचण्ड उद्यत, नौका डुबोने को है।
प्रभु आर्य्य देश को तो; अब भी 'मधुप' बना दे॥ ५॥

माँस विचार

[पं० गोपीनाथ वैद्य, आर्य्य समाज, मैनपुरी]

'मांस' एक बड़ा ही विवादास्पद शब्द है। जहां कहीं वैदिक साहित्य में यह शब्द आ जाता है, लोग फ़ौरन यह समझने या समझाने लग जाते हैं कि उक्त साहित्य में पशु-मांस भक्षण विधेय माना गया है और आर्य्य लोग पूर्वकाल में उसको खाते थे। अभी हाल में मैंने श्री मङ्गलानन्द पुरी जी, जो पिछले थोड़े दिनों तक आर्य्य सन्यासी थे और अब आर्य्यसमाज से पृथक् हो गये हैं, की 'वैदिकधर्मी समाज' नामक एक पुस्तक देखी, जिसमें उक्त पुरी जी ने मांस भक्षण के विधान में अथर्ववेद कांड ९ सूक्त ६ मं० ३९ 'एतद्वा उ स्वादीयो अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्' का प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पशु-मांस भक्षण की वेद में स्पष्ट आज्ञा है। उक्त महानुभाव ने मांस-भक्षण के औचित्य में स्वामी हरिप्रसाद जी के स्वाध्याय संहिता नामक ग्रन्थ से उद्धरण प्रस्तुत किया है और श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार के वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य में दी हुई 'मांस' शब्द की व्याख्या को भी अपना समर्थक समझा है।

मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि श्री पुरी जी ने इस विषय पर स्वयं गम्भीरता से विचार किया प्रतीत नहीं होता और जहां वेदों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहां से प्रकरणादि का विचार किये बिना ही अपनी सम्मति को सिद्धान्त रूप दे दिया है।

यदि उक्त महानुभाव ने सार्वदेशिक के फर्वरी १९३० वाले अंक में श्री बाबू श्यामसुन्दरलाल जी प्रधान आर्य्यसमाज मैनपुरी का वह लेख विचारपूर्वक देख लिया होता जिसमें उक्त बाबू जी ने स्वामी हरिप्रसाद जी की स्वाध्याय संहिता के उस भाग की विद्वता-पूर्ण समालोचना की है और सिद्ध किया है कि उक्त स्वामी जी का पक्ष सायण के भाष्य और युक्ति प्रमाण दोनों से विरुद्ध और भ्रमपूर्ण है तो शायद आपको अपनी नवीन 'वैदिकधर्मी समाज' पुस्तक में उसका प्रमाण देना उचित प्रतीत न होता।

रही पं० चन्द्रमणि जी के निरुक्त भाष्य की बात सो उसके आशय पर भी आपने सर्वतोभाव से विचार किया नहीं मालूम होता। उक्त विद्यालंकार जी ने जिस दृष्टिकोण से यास्काचार्य के निर्वचन का भाष्य किया है वह यथार्थ ही है; परन्तु उससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि यास्काचार्य के निर्वचन पर

अधिक प्रकाश डालने का द्वार ही बन्द है। इतनी सूचना के अनन्तर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार 'मांस' शब्द पर विवेचना करूंगा।

संस्कृत साहित्य में जङ्गम और स्थावर दोनों के शरीरावयवों के लिये समान शब्दों का प्रयोग पाया जाता है अर्थात् अस्थि, त्वचा, स्नायु, वीर्य, रस, रक्त, मज्जा, मेद और मांस शब्द मनुष्य-पशु और वृक्ष-वनस्पति सब के शरीरस्थ पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यहां तक कि चेतनों की भांति वृक्ष वनस्पति और उनके फलों तक में शिर, नेत्र, लोम, केशपाद आदि भी माने और कहे जाते हैं।

अपनी उक्त प्रतिज्ञा के पोषणार्थ प्रथम मैं आपटे के संस्कृत अंगरेजी कोष से कतिपय शब्दों को अर्थ सहित उद्धृत करना और तदनन्तर उनका प्रयोग साहित्य में दिखा देना उचित समझता हूं जिनको अधिक देखना हो वह स्वयं उक्त कोष देख सकते हैं।

उक्त आपटे के संस्कृत अंग्रेजी (Apte's Sanskrit English Dictionary) कोष से उद्धृत संस्कृत शब्द और उनके अंग्रेजी अर्थ निम्नांकित हैं :—

अस्थि = (1) A bone ; (2) The kernel or stone of a fruit.

त्वचा = (1) Skin ; (2) Hide ; (3) Bark, Rind ; (4) any cover or coating.

शिरा = (1) Any tabular vessel of the body ; (2) Nerve.
[Note—For the meaning of 'Nerve' see the word below.]

रक्त = (1) Red color ; (2) Blood ; (3) Copper ; (4) Saffron.

[Note—For the meaning of 'Blood' see the word below.]

मज्जा = (1) The marrow of the bones & flesh ; (2) The pith of plants.

मांस = (1) Flesh, meat ; (2) The fleshy part of a fruit.

इसी के साथ मैं नीचे (English Chamber's dictionary) से उक्त संस्कृत शब्दों के अंग्रेजी पर्य्यायो के अर्थ भी दे देना उचित समझता हूं जिससे हमारे अंग्रेजी पढ़े लिखे महानुभाव भी देख सकें कि कोषों में चर और अचर दोनों प्रकार के शारीरिक भागों के लिये उस भाषा में भी समान शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

निम्न विवादास्पद शब्दों के अर्थ दिये जाते हैं :—

1. Skin—(1) The natural outer covering of an animal body. (2) A hide. (3) The bark or rind of plants etc.
2. Nerve—(1) Anatomy--one of the fibres which carry sensation from all parts of the body to the brain. (2) Botany—one of the fibres in the leaves of plants.

3. Marrow—(1) The soft fatty matter in the cavities of the bones. (2) The pith of plants.
4. Blood—(1) The red fluid in the arteries & veins of men' & animals. (2) The juice of any thing especially if red.
5. Flesh—(1) the soft substances which covers the bones of animals. (2) The soft substance of fruits. (3) The soft substance of a fruit fit to be eaten.

ऊपर दिये हुए संस्कृत और अंग्रेजी शब्दों के अर्थों को देखकर, जो कि प्रामाणित कोषों से नक़ल कर दिये गये हैं, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य, पशु, पत्ती, वृत्त, वनस्पति और फलादि सब के शरीरावयवों के समान नाम हैं। अतएव विज्ञ-पाठक देख सकते हैं कि यदि किसी स्थल पर 'मांस' के आने पर कोई महाशय 'पशु-मांस' ही होने का हठ करें तो किस प्रकार सम्भवतः अर्थ का अनर्थ हो सक्ता है।

अब मैं प्रथम इस बात को प्रमाणित करना चाहता हूँ कि वैद्यक शास्त्र में वनस्पति [(स्थावर) जगत Vegetable kingdom] के गूदा आदि अवयवों के लिये वही 'मांस' आदि शब्द प्रयुक्त हैं जो कि जंगम जगत् [Animal kingdom] के शारीरिक अंगों के लिये प्रयुक्त है।

सुप्रसिद्ध सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान अध्याय ३ गद्य खंड संख्या ४३ में जहां गर्भ के अंग प्रत्यंग के एक साथ वा आगे पीछे बनने के विषय में वर्णन आया है निम्न कथन मिलता है :—

"तत्तु न सम्यक् । सर्वांग प्रत्यांगानि युगपत्संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिगर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशांकुर वच्चूतफलवच्च। तद्यथा चूत फलेऽपरिपक्वे केशर मांसास्थि मज्जा न पृथक् दृश्यन्ते। काल प्रकर्षात्तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्तेषां सूक्ष्माणां केशरादिनां कालः प्रव्यक्ततां करोति । एतेनैव वंशांकुरोपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वंग प्रत्यंगेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः तान्येव काल प्रकर्षनात् प्रवक्तानि भवन्ति।"

अर्थात् गर्भ के भीतर अंग प्रत्यंगों के विषय में जो भिन्न भिन्न समयों में आगे पीछे बनने के विविध मत है। वह ठीक नहीं हैं। श्री धन्वन्तरि जी का कथन है कि गर्भ के सूक्ष्म होने के कारण बांस के कोपल वा आम (आम्र फल) की भांति अंग प्रत्यंग पृथक् पृथक् नहीं जाने जाते। अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में केशर=रेशे, मांस =गूदा, अस्थि=गुठली, तथा मज्जा =उसकी गरी वा मिंगी सूक्ष्म होने से पृथक् पृथक् नहीं मालूम होते और फिर कालान्तर में पक जाने पर वे ही अवयव केशर आदि प्रकट होने लगते हैं और यही बात बांस के अंकुर में भी होती है। इसी प्रकार से छोटेपन में गर्भ के भीतर अंग-प्रत्यंग उपस्थित तो होते हैं परन्तु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते पुनः काल के बढ़ने पर वही स्फुट हो जाते हैं।

(२) पुनः चरक संहिता चिकित्सित स्थान अध्याय २३ छर्दि (वमन) अधिकार में निम्न पाठ देखिये :—

"सितोपला माक्षिक पिप्पिलीभिः
कुल्माष लाजायव सक्तु गृञ्जान्।
खर्जूर मांसानि अथ नारिकेलं
द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात्॥
(श्लो० २६)

स्रोतो जलाजोत्पल कोल मज्जा,
चूर्णानि लिह्यान्मधुना भयांच।
कोलास्थि मज्जाञ्जन मक्षिकाविड्,
लाजा सिता मागधिका कणा च॥
(श्लो० २७)

उक्त श्लोकों में मोटे अक्षरों वाले शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि खजूर फल के गूदा के लिये 'मांस', बेर की मींग के लिये मज्जा और उसकी गुठली के लिये अस्थि शब्द प्रयुक्त हैं। और देखिये :—

"भल्लातकास्थि अग्नि समं,
त्वङ्मांसं स्वादु शीतलं॥
(चरक संहिता सूत्र स्थान अध्याय २७
श्लो० १५८)

अर्थात् भिलावे की गुठली=अस्थि बहुत गर्म, त्वचा=बकली, व मांस= गूदा मीठा और ठंडा होता है।

पुनः भाव प्रकाश निघंटु हरीतक्यादि वर्ग में निम्न श्लोक विद्यमान है :—

"पथ्याया मज्जनि स्वादु स्नायौ अम्लो व्यवस्थितः । वृन्ते तिक्तः त्वचि कटुः अस्थ्नि तु तुवरो रसः ।"

जिसकी स्पष्ट टीका यह होती है कि हड़ की मज्जा=मिंगी में मीठापन, स्नायौ=नस के रेशे में खट्टापन, वृन्तः =डण्डी में कडुआपन, त्वचा=बकली में चरपरापन और अस्थ्नि=गुठली में कषैलापन होता है।

अतएव उपरोक्त उदाहरणों से निश्चयात्मक रूप में सिद्ध है कि संस्कृत भाषा में मांस, मज्जा, अस्थि, त्वचा आदि सभी शब्द स्थावर जगत् के गूदा, मिंगी, गुठली, बकली आदि के लिये स्पष्टतः प्रयुक्त मिलते हैं।

इसके पश्चात् मैं यास्काचार्य्य के 'मांस' शब्द की निरुक्ति पर विचार करना चाहता हूं। स्नातक श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार ने वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य में मांस को केवल जंगम शरीर के अवयव विशेष को लक्ष्य में रखते हुए यास्क के शब्दों का भाष्य किया है। उन्होंने जिस दृष्टि से उन शब्दों का विचार किया है वह एक पक्ष है और उन्होंने उसका अत्योत्तम रीति से पोषण किया है। परन्तु मैं यहां पर यास्क के उन्हीं शब्दों से उस दूसरे पक्ष की भी सिद्धि करूंगा जिसका पूर्वोक्त संस्कृत तथा अंग्रेजी कोषों और आयुर्वेद शास्त्रों में स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

निरुक्त ४-३-३ में लिखा है :—

मांसं माननं वा मानसं वा मनो अस्मिन् सीदति वा।

चूँकि कोषों और आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रमाणों से हम यह दिखा चुके हैं कि 'मांस' शब्द से जीव (Animal) शरीर के कोमल भाग और वनस्पति-फल (Vegetable) के कोमल भाग (गूदा) दोनों अपेक्षित हैं अतएव यास्क के शब्दों में हमको यह देखना है कि उनसे भी उक्त दोनों अर्थ प्रकट होते हैं वा नहीं। यास्काचार्य ने प्रथमतः मांस को 'माननं' कहा है। माननं शब्द की सिद्धि (१) (मन्-घञ्) प्रतिष्ठा अर्थ में [देखो आप्टे संस्कृत अङ्गरेजी कोष-शब्द माननं] और (२) बधार्थक णिजन्त 'मन' धातु से स प्रत्यय करने से सिद्ध होते हैं। श्री आपटे ने भी अपने संस्कृत-अंगरेजी कोष में 'माननं' शब्द के उक्त दोनों ही अर्थ स्वीकार करते हुए 'माननं' का अर्थ (1) Honouring; respecting और (२) Killing दिये हैं।

क्रम संख्या (१) के प्रतिष्ठापरक अर्थ से वृक्ष-वनस्पति फलों के कोमल भाग (गूदा) का भाव सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक फल के मांस=गूदा से ही उसकी मान-प्रतिष्ठा होती है—विशेष स्वीकरणीय होता है। जैसे आम, पपीता, खरबूजा आदि।

क्रम संख्या (२) के वधार्थ से 'माँस' का प्राणी के मारने से प्राप्त होना सिद्ध है। तृतीयतः 'मांस' को यास्क ने 'मानसं' कहा है।

'मानसं' मानस शब्द से बनता है जिसके अर्थ आपटे के उक्त कोष में mind = मन और conscience = विवेक = इष्टानिष्ट विचार शक्ति हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मांस वह पदार्थ है जिससे मन में इष्ट = भले और अनिष्ट = बुरे भावों का उदय होता है।

(१) फलों के सुन्दर स्वादिष्ट गूदा और दूसरे मनमोहक स्वादिष्ट लाभकारी पदार्थों के देखने तथा ध्यान करने से उनके लिये इष्ट भावना मन में उठती है अतएव मानसं का अर्थ मनः प्रसादक होता है और

(२) 'पशु मांस' के पक्ष में 'मानसं' का अर्थ मन में अनिष्ट = बुरे भावों को उत्पन्न करनेवाला है क्योंकि वह हिंसा से प्राप्त होता है।

तृतीयतः 'मांस' को 'मनः अस्मिन् सीदति' बताया है। सद् धातु के यहां भी दो अर्थ अपेक्षित हैं—(१) बैठना और (२) अवसादित होना। श्री आपटे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में 'सद्' के अर्थ (1) To sit और (2) To be afflicted, pained; (3) To be dejecte l, sink into despodency हैं।

(१) सद् धातु का 'बैठना' अर्थ लेने पर 'मांस' से तात्पर्य उस पदार्थ से होगा जिसमें मन बैठे या आकर्षित हो। अतएव इस पक्ष में 'मांस' शब्द से सुन्दर स्वादिष्ट फलों का गूदा—गूदेदार फल जैसे आम, अनन्नास, पपीता, खरबूजा, छुहारा, खजूर, किशमिस या अन्य सुन्दर सुवासित मिष्ठान्नादि का ग्रहण होगा। (२) सद् धातु का अर्थ 'अवसादित होना' लेने पर 'मांस' से तात्पर्य 'पशु मांस' से होगा जो स्वभावतः मनमें अवसाद, घृणा, दुख क्लान्ति (गिरावट-थकावट) पैदा करता है जो हत्यारूपी क्रूरकर्म से प्राप्त होता है। जिसके देखने मात्र से ही घृणा, उसकी प्राप्ति के साधन पर विचार करने से दुःख और सेवन से सतोगुण की हानि होकर मानसिक पतन होता है।

उक्त निर्वचनों की व्याख्या पर किन्हीं महानुभावों को यदि सन्देह हो तो वे इसका प्रयोग (Practical experiment) कर सकते हैं वे किसी ईसाई या मुहम्मदी भाई के (मासूम) निष्पाप बच्चे के सामने सुन्दर फल, उनका (मांस) गूदा, छुहारे, किशमिस, पेड़े, गुलाबजामुन और बकरे का मांस रख कर देख लें कि उनमें से कौन सा मांस उसके दिल में बैठता है और वह किससे घृणा करता है; किसको खाकर प्रसन्न होता है और किससे मुंह बनाता और उबकाता है।

बच्चों की बात तो दूर रही कोई भी पुरुष या स्त्री, किसी भी मजहब या मिल्लत का हो बूचरखाने में निरपराध पशुओं को बे रहमी से कटते देख करुणा से द्रवित या पशुमांस के बाजारों में उन पर मक्खियां भिनभिनाती देख घृणा से अभिभूत और सुन्दर फलों के बाजार में उनको देख प्रसन्नता से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता। मैंने ऐसे सज्जनों से बातचीत की है जो पशुमांस खा तो लेते हैं परन्तु वे किसी पशु या पक्षी को खाने के लिये स्वयं मार नहीं सकते। उनका दयालु पवित्र आत्मा इस क्रूर कर्म को सहन नहीं कर सकता। हाँ, अभ्यास बना लेने की बात ही और है। ऐसे मनुष्यों का भी संसार में अभाव नहीं है जो मृतक पशुओं और मनुष्यों का मांस तक खाने में संकोच नहीं करते। ऐसे ही पुरुष राक्षस या असुर कहलाते हैं।

अब हमको अथर्ववेद कांड ९ सूक्त ६ मंत्र ३९ को लेकर यह विचार करना है कि उसमें आये हुये 'मांस' शब्द का कौन सा अर्थ वेदों की (Spirit) शिक्षा और प्रकरण के अनुकूल होगा। विवादास्पद मंत्र का पद पाठ यह है:—

एतत् वा उ स्वादीयः यत् अधिगवं,
क्षीरं व मांसं वा तत् एव न अश्नीयात्।

अर्थ—(एतत् वा उ स्वादीयः) यह जो स्वादिष्ट पदार्थ हैं (यत् अधिगवं क्षीरं) चाहे गाय का दूध हो (वा मांसं) चाहे अन्य कोई मन को अच्छा लगने वाला स्वादिष्ट फल या—मिठाई आदि हो (तत् एव न अश्नीयात्) वह भी [अतिथि से पहिले] न खाय।

उक्त मंत्र के 'मांस' शब्द से जो 'पशु मांस' ग्रहण करते हैं उनको वेदों की उस ध्वनि को ध्यान में रखना चाहिये जो 'गां मा हिन्सीः, अजां मा हिंसीः, अश्वं मा हिंसीः अर्थात् गाय बकरी, घोड़ा को मत मारो और "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" अर्थात प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखो,' से निकलती है। अतएव उक्त में पशु मांस कैसे अपेक्षित हो सकता है जो बिना हिंसा (हत्या) के प्राप्त ही नहीं हो सकता। दूसरे इससे पहिले मंत्र ३४ में पशुओं के खाने में बड़ा दोष दिखाया है। उसके शब्द यह हैं:—"प्रजां च वा एषः पशुश्च गृहाणाम् अश्नाति यः पूर्वः अतिथेः अश्नासि।" अर्थात् जो अतिथि से पहिले भोजन करता है वह घर के सन्तान और पशुओं को खाता है इससे यह स्पष्ट है कि सन्तान और पशु कोई भी भक्ष्य पदार्थ नहीं है अन्यथा दोनों को समान कोटि में रखना और अत्यंत निकृष्ट सन्तान खादन के सदृश पशु खादन का उदाहरण देना निरर्थक हो जाता। तीसरे इस मंत्र में ही 'स्वादीयः' विशेषण पड़ा है जो क्षीर और मांस

दोनों से सम्बन्धित है। गाय का दूध निस्संदेह स्वादिष्ट है जो बालक युवा-वृद्ध-पशु-मांस भक्षक वा अभक्षक सर्व सम्मत है—परन्तु पशुमांस स्वयं कदापि स्वादिष्ट नहीं होता। किन्तु जब तक घी, नमक, मिर्च, मसाला उसके साथ मिलाकर न पकाया जावे उस समय तक पशुमांस खाया ही नहीं जा सकता तथा महा अरुचिकर, घृणोत्पादक और मितली पैदा करनेवाला है अतएव पशु-मांस' न तो स्वादीय ही कहा जा सकता है और न खाद्य पदार्थ। यह बात दूसरी है कि मनुष्य अपनी पशु प्रकृति के आधीन होकर पशु मांस को अन्य स्वादिष्ट वानस्पत्य या खनिज पदार्थों में लपेट और पका कर उसे खाते २ शराब तम्बाखू आदि बदमजा चीज़ों के सेवन की भाँति ऐसा अभ्यासी बन जाये कि उन अपेय और अखाद्य पदार्थों में भी अन्य व्यसनों की तरह स्वाद लेने और लोक में उसकी शिक्षा देने लग जाये। परन्तु बुद्धिमान, विचारशील, परोपकारी और पर दुःख देख कर द्रवित होनेवाले सहृदय सज्जन इस तमोभूत उत्कृष्ट गुण-घातक पशुमांस का कभी आदर नहीं कर सकने और न ऐसे हिंसा पाक विचारों से सहमत हो सकते हैं अन्त में निष्कर्ष रूप यह कह कर इस लेख को समाप्त किया जाता है कि वेद, यास्क-निरुक्त समस्त कोष, प्राणी शास्त्र ana-tomy-Physiology वनस्पति शास्त्र Botany और आयुर्वेद शास्त्र आदि सन का यह सिद्धांत है कि 'मांस' शब्द से केवल पशु मांस ही का ग्रहण नहीं करना चाहिये। और यही अर्थ उक्त अथर्ववेद का ९-६-३९ में आये हुए 'माँस' शब्द का युक्ति प्रमाण और प्रकरणानुकूल सिद्ध होता है।

(२५)

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि। वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम्। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय॥

(यजु० ३। १८)

हे अग्नि! (इन्धानाः) हम जलते हुये लोग (त्वा) तुझ (द्युमन्तꣳ) जलते हुये को (शतꣳ हिमाः) सौ वर्ष तक (समिधीमहि) जलावें। (वयस्वन्तः) हम जीवन वाले लोग (वयस्कृतं) तुझ जीवन देने वाले को। (सहस्वन्तः) साहस वाले हम लोग (सहस्कृतम्) तुझ साहस देने वाले को। (अदब्धासः) किसी से न सताये गये हम लोग (अदाभ्यम्) तुझ अहिंसनीय और (सपत्नदम्भनम्) शत्रु नाशक को जलावें। (चित्रावसो) हे विचित्र प्रकार के लाभ पहुंचाने वाले अग्नि! (ते) तेरे (स्वस्ति पारम्) कल्याणकारी पार को (अशीय) हम पा जावें।

इस मंत्र में उस अग्नि को सम्बोधन किया है जिसमें यज्ञ करते हैं। पहले अंश में दो बातें बताई हैं। पहली तो यज्ञ करनेवालों की योग्यता। कहा है कि "जलते" हुये हम लोग जलती हुई अग्नि को जलावें। अग्नि तो जलती हुई है ही। बुझी हुई अग्निको कौन प्रज्वलित कर सकता है? हवन तो होता ही जलती हुई अग्नि में है। परन्तु कौन हवन करने का अधिकारी है? वही जो स्वयं भी जलता हुआ हो अर्थात् जिसके आत्मा में जोश और श्रद्धा की अग्नि प्रज्वलित हो रही हो। बाहरी अग्नि में वही समिधा या ईंधन डालने का अधिकारी है जो

स्वयं (इन्धाना:) अर्थात् श्रद्धा के ईंधन से धधक रहा है। जिसका आत्मा ठण्डा है, जिसमें भक्ति की आग बुझ चुकी है, जिसको धर्म पर विश्वास नहीं रहा वह आह्वनीय अग्नि को प्रज्वलित करने में सर्वथा असमर्थ है। कुण्ड की अग्नि पर समिधा रखकर मानो हम अपने भीतर की अग्नि और बाहर की अग्नि में समता उत्पन्न कर रहे हैं।

इसी टुकड़े में दूसरी बात यह कही है कि हम सौ जाड़ों भर (शतꣳ हिमा) हवन कहते रहें। बिना हवन यज्ञ के संसार ठण्डा है। सांसारिक वृत्तियां मनुष्य को यज्ञ से हटाती और प्रमादी तथा आलसी बनाती हैं। इसका इलाज यज्ञ है। यज्ञ से न केवल बाहरी शीत दूर होता है किन्तु आत्मिक गर्मी आती है।

फिर कहा है कि "वयस्वन्त:" अर्थात् जीव वाले हम लोग जीवन देने वाले अग्नि को प्रज्वलित करें। यहाँ जो गुण अग्नि का बताया है वही याज्ञिक का। अग्नि उसी वस्तु को गर्म करेगी जिसमें गर्म होने की योग्यता है। जिसमें जीवन है उसमें यज्ञ द्वारा अधिक जीवन आता है, जिसमें बल है वह अधिक बलयुक्त हो जाता है। कोई पुष्टिकारक दवा लाश को पुष्टि नहीं दे सकती। इसी प्रकार जीवनहीन व्यक्तियों और जातियों में यज्ञ भी कुछ जीवन नहीं फूंक सकता। यज्ञ हमारे विकास के लिये हैं परन्तु विकास का बीज पहले हममें होना चाहिये।

तीसरी बात यह बताई है कि यज्ञ हिंसा के लिये नहीं किन्तु हिंसक जीवों के लिये हैं। हिंसकों का मारना हिंसा नहीं, हिंसक तो हिंसनीय हैं ही। उनको न मारना हिंसा को बढ़ाना है। इसलिये अग्नि को यहाँ 'सपत्नदम्भनम्' अर्थात शत्रुओं को कुचलनेवाला बताया है।

मंत्र के अन्तवाले टुकड़े में अग्नि को 'चित्रावसु' कहा है। अर्थात् इसमें अनेक गुण हैं। यह विचित्र २ वस्तुओं और लाभों का पहुंचानेवाला है। यज्ञ से किसकी सिद्धि नहीं होती, यज्ञ के लाभ अपार हैं। इसीलिये कहा है कि हे अग्नि हम तेरे लाभों के पार को पा जायँ। अर्थात् क्या अच्छा होता अगर हम समझ लेते कि यज्ञ से इतने लाभ हैं तो अवश्य ही जीवन भर यज्ञ करते रहते। यह माना कि यज्ञ के अपार लाभ हैं तब भी 'अपार' के 'पार' पाने की इच्छा ही मनुष्य को आगे बढ़ाती है।

क्या आर्य समाज एक सम्प्रदाय है ?

[श्रीयुत पं० कृष्णानन्द जी]

हौर के उर्दू प्रकाश पत्र के गत अंक में श्रीयुत सन्तराम जी बी० ए० का "आर्य्य समाज को सम्प्रदाय मत बनने दो" शीर्षक लेख छपा है। लेखक के विचार उच्च और उदार हैं, परन्तु मेरा निश्चय है कि उनके विचार को ज्यों का त्यों मान लेने से आर्य्यसमाज के मूल सिद्धान्त की हानि है अर्थात् आर्य्यसमाज की विशेषता ही नष्ट हो जायगी। मैं पहले पहल उनका लेख ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूँ तदनन्तर उस पर विचार करूँगा वह लिखते हैं:—

"आर्य्य धर्मकी एक बहुत बड़ी उत्तमता विचार की स्वतंत्रता रही है। जिस प्रकार इस्लाम और ईसाईमत में विचारों का भेद होने के कारण मुशरिकों या काफिरों और गैर-ईसाइयों को वध करने के लिये जहाद और मजहबी युद्ध होते रहे हैं इस प्रकार आर्य्यधर्म में कभी नहीं हुए। जिस भांति खुदा के नाम पर इस्लाम ने रक्त की नदियाँ बहाईं उस भांति आर्य्यधर्म ने कभी नहीं बहाईं। इसका कारण यह है कि आर्य्य लोग मनुष्य के विचार और बुद्धि को स्वतंत्रता देकर उसके आचरण को ही नियमित करते थे। विचार चाहे किसी के कुछ ही हों, जब तक उसका आचरण ऐसा नहीं जो सोसायटी के लिये हानिकारक हो, तब तक प्राचीन आर्य्यगण उसे किसी प्रकार का दंड नहीं देते थे, इस हेतु उनमें आस्तिक और नास्तिक निराकारवादी और साकारवादी सब तरह के लोगों के लिये स्थान था। यह विचार-स्वातंत्र्य प्राचीन आर्य्यजाति का एक बहुमूल्य गुण और विशेषता है। यह इसको अन्य संकुचित मतों या सम्प्रदायों से उत्कृष्ट ठहराती हैं। युरोप और अमेरिका के समाज आज जहाँ इस आर्य-आदर्श की ओर आ रहे हैं वहाँ सहस्रों दार्शनिक और वैज्ञानिक ऐसे हैं जो बाइबिल को ईश्वर-प्रणीत और महात्मा ईसा को ईश्वर का पुत्र होने में विश्वास नहीं रखते। उनमें अनेक सज्जन ऐसे भी हैं जो आत्मा और परमात्मा तक को भी नहीं मानते। परन्तु पश्चिमी समाज आज उनको उन विचारों के कारण वध्य या दण्डनीय नहीं ठहराता, इसी हेतु वह समाज ज्ञान और विज्ञान में इतनी उन्नति

कर रहा है। वहाँ केवल उस व्यक्ति को दंड दिया जा सकता है जिसका आचरण समाज के लिये दुखद हो।

इसके विरुद्ध इसलाम में यह बात नहीं है। वहाँ कुरान और हज़रत मुहम्मद साहब के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह उठाने से (अविश्वास करने से) संगसारी* का दंड दिया जाता है।

वहाँ आचरण पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। एक चोर, डाकू और दुष्ट वा दुराचारी मुसलमान को भी एक सत्यवादी, दयालु और परोपकारी ईसाई या हिन्दू से अच्छा समझा जाता है। विचार और बुद्धि पर इस्लाम के इस प्रकार ताला लगा देने का ही यह परिणाम है कि मुस्लिम-समाज साइन्स और फ़िलासफ़ी में कुछ भी उन्नति नहीं कर सका। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस्लाम के माननेवाले करोड़ों मनुष्य हैं और मुसलमानों में एक बड़ी संगठन-शक्ति देख पड़ती है, परन्तु इसका कारण उसका धार्मिक अन्धविश्वास नहीं किन्तु इस्लाम की सामाजिक समता और भ्रातृभाव है।

मुसलमानों ने गत कई वर्षों में भारत में कई स्थानों में बहुत ऊधम मचाया है, लूटमार की है और अपनी कट्टरता को बड़े जोरों से दिखलाया है। भारतवर्ष के मुसलमान इस समय जो तेज़ी या उपद्रव दिखा रहे हैं उसका कारण कुछ और ही है। नहीं तो अपने अन्धविश्वास या कट्टरपन के हेतु इस्लाम तो आज संसार के अन्य इस्लामी देशों से वहिष्कृत होता जा रहा है। टर्की से इसका बोरिया-बिस्तरा उठ चुका है। मिस्र में इसके ढाँचे ढीले पड़ रहे हैं। रूसी तुर्किस्तान में नमाज़ पढ़नेवाले को सज़ा मिलती है। निदान संसार पुरोहितों और मुल्लाओं आदि के सड़े-विचारों से ऊब गया है।

वैदिकधर्म ही एक ऐसा धर्म था जो आचरण पर उचित बन्धन लगाते हुए भी मनुष्य की बुद्धि और विचार को पूर्ण स्वतंत्रता देता था, जो सम्प्रदायों और मतमतान्तरों से ऊबे हुए मनुष्यों को अपनी गोद में ले सकता था, परन्तु आर्य्यसमाज के कुछ नाममात्र के हितैषी शक्ति के वास्तविक रहस्य को न समझकर इस्लाम के अन्ध-अनुकरण में सार्वभौम वैदिकधर्म को एक संकुचित सम्प्रदाय या मजहब बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह मनोवृत्ति किसी भी सोसायटी की उन्नति का हेतु नहीं हो सकती। प्रथा व रीतियों को धर्म समझना भूल है। परमेश्वर ने सब को एक समान बुद्धि नहीं दी, इस कारण विचार-भेद (विचारों में भिन्नता) होना स्वाभाविक है। जहाँ विचार-भेद रखने का अधिकार नहीं वहाँ उन्नति का मार्ग बन्द है, हाँ आचरण में मनमानी

* पत्थर बरसा कर मार डालना।

करने की किसी को आज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि इससे समाज का संगठन टूट जाता है। इसलिये आर्य्य भाइयों को सोचना चाहिये कि वह वैदिकधर्म को सम्पूर्ण मनुष्य जाति का कल्याण करनेवाला धर्म रहने देना चाहते हैं या एक संकुचित सम्प्रदाय बना डालना।"

मेरा विचार

श्रीमान् सन्तराम जी का कथन यथार्थ है कि प्राचीन आर्य्य लोग सदाचार वा सद्व्यवहार में तत्पर रहते हुए विचार-स्वातंत्र्य के परम प्रेमी, पक्षपाती और समर्थक थे। वास्तव में किसी मनुष्य को इस कारण पापी या अधर्मी या दंडनीय नहीं मानना चाहिये कि वह ईश्वर को निराकार या साकार मानता है अथवा ईश्वर को मानता ही नहीं। मुख्य धर्म तो सदाचार और सद्व्यवहार ही है जैसा कि मनुजी ने लिखा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्यासत्यम् क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

परन्तु आर्य्यसमाज एक सोसायटी है। यह कोई मत या सम्प्रदाय नहीं है और आर्य्यसमाज को सम्प्रदाय बनाना भी ठीक नहीं। परन्तु प्रत्येक समाज का कुछ न कुछ सिद्धान्त होता है। आर्य्यसमाज का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त (प्रसिद्ध दश नियमों में से दूसरा नियम) ईसाई मुसलमानों, पौराणिकों आदि के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त को तुलना में आर्य्यसमाज का मस्तक ऊँचा करनेवाला है, सिद्धान्त से आर्य्यसमाज का बड़ा भारी गौरव है। अतः मैंने जहाँ तक विचार किया है आर्य्यसमाज में ईश्वरवादी के लिये स्थान है परन्तु अनीश्वरवादी के लिये स्थान नहीं है मेरा विचार है कि कोई व्यक्ति यदि वेदपाठ, सत्यभाषण, परोपकार और सन्ध्योपासनादि वेदोक्त कर्मों को करता हो परन्तु वेदों को ईश्वरकृत न मानता हो तो भी वह वैदिक धर्म और आर्य्यसमाज से पृथक् नहीं समझा जा सकता। क्योंकि आर्य्यसमाज के मुख्य दस नियमों में महर्षि दयानन्द ने वेदों का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य बतलाया है परन्तु यह नहीं लिखा कि वेदों को ईश्वरकृत मानना अनिवार्य है। साथ ही साथ ईश्वर को मानना अनिवार्य बतलाया और ईश्वर के स्वरूप और गुण कर्म के विषय में वेदों का क्या सिद्धान्त है इसे श्री स्वामीजी ने दूसरे नियम में बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट कर दिया है।

अतः ईश्वर को न माननेवाले को वैदिकधर्मी कहना अनुचित और असंगत होगा। हाँ, ऐसे अनीश्वर-वादी या साकार-वादी या मूर्त्तिपूजक को जो सदाचारी हो, अधर्मी या पापी या दंडनीय मानना घोर अन्याय होगा। यदि हम आर्य्यसमाजिक लोग किसी

व्यक्ति को केवल इस कारण पापी या दण्डनीय मानें कि वह ईश्वर को साकार मानता है तो निस्सन्देह इस आचरण से हम पर आर्य्यसमाज को एक सम्प्रदाय बनाने का दोषारोपण हो सकता है, परन्तु मुसलमानों और ईसाइयों की भाँति हम आर्य्य लोग केवल विश्वास या विचार की भिन्नता के कारण किसी को पापी या अधर्मी या दंडनीय नहीं मानते। अतः आर्य्यसमाज को सम्प्रदाय बनाने का दोष आर्य्यसमाज पर नहीं लग सकता। हाँ यदि कोई आर्य्यसमाजी इतना मूर्ख या पक्षपाती हो कि वह किसी मनुष्य को केवल उपासनाविधि की भिन्नता के कारण अथवा अनीश्वरवादी होने मात्र से ही उसे पापी या अधर्मी या दंडनीय मानता हो तो उसकी भूल है और बेशक उस पर यह दोष लगता है कि उसने आर्य्यसमाज को एक सम्प्रदाय समझ रक्खा है।

हमें खूब समझ लेना चाहिये कि आर्य्यसमाज एक समाज है न कि सम्प्रदाय। महर्षि दयानन्द की दूरदर्शिता देखिये कि उन्होंने इसका नाम मत-परक नहीं रक्खा है किन्तु समाज-परक रक्खा है, जिसका अर्थ स्पष्ट है यह एक समाज है, सोसाइटी है और सोसायटी में भिन्न भिन्न मत के लोगों का होना स्वाभाविक है। परन्तु इस मतभेद या मत भिन्नता की एक सीमा या मर्यादा होनी चाहिये। यह भिन्नता इतनी अधिक न होनी चाहिये कि मूल सिद्धान्त के नितान्त प्रतिकूल हो जाय। ऐसा होने से मूल पर ही कुठाराघात हो जाता है और "नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पं" वाली बात हो जाती है।

मेरा तो निश्चय है कि जो मनुष्य ईश्वर को साकार मानता है या मूर्तिपूजा करता है अथवा अनीश्वरवादी है उसे† वैदिकधर्मी कहना अनुचित होने के साथ साथ आर्यसमाज के मूल सिद्धान्त को ही उड़ा देना है। यों साधारणतया २-४ छोटे छोटे सिद्धान्तों को न मानने से कोई हर्ज या हानि नहीं जैसे किसी उच्च श्रेणी की परीक्षा में लोग छात्रों की छोटी छोटी गल्तियों की उपेक्षा करते हैं पर बड़ी बड़ी गल्तियों को क्षमा नहीं करते। इसी प्रकार उसे आर्यसमाज से पृथक् करना उचित नहीं परन्तु मुख्य और मूल सिद्धान्त को मानना अत्यावश्यक और अनिवार्य है।

अब कृपया हिन्दूसमाज पर ध्यान दीजिये। हिन्दुओं में साकारवादी, निराकारवादी, बहुदेववादी, एकदेववादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी, सर्वात्मवादी इत्यादि बहुत से भिन्न भिन्न मत के लोग

---

† हां हम उसे धर्मात्मा कह सकते हैं यदि वह सदाचार व सद्व्यवहार में तत्पर रहे।

विद्यमान हैं। इन सब भिन्न भिन्न मतवादियों† को हिन्दू ही कहा और माना जाता है। मेरी समझ से इन सब विभिन्न मतवादियों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कहना और मानना सर्वथा उचित, न्याय-संगत और समयानुकूल अति आवश्यक है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म में (यद्यपि हिन्दू नाम प्राचीन नहीं है नवीन है तथापि) देवसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि भी निहित वा सम्मिलित हैं।

बौद्ध धर्म की गणना हिन्दूधर्म से बाहर नहीं हो सकती। क्योंकि महात्मा बुद्ध स्वयं आर्य (हिन्दू) थे और उनका चलाया धर्म सांख्य दर्शन के अनुसार अहिंसा संयम और वैराग्य के आधार पर है अर्थात् उन्होंने वेदोक्त ईश्वरोपासना और यज्ञादि कर्मों को छोड़कर केवल सदाचार को ही ग्रहण किया था। सारांश यह कि बौद्धधर्म विस्तृत हिन्दू-धर्म की एक शाखा के तुल्य है।

† यह सब मत परस्पर भिन्न होने पर सेमिटिक मजहबों (यहूदी ईसाई इस्लाम) से इन हिन्दू मतों व सम्प्रदायों में एक विशेष प्रकार का भेद या अन्तर है वह यह कि अहिन्दू सम्प्रदायों (सेमिटिक मतों) में व्यक्ति विशेष और पुस्तक विशेष पर विश्वास लाने को ही मुख्य धर्म और मुक्ति का हेतु मानते हैं परन्तु हिन्दू-सम्प्रदायों (नान् सेमिटिक मतों) में विश्वास लाने मात्र से नहीं किन्तु ज्ञान से अथवा धर्म कर्म या पूजा व भक्ति करने से मुक्ति की प्राप्ति मानी गई है।

श्री सन्तराम जी चाहते हैं कि आर्य समाज में साकारवादी और अनीश्वरवादी भी सम्मिलित किये जायँ। परन्तु मैं नम्रता पूर्वक निवेदन करूँगा कि इस प्रकार आर्यसमाज विकृत व दूषित हो जायगा। हिन्दू-धर्म वा हिन्दू-समाज इस नाम से उनका अभिप्राय भली-भाँति सिद्ध हो जाता है। क्योंकि हिन्दुओं में आस्तिक, नास्तिक, साकारवादी, निराकारवादी, मूर्त्ति-पूजक, मूर्त्ति न पूजने वाले, एकदेववादी बहुदेववादी इत्यादि सब मतवादियों के लिए स्थान है परन्तु सेमिटिक मतों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि सेमिटिक मतों में किसी विशेष व्यक्ति व पुस्तक पर विश्वास लाने को ही परम धर्म और मुक्ति का हेतु मानते हैं और हिन्दू-धर्मान्तर्गत मतों वा सम्प्रदायों में ज्ञान से अथवा कर्म से अथवा भक्ति व उपासना से मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं।

श्री सन्तराम जो जो कुछ चाहते हैं वह हिन्दू धर्म वा हिन्दू-समाज के नाम से पहले से ही प्रचलित है। उन्हें इसी पर सन्तुष्ट होकर सम्पूर्ण हिन्दुओं को संगठित करने का प्रयत्न करना चाहिए। आर्यसमाज को विकृत करके उनका अभीष्ट सिद्ध न होगा। आर्यसमाज के मस्तक को ऊंचा करने वाले आर्य्यसमाज के गौरव की रक्षा करनेवाले मुख्य और सर्वोपरि दो ही सिद्धान्त हैं।

(१) ईश्वर की भक्ति या उपासना। (२) वेदों का पढ़ना और पढ़ाना। यदि आर्यसमाज के अन्तर्गत साकार-वादी और अनीश्वरवादी समझे जायँ तो आर्य समाज की विशेषता ही नष्ट हो जायगी और आर्यसमाज आर्यसमाज कहलाने योग्य न रह जायगा।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि वैष्णव शैव, शाक्त, राधास्वामीपन्थी, जैन, सिक्ख बौद्ध इत्यादि मतवादियों को क्या आर्य कहना उचित होगा ? और क्या इनके मतों को आर्यधर्म के अन्तर्गत मानना उचित होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यदि "हाँ" है तो बेशक सम्पूर्ण हिन्दू आर्य और हिन्दुओं में जो हजारों मत-मतान्तर हैं वे सब आर्य-धर्म ही कहे और माने जायँगे। इस प्रश्न के उत्तर में मेरा स्वतंत्र विचार यह है कि सम्पूर्ण हिन्दू आर्य कहला सकते हैं (क्योंकि हमारा प्राचीन नाम आर्य ही है) परन्तु वर्त्तमान आर्य-समाज से भिन्न मतवादियों को वैदिक धर्मी कहना अनुचित और असंगत होगा। उदाहरणार्थ वैष्णवों को हम आर्य कह सकते हैं परन्तु उनके मत को वैदिकधर्म नहीं कह सकते। इसी प्रकार जैनियों को आर्य्य कहना अनुचित न होगा परन्तु जैन-धर्म को वैदिकधर्म कहना अन्याय होगा। अस्तु।

संसार में वेदों को ईश्वरकृत न मानते हुए भी बहुत से लोग वेदों को आदर-पूर्वक पढ़ते हैं। वे आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार वेदों के अर्थ को नहीं मानते। परन्तु आर्य-समाज का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त (जैसा कि दूसरे नियम में है) इतना उत्तम, उदात्त और अनुभवगम्य है कि अमेरिका व यूरोप के अनेक विद्वान् और आर्यसमाज से भिन्न मत के अनेक विद्वान् (जैसे महात्मा गान्धी और रवीन्द्रनाथ टागौर) आर्यसमाज में वर्णित ईश्वर के स्वरूप को हृदय से मानते हैं और भविष्य में भी मानेंगे। संसार से पुराणानुसार साकार-ईश्वर का सिद्धान्त उठ रहा है। कुरान और बाइबिल के अनुसार भी ईश्वर का ऐसी दशा में वेदों में जिस ईश्वर का प्रतिपादन है तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध दस नियमों में से दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप का जैसा वर्णन है वही सिद्धान्त संसार में प्रचलित होने योग्य है। इस प्रकार वैज्ञानिक संसार में केवल तीन ही मुख्य मत रह जायँगे। एक निराकार-ईश्वरवादी दूसरे अनीश्वर वादी तीसरे सर्वात्मवादी।

मेरा निवेदन है कि आर्य समाज एक समाज है जिसमें वे ही सम्मिलित हो सकते हैं जो निराकार ईश्वर को मानते हुये वेदों के अनुसार सर्वांश में नहीं तो आधे से अधिक अंश में आचरण करते हों। चूंकि आर्य समाज कोई सम्प्रदाय नहीं है इस हेतु इसमें कुछ थोड़ा सा मतभेद रखने वाले भी सहर्ष सम्मिलित

किये जायँगे परन्तु इतना अधिक मतभेद रखने वाले नहीं सम्मिलित किये जा सकते कि अनीश्वर-वादी या वेद विरोधी बन जायँ। कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन काल में मनु जी के (स जातिभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः) व्यवस्थानुसार वेद विरोधियों को समाज से पृथक् कर देते रहे होंगे। अस्तु !

यह तो मैं भी मानूंगा कि कि केवल रीतियों को ही धर्म समझना ठीक नहीं, परन्तु अच्छी रीतियों से धर्म दृढ़ होता और कुरीतियों से अधर्म बढ़ता है। अतः कुरीतियों को दूर करना, रीतियों में संशोधन व परिवर्त्तन करना प्रत्येक समाज का कर्त्तव्य है। ऐसा किये बिना, किसी समाज की उन्नति नहीं हो सकती आज अधिकांश हिन्दू मुर्दे की भाँति क्यों हैं ? कारण यही है कि वे कुरीतियों के दास बन गये हैं।

आर्यसमाज विचार-स्वातन्त्र्य का विरोधी कदापि नहीं था न है। क्योंकि इसमें कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि जो लोग ईश्वर को न मानते हों अथवा वेदों का ईश्वरकृत न मानते हों वे पापी या अधर्मी या दण्डनीय हैं। इसके विपरीत सेमिटिक मतों में विशेष व्यक्ति व पुस्तक पर विश्वास न लाने वाले को पापी और नरक गामी माना गया है। इस्लाम मत में ऐसे मनुष्यों को दण्डनीय भी माना गया है। आर्य समाज विचार स्वातन्त्र्य का पक्षपाती और समर्थक है। क्योंकि आर्यसमाज सदाचार और सद् व्यवहार को ही धर्म का मुख्य लक्षण मानता है परन्त साथ ही साथ ईश्वरास्तित्व को भी मानता है। आर्यसमाज वेदों पर श्रद्धा रखता और वेदों को महत्व देता है परन्तु वह मुसलमानों की भाँति यह नहीं कहता कि जो लोग वेदों को ईश्वर-प्रणीत नहीं मानते वे पापी या अधर्मी हैं। आर्यसमाज ज्ञान सत्कर्म और ईश्वरोपासना तीनों अत्यन्त आवश्यक माने गये हैं। सेमिटिक मतों की भाँति आर्यसमाज के किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा है कि ईश्वर पर विश्वास लाने मात्र से मुक्ति मिलती है अथवा वेदों पर विश्वास लाना ही परम धर्म है। अतएव आर्य समाज विचार स्वातन्त्र्य का पूर्णपक्षपाती है परन्तु मतभेद या मतभिन्नता के कारण किसी से द्वेष वा दुर्व्यव्यवहार करने की शिक्षा नहीं देता।† वह तो सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथा योग्य वर्ताव करने की आज्ञा देता है। यथायोग्य इस लिए कहा कि संसार में बहुत से धूर्त और दुष्ट भी रहते हैं। उन दुष्टों के साथ यथायोग्य बर्ताव न करने से अत्याचार बढ़ता है। अतः आर्यसमाज का लक्ष्य ज्ञान का

†मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

प्रसार और सदाचार का प्रचार करना है। चूँकि वेदों में ज्ञान भरा हुआ है अतः वेदों का प्रचार करना आर्यसमाज अपना कर्त्तव्य समझता है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है। अतः आर्यसमाज ज्ञान का प्रचारक, अज्ञान का विनाशक फलतः विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थक है। आर्य समाज किसी मनुष्य को विचार-स्वातन्त्र्य के कारण पापी या अधर्मी या दण्डनीय नहीं ठहराता, जब तक कि उसका आचरण या व्यवहार दोष युक्त न हो। अतः आर्यसमाज को सम्प्रदाय कहना या मानना अनुचित है।

इति शम्।

समालोचना

सचित्र चपटी खोपड़ी

लेखक, बा० अवध विहारीलाल "अवध" बी० ए० एल-एल० बी० "विशारद", प्रकाशक तरुण भारत ग्रन्थावली, दारागंज प्रयाग। पृष्ठ संख्या सौ के लगभग मूल्य १)। कागज़ उत्तम छपाई साफ़।

"चपटी खोपड़ी" जैसे शब्द के श्रवण होते ही हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी सी उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य ठट्ठा कर हंस पड़ता है। निस्संदेह उक्त नाम की पुस्तक अपने यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करती है। यह अपने ढंग की नवीन तथा अनोखी पुस्तक है। इसके सम्पूर्ण विषय इस प्रकार सात खंडों में दर्शाये गये हैं :—

१—"चमन से" "चपटी खोपड़ी"। २—नौ नगद न तेरह उधार। ३—रुपयों की वर्षा। ४—विपत्ति के बादल। ५—काशी यात्रा। ६—नोंक झोंक। ७—अनोखी पिनक।

हास्य एवं मनोविनोद को लक्ष्य में रखकर ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रायः जन-समूहों में देखा भी गया है जैसा पुस्तक का आशय है कि लोग किसी एक व्यक्ति को चुनकर और अपने मनोविनोद के लिये उसके उक्त प्रकार के नाम आदि उसके स्वभाव एवं गुणानुसार रखकर उसकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। इसी भाँति "चमन" उपनाम चपटी खोपड़ी नामक कल्पित और प्रधान पात्र पर ऐसी घटनायें घटाई गई हैं जो विनोदजनक हैं, जिससे पुस्तक रोचक दृष्टिगत होती है। इसमें कई चित्र भी दिये गये हैं, जिनको देखते ही अनायास हंसी छूट पड़ती है। निस्सन्देह पुस्तक मनोविनोद के लिये उपयोगी है।

—चिन्तामणि "मणि"

स्वर्ग

[श्री महात्मा नारायण स्वामी जी]

[श्री पं० देवदत्त जी शर्म्मा, जी ने स्वर्ग विषयक कुछ शंकायें भेजी थीं। उनका उत्तर श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने दिया था। उसी क्रम में कुछ शंकायें फिर पं. जी ने भेजी। इनका उत्तर भी लिखने की श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने फिर कृपा की है। उत्तर कोष्टों में (ब्रेकेट) दिया गया है।]

—सम्पादक

ने स्वर्ग विषय पर कुछ शङ्कायें लेख रूप में श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय की सेवामें भेजी थीं। वह लेख उन्होंने बड़ी कृपा करके "वेदोदय" की दिसम्बर सन् १९३० व जनवरी सन् १९३१ की दो संख्याओं में प्रकाशित किया था। उस लेख में की गई शङ्काओं का उत्तर असीम कृपा करके परम पूज्य महात्मा श्री नारायण स्वामी जी ने "वेदोदय" की जून व जुलाई सन् १९३१ की संख्याओं में दिया है। परन्तु मुझे दुःख से लिखना पड़ता है कि मेरा कुछ भी समाधान नहीं हो सका है। इसका कारण मेरी मतिमन्दता ही होगी। परन्तु सम्भव है कि द्वितीय बार के उत्तर में विषय अधिक स्पष्ट हो जावे। इसलिये इस संक्षिप्त लेख में अपनी शङ्काओं को फिर दुहराता हूं। सर्व प्रथम उत्तर के विषय में कुछ निवेदन करूंगा। माननीय उत्तरदाता ने—लेख का मुख्य भाग स्वर्ग विषयक एक कल्पना पर निर्भर है यह लिख कर श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के विचारों की दीर्घ समालोचना की है। परन्तु मेरी शङ्काओं का आधार श्री पं० जी की कल्पना नही हैं। प्रत्युत, वेद व उपनिषद के वे स्थल हैं जो स्वर्ग का वर्णन करते हैं—तथा "मृत्यु और परलोक" के वे स्थल हैं जिनमें दूसरी गति का वर्णन किया गया है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। श्री पं० जी का मत केवल अपने विचारों की पुष्टि के लिये दिखलाया था। यद्यपि श्री पं० जी के मत से प्रायः सर्वांशों में सहमत हूं, परन्तु जो समालोचना श्री नारायण स्वामी जी ने उनके विचारों की की है, उसका उत्तर देना, मैं अपने अधिकार से बाहर की बात समझता हूं। तथा श्री पं० सातवलेकर जी के विचारों को अलग रखने से भी मेरी शङ्कायें ज्यों की त्यों प्रबल बनी रहती हैं। ऐसा मेरा विचार है। श्री नारायण स्वामी जी ने जुलाई मास के "वेदोदय" में पृष्ट १३०

…व १३१ में मृत्यु और परलोक में वर्णित स्वर्ग" शीर्षक देकर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—पहली व दूसरी गति में जाने वाले एक जैसा शरीर रखते हैं, एक जैसे लोक में रहते हैं। वेद में इन लोकों को द्यौ और पृथ्वी अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित लोक कहा गया है। पहली और दूसरी गति वालों में अन्तर यह होता है कि पहली गति को सुख दुख दोनों अथवा केवल दुःख का उपभोग करते हैं। दूसरी गति वाले केवल सुख भोगते हैं। ये ऐसे लोकों में जाते हैं जहां अधिक सुख हो परन्तु वहां भी वे स्थूल शरीर के साथ ही होंगे। इन विचारों की संक्षेप में समालोचना करता हूँ—

कठ उपनिषद् में नचिकेता का दूसरा प्रश्न दूसरी गति के विषय का है (कृपया देखिये "वेदोदय" संख्या जनवरी १९३१ पृष्ठ १४६)

"स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है, न वहां मौत है, न कोई बुढ़ापे से डरता है। भूख और प्यास दोनों को तर कर शोक से वर्जित पुरुष स्वर्गलोक में आनन्द करता है।" इससे स्पष्ट है कि दूसरी गति में जाने वाले प्राणियों का स्थूल शरीर नहीं होता। स्थूल शरीर में मृत्यु, बुढ़ापा, भूख, प्यास न हो यह असम्भव है। यदि यह वर्णन मोक्ष का माना जावे, तो तीसरे प्रश्न की क्या आवश्यकता है? तथा तीसरे प्रश्न के उत्तर में ही तो आत्मज्ञान कराया गया है। बिना ज्ञान मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है?

[यह समझना भूल है कि कठोपनिषद् की तीन बातें (नचिकेता के ३ वर) मरने की बाद की ३ गतियों से सम्बन्धित हैं। उसका पहला प्रश्न अपने पिता को प्रसन्न करने के लिये था। दूसरे प्रश्न के द्वारा उसने स्वर्ग प्राप्ति के साधन पूछे हैं। तीसरे के द्वारा उसने यह पूछा था कि मरने के बाद जीवात्मा बाकी रहता है या नहीं। दूसरे प्रश्न में आये स्वर्ग शब्द का अभिप्राय मोक्ष से है जैसा कि प्रश्न के इन शब्दों से प्रकट होता है :— "स्वर्गलोका अमृतत्त्वं अमृतत्त्वं भजन्त' अर्थ-स्वर्ग निवासी अमरता का सेवन करते हैं। द्वितीय गति वालों का अमृतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है।]

सूक्ष्म शरीरधारी प्राणियों के वास के लिये सूक्ष्मलोक होना चाहिये, स्थूल लोक नहीं। अतएव वे सूक्ष्म लोक में रहते हैं। यह लोक अन्तरिक्ष में है—

अथ यदि द्विमात्रेण
मनसि सम्पद्यते।
सोऽन्तरिक्षं यजुर्भि-
रुन्नीयते स सोमलोकं॥
स सोमलोके विभूति
मनुभूय पुनरावर्तते।

[प्रश्नोपनिषद् पांचवां प्रश्न श्लोक ४]

[प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में एक भी शब्द नहीं है जिससे किसी सूक्ष्मधारी प्राणियों के किसी सूक्ष्मलोक का संकेत भी पाया जाता हो। सोमलोक चन्द्रलोक को कहते हैं और ये चन्द्रलोक क्या जितने भी संसार में लोक लोकान्तर हैं सभी अन्तरिक्ष में हैं।]

श्री नारायण स्वामी जी ने "वेदोदय" जुलाई की संख्या पृष्ठ १३१ में "वेद" किस प्रकार इस मृत्यु परलोकवाली कल्पना के पोषक हैं। यह शीर्षक देकर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं--अनस्था पूताः--इत्यादि (अथर्व ४-३४-२) "अनस्था" का अर्थ विकार रहित समझता हूं। कृपया इस समझने का आधार लिखिये। अस्थि की अर्थकोष में हड्डी ही प्रसिद्ध है।

[स्वयं सातवलेकर जी ने भी जहां तक मुझे स्मरण है कि एक दूसरी जगह इसी प्रकरण में अनस्था के लिये विदेह या विदेही शब्द प्रयुक्त किया है। इस शब्द के प्रयोग से उन्होंने भी इस शब्द के अर्थ विकार रहित होना स्वीकार कर लिया है क्योंकि जनक को विदेह ही कहते थे। क्या उसके हड्डी वाला (स्थूल) शरीर नहीं था—अस्थि या अस्थ के अर्थ गुठली (The Kernal or stone of a fruit) के भी हैं इसका भी तात्पर्य, जहां तक फलों का भोज्य होने का सम्बन्ध है, निकम्मी और त्याज्य वस्तु हो के हैं। इसलिये "अनस्थाः" का अर्थ "विकार रहित" बिलकुल ठीक है। शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य ने जिसको नीचे उद्धृत किया जाता है, स्पष्ट कर दिया है कि स्वर्गलोक में यजमान स्थूल शरीर के साथ ही पैदा होता है:—

स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिँल्लोके संभवति ॥ शतपथ ४।६।१।१

अर्थात् वह यजमान समस्त शरीरके साथ उस अगले (स्वर्ग) लोक में उत्पन्न होता है।)

"वेदोदय" जुलाई पृष्ठ १३१ में मेरे प्रश्न के उत्तर में लिखा है। वैदिक पद्धति के अनुसार केवल सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के बिना जागृत अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकता। (ठीक है, दूसरी गति वालों की अवस्था जागृतावस्था न होकर स्वप्नावस्था ही होती है) मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि वे देव उच्च कोटि के मनुष्य हैं तो वे कर्मयोनि ही में मानने पड़ेंगे। फिर उनके पुण्य क्षीण किस प्रकार हो सकते हैं?

[यह बात कल्पना मात्र है कि दूसरी गति वाले केवल स्वप्नावस्था ही में रहते हैं। स्वप्नावस्था में अपने कर्मों का फल सुख किस प्रकार बिना इन्द्रियों के कोई भोग सकता है।]

वेदोदय जुलाई पृष्ठ १३२ में लिखते हैं :—

कर्मयोनि में होते हुए भी प्राणि के भोग समाप्त होने से पुण्य और पाप दोनों क्षीण हो जाया करते हैं। इसमें सन्देह किस लिये। यदि कहो वे नये कर्म करके नये पुण्य और पाप संयम करते रहेंगे तो वे उनको फिर भोगेंगे आदि।

इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि स्वर्ग में अर्थात् चन्द्रलोक में वे लोग जावेंगे जिन्होंने केवल पुण्य ही पुण्य किये हैं। ऐसे अवस्था में वे पाप करें यह तो सम्भव ही नहीं। क्योंकि पापों से तो वे पृथक् हो चुके हैं। जैसा कि दिसम्बर के वेदोदय पृष्ठ १०४ पर गीता के श्लोकों से दिखाया है। अब वे पुण्य ही पुण्य करेंगे तो उनके पिछले पुण्य समाप्त होने नही पावेंगे कि नये और सञ्चित हो जावेंगे। ऐसी अवस्था में उनकी उच्च गति की सम्भावना हो सकती है, परन्तु निम्न गति की नहीं। आर्य ग्रन्थों में उनकी निम्न गति लिखी है। जिससे स्पष्ट है कि स्वर्ग भोगयोनि है। देखिये दिसम्बर का वेदोदय पृष्ठ १०४ श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमाण तथा इसी लेख में प्रश्नोपनिषद् के ये शब्द—

स सोमलोके विभूति मनुभूय
पुनरावर्तते॥

तथा—एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः।
सूर्यस्यरश्मिभिः यजमानं वहन्ति॥
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयस्य
एषवः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥

मुण्डकोपनिषद दूसरा खण्ड ६ ठा

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा-अष्टादशोक्त-मवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मूढा। जरामृत्युं ते पुनरेवारयन्ति॥७॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे ये
लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०॥

वे आहुतियां आओ आओ कहती हुई, सूर्य की किरणों द्वारा उस यजमान को उठा कर ले जाती हैं। प्यारी वाणी बोलती हुई और पूजती हुई उसको कहती हैं, यह तुम्हारा पवित्र शुभ कर्मों से उपार्जित ब्रह्मलोक है॥६॥ ये यज्ञरूप नौकायें, जिनमें अठारह दूसरे कर्म कहे हैं अदृढ़ हैं। यह यज्ञ ही कल्याण का कारण है ऐसी जो मूढ़ प्रशंसा करते हैं वे बुढ़ापे व मृत्यु को फिर भी प्राप्त करते हैं॥७॥

इष्ट और पूर्त्त को ही श्रेष्ठ मानते हुए मूर्ख लोग समझते हैं कि अन्य कुछ श्रेय नहीं है। वे स्वर्ग में पुण्य फल भोग कर इस हीन तर दुःखमय लोक को प्राप्त करते हैं॥१०॥

[सकाम करने वाले प्राणियों के चित्त में सकाम कर्म से उत्पन्न वासना समूह रहा करता है। ये वासना बन्धन

का हेतु है, इन वासनाओं के हेतु जब तक कोई इन्हें लगातार निष्काम करके नष्ट न करें, उस व्यक्ति को अवश्य नीचे के लोक में आना पड़ेगा, यदि वह स्वर्गलोक में अच्छे (निष्काम) कर्म करके ऊपर की गति (मोक्ष)-को प्राप्त करलें तो कोई सिद्धान्त हानि नहीं है। जब शतपथ के प्रमाण से यह बतला दिया गया कि यजमान स्थूल शरीर के साथ स्वर्ग में जाता है तो फिर स्वर्ग को भोगयोनि नहीं कह सकते।]

इन मुण्डक उपनिषद् के तीन श्लोकों पर विचार करने से कुछ बड़े सुन्दर परिणाम निकलते हैं—

[१—ब्रह्मलोक उच्चतम स्वर्ग का नाम है। मोक्ष का नहीं। क्योंकि मोक्ष शुभ कर्मों से प्राप्त नहीं होता। इसमें प्रमाण।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जना परमं साम्यामुपैति ॥

मुण्डक उप० ३ मुण्डक प्रथम खण्ड ३

इसमें 'पुण्यपापे विधूय' ये शब्द आये हैं। जिससे स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये पुण्य के बन्धनों से भी छूटना आवश्यक है ?

२—जो मनुष्य इष्ट व पूर्त्ति आदि सकाम कर्मों में ही लगे रहते हैं वे स्वर्ग में अपने पुण्यों का फलयोग-हीन लोक में (मर्त्य लोक कर्त्तव्य लोक) आजाते हैं।

यहाँ पर मैं फिर ऊपर का प्रश्न दोहराना चाहता हूँ कि 'देव' उच्च कोटि के मनुष्य जिनसे नीच कर्मों की सम्भावना कदापि नहीं है। क्योंकि सब प्रकार के पापों को वे दूर कर चुके हैं। केवल वासनाओं का नाश नहीं हुआ है। वे निम्नगति को क्यों और कैसे प्राप्त करेंगे। तथा ऊपर लिखे ७ वें श्लोक में जरामृत्युं ते पुनरेवा पयन्ति" ये शब्द क्या इस बात को सिद्ध नहीं करते कि वे अब तक ऐसे लोक में थे। जहाँ जरामृत्यु नहीं होती। स्मरण कीजिये कठोपनिषद का प्रमाण "स्वर्गे लोके नभयं किंचनास्ति न तत्रत्वं न जरया बिभेति।" निष्पक्षदृष्टि से विचार करने पर स्वर्ग में स्थूल शरीर होना असम्भव प्रतीत होता है। तथा स्वर्ग को कर्म योनि भी नहीं माना जा सकता।

[मोक्ष शुभ कर्मों से प्राप्त नहीं होता, इसका अभिप्राय यह है कि वे शुभकर्म, जो सकामता पूर्ण हों, वासनोत्पादक होने से मोक्ष का कारण नहीं हो सकते परन्तु निष्काम कर्मों का फल अनुपम मोक्ष है, और ज्ञानकर्म दोनों के सम्प्रदाय ही से मोक्ष प्राप्त हुआ करता है। मुंडक उ० में ३।१।३ में आये पुण्य का अभिप्राय उपर्युक्त सकाम कर्म ही से है।

फिर श्री नारायण स्वामी जी जुलाई मास के "वेदोदय" पृष्ठ १३२ पर इस प्रश्न के उत्तर में लिखते हैं। आक्षेपक ने इस बात पर विचार नहीं किया कि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर को अधिक दुःख भोगना पड़ता है आदि। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि जिनके पवित्र विचार हो गये हैं जिनकी वासनाएं एकान्त शुभ हैं ऐसे स्वर्गस्थ व्यक्तियों को दुःख किस प्रकार होगा। बुरे भयानक स्वप्नों का कारण बुरी व अपवित्र वासना होती हैं। क्या किसी महात्मा को मार काट या डकैती के स्वप्न आते हैं। स्वप्न में अशान्ति व दुःख किन्हें प्राप्त होता है कृपया इस बात का विचार कीजिये। अतएव सूक्ष्म शरीर वाले स्वर्गीय जीवों को पवित्र शुभ वासनाओं के कारण केवल सुख ही होता है। पर यदि उनका स्थूल शरीर माना जावे। तब तो भूख प्यास-बुढ़ापा-मौत आदि अनेक कष्ट उन्हें भोगने पड़ेंगे।

[स्वर्ग-प्राप्त प्राणियों के चित्त जन्मजन्मान्तर की वासनाओं से पूर्ण रहते हैं। ये वासनायें अच्छे सकाम कर्म की भी होने पर बन्धन का हेतु हैं और बन्धन को दुःख से पृथक नहीं कह सकते।]

अब मैंने जो शङ्कायें दिसम्बर ३० व जनवरी ३१ के "वेदोदय" में की थीं और जिनका उत्तर परम पूज्य श्री नारायण स्वामी जी ने नहीं दिया है उनका उल्लेख करता हूं—दिसम्बर का वेदोदय पृष्ठ १०३

१—महर्षि दयानन्द स्वर्ग को सुख विशेष योग और उसकी सामग्री की प्राप्ति बताते हैं। तथा आप जिसमें केवल हर्ष ही हर्ष हो दुःख का लेश न हो बता रहे हैं। कृपया लिखिये इन दोनों व्याख्याओं में कुछ भेद है या नहीं? मुझे तो सुख विशेष व केवल सुख इसमें अन्तर मालूम पड़ता है। क्योंकि सुख विशेष में कुछ दुःख का भी समावेश हो जाता है।

(दिसम्बर वेदोदय पृष्ठ १०४ में)

[जब लेखक भी स्वयं अपने लेख में यह स्वीकार कर चुका है कि "स्वर्गीय जीवों को पवित्र शुभ वासनाओं के कारण केवल सुख ही हो जाता है" तो इस प्रश्न का उत्तर उसे स्वयं देना चाहिये था। ऋषि दयानन्द ने जो सुख विशेष शब्द प्रयुक्त किये हैं और जिसमें दुःख की झलक आती है वह झलक वासनाओं के कारण ही से है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।]

२—मृत्यु और परलोक पृष्ठ ६३ में लिखा है कि 'कर्मों के क्षीण व भोगों के समाप्त होने पर उन्हें फिर कर्तव्य

योनि में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि क्या वे अब कर्त्तव्य योनि में नहीं थे? यदि थे ही तो फिर कर्त्तव्य योनि में आना पड़ता है। इसका क्या अर्थ?

[फिर कर्तव्य योनि में आने का अभिप्राय माता के गर्भ कष्ट भोगने के बाद साधारण मनुष्य योनि में आने से है जहां उनको कर्म करके फिर ऊँचे या नीचे ले जाने का अवसर प्राप्त होता है। अब तक वे श्रेष्ठ मनुष्य योनि में थे जिसमें सुखों का उपभोग कर रहे थे।]

मृत्यु और परलोक पृष्ठ ७७ में लिखा गया है कि चान्द्रमसि दशा में पहुँचने वाले जीवों के साथ भी यह उत्पन्न वासना उनके सूक्ष्म शरीरों में निहित रहती है। कर्म फल क्षीण होने पर जीवों को इसी वासना के कारण माता के गर्भ में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि जब तक कर्म फल क्षीण नहीं हुए। तब वे बिना माता के गर्भ में आये ही स्थूल शरीर वाले कैसे बन जाते हैं। (पृष्ठ १०६, १०७)

[यह किसने कहा कि माता के गर्भ में आये बिना स्वर्ग प्राप्त जीव स्थूल शरीर प्राप्त कर लेते हैं। स्वर्ग में जाने का अर्थ ही यह है कि माता गर्भ से समस्त शरीर के साथ स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। (देखो उत्तर ३)]

४—स्थूल शरीर वाले स्वर्ग-वासियों को काम धेनु आदि किस प्रकार की मिलती हैं। लिखिये। "विश्वरूपा धेनुः कामदुघा ये अस्तु"! "पक्षीह भूत्वा दिवः समेति" का क्या अर्थ करते हैं?

[स्थूल शरीर वाले स्वर्ग वासियों को काम धेनु उसी प्रकार की मिलती है जैसी वशिष्ठ जी के पास थी और जिसके लिये विश्वामित्र जी ने उनसे युद्ध किया था।

"पक्षी ह भूत्वा दिवः समेति" का अर्थ यह है कि पक्षी के (समान हो कर द्यु लोक को प्राप्त करना है। जितने भी प्राणी मर कर दूसरे मंगलादि लोकों में उत्पन्न होते हैं वे सभी इसी प्रकार जाया करते हैं।]

५—मृत्यु और परलोक पृष्ठ ६२ में लिखा है। कर्मों के क्षीण और भोगों के समाप्त होने पर उन्हें फिर कर्त्तव्य योनि में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि वे अब तक किस योनि में थे?

[वे अब तक श्रेष्ठ मनुष्य (देव) योनि में थे (देखो उत्तर ९)]

६—जनवरी सन् १९३२ के वेदोदय में पृष्ठ १४६ में २ संख्यक प्रश्न-मोक्ष में स्त्री सुख आदि का कोई प्रयोजन ही नहीं माना जा सकता। ब्रह्मानन्द

के सन्मुख ये सुख अति तुच्छ हैं। इत्यादि का क्या उत्तर दिया है ? कृपया लिखिये।

[ब्रह्मानन्द का आनन्द निर्द्वन्द है परन्तु सुख दुःख का द्वन्द्व होने से उसके मुकाबिले तुच्छ है यह बिलकुल ठीक है।]

७—उसो अंक के उसी पृष्ठ पर दिये कठोउपनिषद के श्लोकों "स्वर्गेलोके आदि" पर क्या समाधान किया है ? कृपया लिखिये।

[कठोपनिषद के "स्वर्गेलोके" के समाधान के लिये देखो उत्तर (१)।]

८—उसी अंक के पृष्ठ १५७ में ३ संख्यक प्रश्न का भूख प्यास बुढ़ापा मृत्यु, स्थूल शरीर के साथ अवश्य रहेंगे जोकि स्वर्ग में नहीं है। का क्या उत्तर दिया गया है ? कृपया लिखिये।

[कठोपनिषद में आये "स्वर्गे लोके" स्वर्ग निवासियों के भूख यास न होने के समाधान के लिये भी देखो पहला उत्तर।]
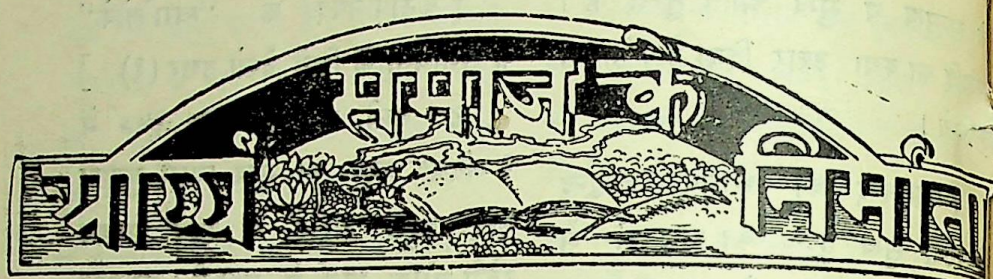
ठाकुर कृष्णलाल जी

आर्य्य समाज एक ऐसी संस्था है जहां पर धन का वैभव नहीं माना जाता। यह आवश्यक नहीं कि धनी का विशेष आदर किया जाय। यहां तो आचार तथा प्रेम की महिमा है। यदि आदमी का आचार उच्च है और समाज की सेवा से प्रेम है तो सब उसको मस्तक पर चढ़ावेंगे चाहें उसके पास धन न हो। मुझे श्री महात्मा नारायण स्वामी जी (प्रधान, सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा) ने स्वयं बतलाया कि ठा० कृष्णलाल जी की गणना ऐसे ही लोगों में थी। आर्य्य समाज मथुरा जिसके संस्थापक ठा० कृष्णलाल थे उनके आचार का सिक्का सब पर जमा था। आर्य्य समाज मथुरा में अनेकों रईस तथा जमीदार थे पर जब प्रधान बनाने का प्रश्न उठाता तो ठाकुर कृष्णलाल ही सब की जबान पर होते। वे सर्व सम्मति से प्रधान चुने जाते।

दूसरी बात जो महात्मा जी ने बतलाई वह यह थी। ठाकुर कृष्णलाल जी कुछ मित्रों के साथ प्रतिदिन समाज में संध्या हवन करने आया करते थे। कभी नागा न होता। यदि उस मंडली में से कोई किसी दिन अनुपस्थित होता, तो दूसरे दिन सुबह ठाकुर साहब कुशल पूछने के लिये उसके घर पर जाते। वह किसी तरह की शिकायत न करते थे। केवल कुशल पूछते थे। इस बात का कितना प्रभाव पड़ता था। लोगों को डर रहता कि भाई समाज में आवश्य चलो नहीं तो ठाकुर साहब को कष्ट करना पड़ेगा। कितना महत्व पूर्ण जीवन है। धन्य है ऐसे लोग जो मनुष्य के रूप में देव तुल्य है।

ठाकुर कृष्णलाल जी नागर ब्राह्मण थे। इनका जन्म काशी में ठाकुर गिरिधर लाल जी के घर में संवत् १८८६ में हुआ और संवत् १९६३ में मथुरा में स्वर्गवास हुआ। आप संस्कृत फारसी और अर्बी के अच्छे ज्ञाता थे। आप बहुत पुराने आर्य

थे। काशी में स्वामी दयानन्द से जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था उसे ठाकुर कृष्णलाल जी ने देखा था। जब स्वामी दयानन्द स्वामी विरजानन्द से मथुरा में अष्टाध्यायी व महाभाष्य आदि पढ़ते थे उस समय यह मथुरा में मौजूद थे। आप वेदभाष्य के आरम्भ से ही ग्राहक थे। आपने अपने द्रव्योपार्जन से आर्य समाज मन्दिर मथुरा के लिये भूमि २३३) रु० में खरीद करके आर्यसमाज के नाम उसकी रजिष्ट्री करा दी और अपना निजी १६२५) रु० व्यय करके उस पर भवन वनवा दिया। और फिर १५ वर्ष के बाद उस पर दो कोठा ६००) रु० लगाकर अपने तथा अपने पुत्र काशीलाल उपनाम मोहनलाल नागर के नाम से बना दिये।

ठाकुर कृष्णलाल जी "आर्यसमाज मथुरा" के संस्थापक तथा प्रधान थे। वह दीन-दुखियों, अनाथों और सन्यासियों व उपदेशकों को बहुत दान दिया करते थे। वह बाजार में चलते-चलते लोगों से वैदिक धर्म की चर्चा करते थे। और कोई मनुष्य यदि ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करता और आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानता और उसे वह दान के योग्य समझते तो तुरन्त कुछ रुपये दे देते थे। उन्होंने आर्य समाज का भवन वनवा कर आर्यप्रतिनिधि सभा और परोपकारिणी सभा के नाम १५) रु० स्टाम्प पर ता० ५ जुलाई १९९० को रजिष्ट्री करा दी। वह आर्यसमाज मन्दिर में नित्य आते थे और लोगों को उपदेश देते थे।

उनके केवल एक ही पुत्र काशीलाल उपनाम मोहनलाल नागर ब्राह्मण हैं) उनके पुत्र ने पिता की मृत्यु के बाद आर्यसमाज के भवन में एक गेलरी अपने पास से बनवा दी और २०) रु० का तांबे का हवनकुण्ड खरीद करके आर्य समाज मथुरा को दान दिया। और अपने पिता की मृत्यु के बाद आर्यसमाज मथुरा व गुरुकुल वृंदावन आदि संस्थाओं को कुल १५००) रु० दान दिया। मोहनलाल ने २४२) रु० भवन-फंड में दान दिया था इनकी स्त्री श्रीमती सरस्वती कुंवरि ने ११०) रु० कन्या-पाठशाला को दान दिया। काशीलाल उपनाम मोहनलाल ने ऋग्वेद व यजुर्वेद स्वामी दयानन्द कृत भाष्य सहित, उपनिषदें और षड्दर्शन और पूर्वी फारसी हिन्दी की कुल पुस्तकें आर्य समाज मथुरा को दान में दे दीं। भाड़पुरा पाठशाला के भवनके निर्माणार्थ ७५) रु० दान दिया। स्त्री के मर जाने के बाद चूंकि कोई सन्तान नहीं थी इसलिये मोहनलाल ने एक दानपत्र २ अक्टूबर सन् १९२२ को लिखकर

रजिष्ट्री करा दी कि मेरे मरने के बाद मेरी सब सम्पति आर्य कन्या पाठशाला मथुरा को दे दी जाय, चल और अचल सम्पत्ति से केवल एक भवन बृन्दावन में अनुमानतः ५००) की लागत का मेरे मरणोपरान्त गुरुकुल बृन्दाबन के अधिकार में रहे। मोहनलाल अंगरेजी में मैट्रिक पास हैं परन्तु अर्बी व फारसी के विद्वान् हैं। संस्कृत कम जानने से वेदों उपनिषदों, दर्शनों आदि के हिन्दी अनुवाद से ही अपना अध्ययन जारी रखते हैं। इनकी उम्र इस समय ६७ वर्ष की है। यह मथुरा की कचहरी में अरायज नवीस हैं। इन्होंने भी आगरा में स्वामी दयानन्द के दर्शन किये और अपने पिता जी के साथ स्वामी जी का व्याख्यान सुना था। वेदभाष्य की ८) रु० की रसीद स्वामी दयानन्दके हाथ की लिखी इनके पिता जी के नाम मौजूद है।

इस थोड़े से वृत्तान्त से ठाकुर कृष्णलाल जी के अपूर्व त्याग का परिचय मिल सकता है। ठाकुर कृष्णलाल जी उन सौभाग्यशाली पुरुषों में से हैं जिनके जीवन का एक एक क्षण, तथा उनके उपार्जित धन की प्रत्येक पाई आर्य्यसमाज की सेवा में लगी है। ऐसे ही सदाचारी पुरुषों ने आर्यसमाज की आधार शिला रक्खी है।

रामगोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

अब पाठकों की समझ में आगया होगा कि श्रीयुत केशवचन्द्र सेन के नव-विधान का क्या तात्पर्य था। वह एक ऐसा चर्च बनाना चाहते थे जिसमें सभी धर्मशास्त्रों का निचोड़ हो और सभी मतानुयायी मिल सकें। उनकी यह भावना थी कि भारतवर्ष का भावीधर्म इसी प्रकार का होगा। जिस ब्रह्मसमाज में वह श्री देवेन्द्रनाथ टागौर के योग से सम्मिलित हुये थे वह उनको भारतीयों की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ा। वह कहते थे कि भारतवर्षीय जनता केवल औपनिषदिक या दार्शनिकधर्म (metaphysical religion) के तृप्त नहीं हो सकती। मूर्ति पूजा और बहु-ईश्वरवाद के वह विरुद्ध थे। वह श्रद्धा और भक्ति के प्रचारक थे। परन्तु उनको यह स्वीकार न था कि इस भक्ति का आधार केवल भारतीय हो। उनकी ईसा मसीह पर बहुत श्रद्धा थी। उनके नव-विधान में यह सब सामग्री एकत्रित करने का उपाय किया गया था। १८९२ ई० में उन्होंने एक व्याख्यान दिया था जिसका विषय था। ("That marvellous Mystery. The Trinity") अर्थात् त्रैतवाद का रहस्य। इसमें उन्होंने ऋग्वेद के प्रसिद्ध "नासदासीत्" सूक्त से आरम्भ किया और अन्त में ईसा मसीह के अवतार पर समाप्त किया इस प्रकार हिन्दुओं के "ब्रह्म" और ईसाइयों से "शब्द" (Logos) का समन्वय कर दिया! जब वह बङ्गाल में प्रार्थना करते थे तो हिन्दुओं के देवताओं का एक एक करके नाम लेते थे। और कहते थे कि इनसे ईश्वर की एक एक शक्ति का प्रकाश होता है। (Sunday Mirror) (सनडे मिरर) नामी पत्र में उन्होंने इस विषय में इस प्रकार लिखा है :—

"Hindu idolatory is not altogether to be rejected or overlooked. As we explained some time ago, it represents millions of broken fragments of God. Collect them together, and you get the indivisible divinity. When Hindus lost sight of their great God, they contented themselves with retainning particular aspects of Him and representing them in human shapes or images.........The Theist rejects the image, but he cannot dispense with the spirit of which the image is the form. The revival of the spirit,

the destruction of the form, is the work of the new Dispensation.'

"हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है। जैसा हमने पहले कहा था यह ईश्वर के लखूखा भग्नशेषों का प्रतिरूप है। इन सबको जोड़ लो और अखण्डब्रह्म को पा जाओगे। जब हिन्दू अपने परम प्रभु को भूल गये तो उन्होंने उसके भिन्न भिन्न स्वरूपों (aspects) को रख लिया और उसको मनुष्यों की आकृति या मूर्तियों द्वारा पूजने लगे .. ..ब्रह्मसमाजी मूर्ति को त्याग देते हैं परन्तु उस भाव को नहीं त्यागता जिसकी वह मूर्ति प्रतिरूप है। नवविधान का उद्देश्य है कि भाव का पुनरुद्धार करे और रूप का विनाश करे"।

इस प्रकार के व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। परन्तु बहुत से बुद्धिमान समझने लगे थे कि केशव बाबू का ब्रह्मसमाज फिर पुराने हिन्दू धर्म में मिल जायगा।

केशवचन्द्र सेन ने अपने अनुयायियों के लिये "नव संहिता" अर्थात् नये शास्त्र की रचना आरम्भ की। इसके कुछ भाग न्यूडिस्पेन्सेशन (New Dispensation) नामी पत्र में निकलते रहे। इसके शीर्षक या विषयों की सूची इस प्रकार है:— गृह और गृहप्रबन्ध। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्य, चारपाई से उठना, दैनिक भोजन कार्य्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, दान, पारिवारिक सम्बन्ध, सेवक, गृह-कृत्य, प्रतिज्ञायें, ब्रह्मचर्य, वैधव्य इत्यादि इत्यादि। इस शास्त्र में ब्रह्म समाजियों के दैनिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। उनका उद्देश्य यह था कि ब्रह्म-समाजियों के लिये एक शास्त्र रच दें जिस पर वह चल सकें।

८ जनवरी सन १८८४ ई० मंगलवार को ९ बजे प्रातःकाल श्री केशव चन्द्र सेन का देहान्त होगया। उनका जन्म १९ नवम्बर सन् १८३८ ई० को कलकत्ते में हुआ था। इस प्रकार उनकी आयु देहान्त के समय ४५ वर्ष से कुछ अधिक थी।

श्रीयुत् केशवचन्द्र सेन बहुत बड़े आदमी थे। उनकी शक्तियाँ विशाल थीं। उनमें मनुष्यों को खींचने की शक्ति थी। उन्होंने अपनी वक्तृताओं से भारतीय और अंगरेज़ों दोनों को चकित कर दिया था। उन्होंने बाल्यकाल से अन्तकाल तक अपना समय हिन्दुओं के सुधार में लगाया। वह नित्य ही आत्मत्याग और लग्न के साथ काम करते रहे। परन्तु इस चमत्कार-युक्त जीवन में हर एक बात की बड़ी कमी पाते हैं। वह यह कि उन्होंने श्रीयुत राजा राममोहनराय के आरम्भ किये हुये हिन्दू-धर्म-सुधार को किंचित भी आगे नहीं बढ़ाया। उनसे और महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर से इसी

लिये भेद हुआ था कि केशव बाबू आगे बढ़ना चाहते थे और देवेन्द्र बाबू उनको रोकते थे। परन्तु जब केशव-बाबू स्वतंत्रता-पूर्वक आगे बढ़े तो लोगों ने उनको बड़े वेग से दौड़ते तो देखा परन्तु यह न जान सके कि वह किधर जा रहे हैं अथवा अपने साथियों को किधर ले जा रहे हैं। उन्होंने सब धर्मों के शास्त्रों को मिलाना चाहा परन्तु न मिला सके। उन्होंने वैदिक ऋषियों के ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करने से इनकार किया परन्तु यह अनुभव करने लगे कि मुझे भी ईश्वर आदेश देता है। सारांश यह है कि केशव बाबू न केवल हमारे ही लिये किन्तु अपने भक्त साथियों के लिये भी एक रहस्यमय व्यक्ति थे। यदि वह भारतीय-ब्रह्मसमाज न खोलते और प्रार्थना समाजों के प्रवर्तक न होते तो हम उनको सन्तों की कोटि में रख कर उनका गुण-गान कर सकते थे। परन्तु उन्होंने आरम्भ से ही श्री राममोहनराय के काम को पूरा करने का बीड़ा उठाया। इसको कहाँ तक पूरा कर सके इसका निश्चय हम पाठकों के न्याय पर छोड़ते हैं।

[२]

जिस समय श्री केशव चन्द्र सेन ब्राह्मणसमाज में सम्मिलित होकर हिन्दू-धर्म के सुधार पर विचार कर रहे थे, उन्हीं दिनों में दयानन्द नाम का एक पैंतीस छत्तीस वर्षीय सन्यासी "सत्य की खोज" में इधर उधर भटक रहा था। राममोहन राय के समान उसको भी अल्पायु में मूर्तिपूजा से घृणा होगई थी। राममोहन ऐसे स्थान के रहने वाले थे जहां अंगरेज़ी शिक्षा ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ भाव वायु-मण्डल में प्रवेश कर दिये थे, परन्तु दयानन्द का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ मूर्तिपूजा के विरोधियों का नाममात्र भी न था। उसने तो केवल शिव की मूर्ति पर चूहे को चढ़ते देख कर ही निश्चय कर लिया था कि जिस शिव ने जगत् की रचना की है वह इस मूर्ति के रूप में नहीं हो सकता। राममोहन राय की भांति दया-नन्द ने अल्पायु में कोई पुस्तक तो मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं लिखी थी। परन्तु शङ्कामात्र ही पिता को रुष्ट करने के लिये पर्य्याप्त थी। राममोहनराय के समान दयानन्द को उनके पिता ने घर से निकाला नहीं परन्तु विवाह से बचने के लिये और सत्य की खोज करने के लिये उन्होंने स्वयं ही घर को त्याग दिया।

इस प्रकार राममोहन राय और दयानन्द के बीच में कुछ सादृश्य और कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु दयानन्द में जल्दबाजी न थी। उसने मूर्तिपूजा पर शङ्का होते ही उसका खण्डन आरम्भ नहीं किया। उसको बाईस वर्ष सत्य की

खोज में ही लग गया। दरिद्र, निर्धन, वस्त्रहीन लँगोटबन्द दयानन्द गुरुओं की खोज में गंगा के तट पर और हिमालय की कन्दरा में भटकता रहा परन्तु सत्य का पता न लगा। अन्त में वह मथुरा आया और विरजानन्द नामी एक प्रज्ञा-चक्षु सन्यासी से संस्कृत व्याकरण और वैदिक साहित्य पढ़ता रहा।

यह वह समय था जब २४ वर्षीय नववयस्क केशव बाबू ब्रह्मसमाज के आचार्य बन चुके थे और अपनी वक्तृता शक्ति से भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ते में अपनी धाक बिठाल रहे थे।

स्वामी विरजानन्द आंख के अंधे थे। परन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द की आंखें खोल दीं। स्वामी दयानन्द को ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह लगभग ३८ वर्ष की अंध कोठरी की कैद से यकायक सूर्य के प्रकाश में लाये गये हों। उनके हृदय की गांठ खुल गई। उनके सब संशय दूर हो गये। जिस समय स्वामी दयानन्द अपने गुरु से बिदा होने लगे तो गुरु विरजानन्द ने उनसे आग्रह किया कि दयानन्द! वैदिक धर्म का प्रचार लुप्त हो गया तुम इसका पुनरुद्धार करो।

स्वामी दयानन्द ने व्रत किया कि ऐसा ही करूँगा, और धर्म-सुधार में लग गये। स्वामी दयानन्द ने अङ्गरेज़ी नहीं पढ़ी थी और अंगरेज़ी पढ़े लिखों के साथ भी नहीं रहे थे। उन्होंने केवल वैदिक साहित्य का स्वाध्याय किया था और अधिक समय योग-अभ्यास में लगाया था। कुछ दिनों ऐसी घोर तपस्या की थी कि शरीर पर दूसरा वस्त्र भी नहीं रखते थे। उन्होंने अपने स्वाध्याय, गुरु के उपदेश तथा अपने निज विचारों से यह निश्चय किया :—

(१) वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः स्वतः प्रमाण हैं।

(२) उपनिषद् आदि वेद नहीं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण हैं।

(३) पुराण तंत्र, आदि वेद विरुद्ध और त्याज्य ग्रन्थ हैं।

(४) मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध परन्तु पुराणों से विदित है। इसलिये त्याज्य है।

(५) आजकल हिन्दूधर्म में बहुत गड़बड़ है। और मृतक श्राद्ध आदि बहुत सी वेद विरुद्ध बातें प्रचलित होगई हैं। इनको हटाना चाहिये।

(६) वर्ण चार हैं अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु इनका आधार गुण, कर्म और स्वभाव है, जन्म नहीं। इसका अर्थ यह है कि वर्त्तमान जाति बिरादरी जो हिन्दुओं में पाई जाती है त्याज्य है। कोई ब्राह्मण इसलिये ब्राह्मण नहीं है कि वह ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुआ है। वर्ण मनुष्य को

वैदिक कमाई नहीं। किन्तु अपनी कमाई है।

(७) बालविवाह सर्वथा वेद विरुद्ध है इसलिये त्याज्य है। स्त्री का १६ वर्ष से और पुरुष का २५ वर्ष से कम आयु में विवाह सर्वथा अवैदिक, अतः निषिद्ध है।

(८) बाल-विधवा-विवाह होना चाहिये क्योंकि वस्तुतः उसका विवाह बालकपन में होने के कारण अनुचित था।

बहुत से अंश में राजा राममोहन राय ने वही सोचा था जो स्वामी दयानन्द ने। श्रीयुत राममोहन जी भी मूर्तिपूजा को वेद विहित नहीं मानते थे और स्वामी दयानन्द भी। वेदों पर दोनों की श्रद्धा थी। परन्तु स्वामी दयानन्द पुराण और तन्त्र आदि हिन्दूधर्म के वर्तमान ग्रन्थों को वेद-विरुद्ध कह कर अप्रमाणिक कह देते थे। राय जी ने कोई ऐसा भेद नहीं किया था। स्वामी दयानन्द की बात उनके उद्देश्य के अधिक अनुकूल थी। जब लोग पुराण या तंत्र का राममोहन राय जी के सामने हवाला देते थे तो उनको व्याख्या करने में खींच तान करनी पड़ती थी। उनको कई स्थानों पर लिखना पड़ा कि यद्यपि मूर्ति-पूजा पुराण और तन्त्रों में है परन्तु अबोध और अज्ञानियों के लिये है। स्वामी दयानन्द तो पुराण और तन्त्रों को त्याग ही चुके थे। वह तो अज्ञानियों के लिये भी मूर्तिपूजा हानिकारक समझते थे। स्वामी दयानन्द कहते थे कि मूर्ति पूजा अज्ञानियोंकी चलाई हुई तो है परन्तु वह उनके लिये हितकर नहीं। वह उनके अज्ञान को बढ़ाती और मनुष्य जाति को ईश्वर पूजा से विमुख करती है। जब लोग स्वामी दयानन्द से कहते कि मूर्तिपूजा ईश्वर पूजा के लिये सीढ़ी है तो वह उत्तर देते, "नहीं, भाई, यह तो एक बड़ी खांई है"। वह पुराणों को विष-युक्त अन्नके तुल्य कहा करते थे और लोगों को उपदेश देते थे कि ऋषि-कृत ग्रन्थों को पढ़ो। पुराण तो गप्प-ग्रन्थ हैं। उन्होंने समझा था कि जब तक लोग पुराणों को पढ़ते रहेंगे और राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक मूर्तिपूजा मिट नहीं सकती। किसी वृक्ष को काटने के लिये उसकी जड़ पर कुल्हाड़ा मारना चाहिये। यह बात केशवचन्द्र सेन के जीवन से प्रमाणित होती है क्योंकि केवल अवतारवाद पर विश्वास रखने के कारण केशव बाबू अन्त में मूर्तिपूजा के बहुत निकट आ गये थे। उनको कहना पड़ा था कि—

"Hindu idolotory is not altogether to be rejected or overlooked."

अर्थात् "हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है"।
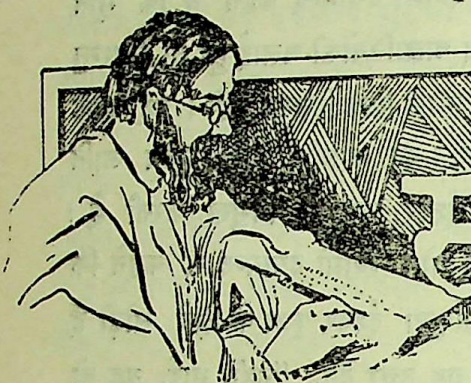
नया वर्ष सुखदायी हो

विक्रम संवत् का एक पट और उठ गया। संवत् १९८७ हमसे विदा मांग रहा है। उसे विदा दे दो और नये वर्ष का हाथ पसार कर स्वागत करो। "आओ वर्ष! प्यारे वर्ष हम तुम्हारा स्वागत करते हैं। तुमको बुलाते हैं इसलिये कि हमारे लिये नई नई चीजें लाओ। वर्ष भर हम सुख से बितावें। भारतवर्ष में एक नया युग आवे। आर्य्य समाज का वृक्ष अच्छी तरह पुष्पित तथा पल्लवित हो।"

बीते हुए वर्ष! तुम खिन्न न हो, प्रसन्न वदन रहो। विदा होते समय मुख पर दुःख की झलक मत लाओ संसार का यही नियम है। जो आता है उसे जाना ही पड़ता है। पर जो हँसते हुये जाते हैं उनमें ईश्वरीय प्रकाश होता है। वह ईश्वरीय आभा लेकर जाते हैं। उनके मुख की हँसी सबको याद रहती है। हे विगत वर्ष! तुमको लोग याद रक्खेंगे और इतिहास भी तेरा गीत गायेगा।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण के भाष्य को पाठक बड़ी रुचि से पढ़ा करते हैं। हमारे अनेक प्रेमियों ने यह प्रार्थना की कि शतपथ ब्राह्मण की पृष्ठ संख्या अलग दी जावे। इसी विचार से नये वर्ष से हमने यह निश्चय किया है कि अन्तिम चार पेज में सदा भाष्य दिया जायगा और उसकी पृष्ठ संख्या क्रम भी अलग कर दिया है। जितने पृष्ठ इस समय तक भाष्य के निकल चुके हैं, उनके आगे की संख्या दी जा रही है।

शतपथ ब्राह्मण (सभाष्य)

काण्ड १—अध्याय् २—ब्राह्मण ५

[१]

अनुवाद

१०—तदु तथा न कुर्य्यात। ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दं स्तस्माद्वेदिर्नाम।

१०—परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। औषधियों के मूल में (विष्णु) छिपा था। इसलिये औषधियों की जड़ खोदनी चाहिये और चूंकि वहाँ उन्होंने विष्णु को पाया इसलिये उसको वेदि कहते हैं।

११—तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्। सुक्ष्मा चासिशिवा चासीति दक्षिणत इमामेवैतत्पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मांशिवामकुर्वत स्योना चासि सुषदा चासीति पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदामकुर्वतोर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरत इमामेवैतत्पृथिवीं संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत।

११—उसको पाकर उन्होंने दूसरे। घेरे से घेर दिया। दक्षिण की ओर यह मंत्रांश पढ़ कर :—

सुक्ष्मा चासि शिवा चासि।

(यजु० १।२७)

"तू अच्छी भूमि है तू कल्याण कारक है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे उत्तम और कल्याण कारक बना दिया।

पश्चिम की ओर यह मंत्रांश पढ़ कर :—

"स्योना चासि सुषदा चासि।"

(यजु० १।२७)

"तू सुख देनेवाली और आनन्द से बसाने वाली है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे सुख देनेवाली और आनन्द से बसानेवाली बना लिया।

उत्तर की ओर यह मंत्रांश पढ़कर :—

ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चासि।

(यजु० १।२७)

"तू अन्न वाली और जल वाली है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे जल वाला और जीविका वाला बना दिया।

१२—स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट्कृत्वः षड् वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति।

१२—यह पहले तीन घेरे देता है। फिर तीन घेरे। इस प्रकार छः हो जाते हैं। वर्ष की ऋतुयें भी छः ही होती

हैं। वर्ष ही प्रजापति यज्ञ है। जितना बड़ा यज्ञ होता है और जितनी उसकी मात्रा होती है उतना ही वह घेरा बनाता है।

१३—षड्भिर्व्याहृतिभिः। पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद्द्वादश कृत्वो द्वादश वै मासः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति।

१३—छः व्याहृतियों से पहला घेरा बनाता है। छः से दूसरा। इस प्रकार बारह व्याहृतियां हो गईं। वर्ष के महीने भी बारह होते हैं। वर्ष ही यज्ञ प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ होता है और जितनी उसकी मात्रा होती है उतना ही वह घेरा बनाता है।

१४—व्याममात्री पश्चात्स्यादित्याहुः। एतावान्वै पुरुषः पुरुषसम्मिता हित्यरत्निः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयम् मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्।

१४—ऐसा कहा गया है कि "पश्चिम की ओर की मात्रा व्याम के बराबर (दोनों भुजायें फैलाकर एक हाथ की उंगलियों से दूसरे हाथ की उंगलियों तक व्याम कहलाता है) हो। पुरुष इतना ही बड़ा होता है इसलिये पुरुष के बराबर यह होना चाहिये। पूर्व की ओर तीन हाथ होनी चाहिये क्योंकि यज्ञ के तीन भाग होते हैं।"

परन्तु इसकी मात्रा नियत नहीं है। जितनी मन में आवे उतनी करे।

१५—अभितोऽग्निमंसौ साऽउन्नयति। योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणंशेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमंसौ साऽउन्नयति।

१५—अग्नि के आस पास कन्धों को ऊंचा करता है। वेदि स्त्री लिङ्ग है। अग्नि पुलिङ्ग है। स्त्री पुरुष को पकड़कर सोती है। इस प्रकार प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) की जाती है। इसलिये अग्नि के आस पास कन्धों को ऊंचा करता है।

१६—सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये सङ्ग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति।

१६—वह (वेदि) पश्चिम को चौड़ी हो। बीच में तंग। फिर पूर्व की ओर चौड़ी। ऐसी ही स्त्री प्रशंसनीय समझी जाती है। श्रोणि के पास चौड़ी। कन्धों पर कुछ कम और बीच में कुछ तंग। इस प्रकार वह वेदि को देवों के लिये प्रिय बनाता है।

१७—सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। प्राचीहि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितॄणांसा यद्दक्षिणाप्रवणा स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते।

१७—यह पूर्व की ओर ढालू हो। क्योंकि पूर्व ही देवों की दिशा है। उत्तर

की ओर भी ढालू हो क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। दक्षिण की ओर पुरीश (गोबर) को हटा देता है। क्योंकि यह पितरों का दिशा है। अगर यह वेदि दक्षिण की ओर ढालू हो तो यजमान शीघ्र ही उस (पितृ) लोक को चला जाय इसलिये यथाविधि वेदि बनाकर यजमान बहुत दिनों जीता है। इसलिये दक्षिण की ओर गोबर को हटा देता है। इसको पुरीषवती (गोबर से लीपे) करे। पशु ही गोबर है। इस प्रकार इसको पशु युक्त बना देता है। (अर्थात् वेदि को गोबर से लीपना मानों पशुओं के आधिक्य का चिह्न है)।

१८—तां प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै सङ्ग्रामꣳ सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि नऽइतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ।

१८—अब वेदी को लीपता है। देवते जब युद्ध की तैय्यारी में लगे थे तब उन्होंने कहा "इस पृथ्वी का जो न नष्ट होने वाला और यज्ञ करने वाला भाग है उसे चन्द्रलोक को ले चलें। अगर हमको असुर जीत लेंगे तो फिर पूजा और श्रम करके हम उनको पराजित कर देंगे। इसलिये इस पृथ्वी पर जो न नष्ट होने वाला और यज्ञ करने वाला भाग था उसे वह चन्द्रलोक को ले गये। यही चांद में काला काला दीखता है। इसलिये कहते हैं कि "इस पृथ्वी के लिये पूजा का स्थान चन्द्रलोक में है"। इसी पूजा के स्थान में यज्ञ किया जाता है। इसीलिये वह उसे लीपता है।

१९—स प्रतिमार्ष्टि । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति सङ्ग्रामो वै क्रूरꣳ सङ्ग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्सङ्ग्रामाःयदधत तस्मादाह पुरा क्रूरस्यविसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानुमित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयꣳश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्तऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्तेऽपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति य एवमेतद्वेद ।

१९—वह यह मंत्रांश पढ़ कर लीपता है:—

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् । (यजु० १।२८) "(विरप्शिन्) हे महापुरुष, इधर उधर चल कर घोर युद्ध के पहले ही"।

'क्रूर' नाम है युद्ध का क्योंकि युद्ध में क्रूर काम किया जाता है। और मरे हुये आदमी और घोड़े पड़े रहते हैं। चूंकि युद्ध से पहले ही उन्होंने (पृथ्वी के यज्ञ भाग को चन्द्रलोक को) हटा दिया था इसीलिये कहा है "हे महापुरुष, इधर उधर चल कर घोर युद्ध के पहले ही"।

अब कहता है।

उदादाय पृथिवीं जीवदानुम् ।
(यजु० १।२८)

"जीवन देने वाली पृथ्वी को उठा कर"। क्योंकि पृथ्वी में जो कुछ अमर था उसको उठाकर ही चन्द्रलोक को ले गये थे इसीलिये कहा "जीवन देने वाली पृथ्वी को उठा कर।

अब जपता है :—

यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिः ।
(यजु० १।२८)

"जिसको स्वधाओं के साथ चन्द्र लोक ले गये"।

अर्थात् जिसको वे प्रार्थना (स्वाध्याय ब्रह्म) के साथ चन्द्रलोक में ले गये।

अब जपता है :—

तामु धीरा सो अनुदिश्य यजन्ते।
(यजु० १।२८)

"विद्वान् उसी की ओर संकेत करके यज्ञ करते हैं।

इस प्रकार वह उसी की ओर संकेत करके पूजा करते हैं। और जो इसको इस प्रकार जानता है उसका इसी यज्ञ के स्थान में यज्ञ होता है।

२० — अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपतां वज्रो वा आपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्याऽआसादयति स वाऽउपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छत्यथ यन्निहितऽएव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तथो ह वज्रौ न समृच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति।

२० -- अब जपता है:—

प्रोक्षणी रासादय (यजु० १।२८)

"प्रोक्षणी को रक्खो"।

अब तक बज्र, स्फ्या और ब्राह्मण ने इस यज्ञ की रक्षा की। जल भी बज्र है। इसलिये इस बज्र (प्रोक्षणी के जल) को रक्षा के लिये रखता है। प्रोक्षणी को ऊपर पकड़े पकड़े स्फ्या को लेता है। अब अगर प्रोक्षणी को नीचे रख दे जब कि स्फ्या पड़ी हुई हो तो दो बज्र एक दूसरे से लड़ जायंगे। यह दोनों बज्र परस्पर न लड़े इसलिये प्रोक्षणी को लिये ही स्फ्या को पकड़ता है।

———

Printed & Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.

भाग ५] मई, सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २६

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये २॥)
एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१—पाप (कविता)—[श्री सत्यप्रकाश जी] ३७

२—स[illegible]कीय—हमारे उपदेशक, ऋाष [illegible] ग्रन्थों की रक्षा, साहित्याचार्य्य पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ३८

३—समालोचना—पौरस्त्य धनुर्वेद, युगान्तर, हंस ४२

४—वेदों की झांकी—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४३

५—राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन और दयानन्द—[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०] ४५

६—घर को फूंकना—कहानी—[श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी०] ५५

७—एक मन्त्र के अनेक अर्थ—[श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ पंजाब] ५९

८—शङ्का-समाधान— ६८

९—आर्य्य-समाज के निर्माता—स्वर्गीय स्वामी निर्भयानन्द जी [श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी] ७१

१०—शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य] ६४

वेदोदय के नियम

१—"वेदोदय"-प्रत्येक अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से २), वी० पी० से २।=), विदेश से २॥), नमूने का अङ्क ।) के टिकट आने पर भेजा जाता है।

३—"वेदोदय" का वर्ष चैत्र मास से प्रारम्भ होता है, किन्तु साल के अन्दर किसी भी मास से ग्राहक श्रेणी में नाम लिखाया जा सकता है।

४—पत्र आदि लिखते समय अपना पूरा पता और ग्राहक नम्बर स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

५—यदि ३ मास तक के लिए ही पता बदलवाना हो, तो अपने डाकखाने में ही प्रबंध कर लेना चाहिए। कार्यालय में तभी लिखना चाहिए, जब कि पता अधिक समय के लिए बदलवाना हो।

६—हर एक ग्राहक के नाम वेदोदय बड़ी सावधानी से कई बार जांच कर भेजा जाता है, यदि १५ ता० तक ग्राहक महाशय को पत्र न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी सज्जन ने बीच में ही वेदोदय को ग़ायब कर लिया है। ऐसी दशा में पहिले अपने डाकखाने में लिखा-पढ़ी करनी चाहिये और इसपर भी वेदोदय न मिले, तो डाकखाने के जवाब सहित कार्यालय में इसकी सूचना भेजने पर दूसरी प्रति भेज दी जावेगी।

७—लेखों को छापने न छापने या न्यूनाधिक करने का अधिकार सम्पादक को है।

श्रीमती प्रेम कली देवी जी वानप्रस्थी

आप संयुक्त प्रान्त के महिला सुधार मण्डल की मन्त्री हैं। आर्य कन्या पाठशाला प्रयाग की मुख्याध्यापिका का कार्य करके श्री महात्मा नारायण स्वामी जी से वानप्रस्थ ले लिया है। आप अच्छी वक्ता है। और आर्यसमाज का प्रचार बड़ी लग्न के साथ करती हैं।
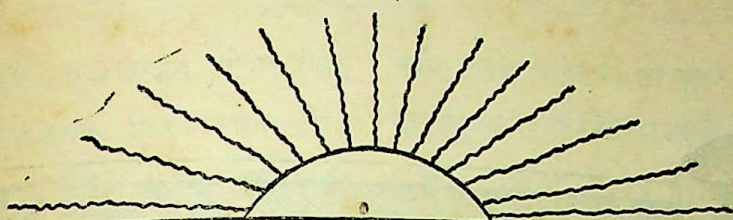
ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ५	वैशाख संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, मई १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३	संख्या २ पूर्ण सं० २६

पाप

छिपे छिपे चोरों से आते हो घुस मनमें हे शैतान !
छूटेगी कब यह चोरी की बान।
बाना पहन पहन पुण्य का आते फिर हो जाते क्यों तुम पाप।
बिना बुलाये आते अपने आप॥
मधुर स्वाद के मोदक में छिप आ जाते हो विष के व्याल।
धीरे धीरे डसते हो हे काल !
कभी कभी सोते सपने में हर लेते जीवन का सार।
छलियों का सा छद्मित यह व्यवहार॥
हृदय लोक में मचवा देते हो तुम देवासुर संग्राम।
विजय तुम्हारी ही होती अविराम॥
पाप श्यामता से रंग जावे हृदय पटल मेरा भी श्याम।
तो फिर चमक उठेगा उसमें श्वेत शुभ्र प्रभु तेरा नाम॥

—सत्यप्रकाश

हमारे उपदेशक

[१]
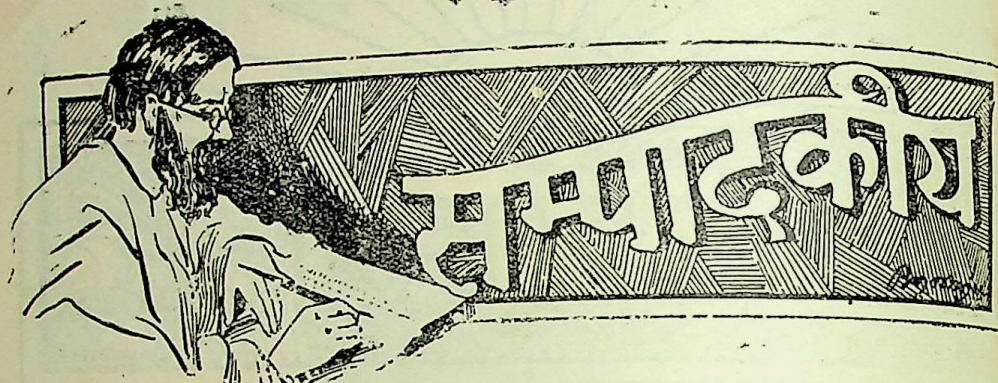
आर्य्यसमाज में जो उपदेशक हैं उनकी ३ कोटियां हो सकती हैं। (१) भजनीक प्रतिष्ठित क्लाश (२) सन्यासी (३) उपदेशक। इन तीनों की संक्षिप्त मीमांसा की जावेगी।

भजनीक को हम प्रतिष्ठित क्लास में रक्खेंगे। यह क्यों? जितनी प्रतिष्ठा इनकी होती है उतनी और किसी की नहीं। हमारे उत्सवों पर भजनीक महाशय अच्छी संख्या में बुलाये जाते हैं। यदि उत्सव में दो सन्यासी या दो उपदेशकों के आने की स्वीकृति मिल जावे तो उससे काम नहीं चलता। लोग यही प्रश्न करते हैं कि किन की भजनमण्डली आ रही है। अक्सर उत्तम भजन मण्डली के न मिलने के कारण हमारे उत्सव स्थगित कर कर दिये जाते हैं। यह क्यों। हम भजनीकों का विशेष आदर करते हैं। इतना आदर करते हैं जितना उपदेशकों या सन्यासियों का नहीं।

भजनीक या बाजा बजाने वालों का किस तरह आरम्भ हुआ? धर्म ऐसी शुष्क चीज़ समझी जाती है कि लोग उसका सुनना आवश्यक नहीं समझते हैं। इस लिये लोगों ने सोचा कि कोई ऐसी आकर्षक चीज निकालना चाहिये जिनसे लोग आकृष्ट होकर आ सकें। संगीत में अधिक आकर्षण होता है। हारमोनियम या सितार की मधुर ध्वनि ऐसी होती है कि मनुष्य क्या पशु भी आकृष्ट होकर चले आते हैं। इस लिये लोगों ने सोचा कि यदि भजनीक रक्खें जावेंगे तो लोग संगीत प्रेम से उस ओर आकृष्ट हो जावेगे। जिस समय यह भीड़ जमा हो जावेगी तो हम अपने धर्म के दो चार

कलमें सुना देंगे। एक भजन होगा, फिर एक व्याख्यान होगा, फिर भजन होगा फिर व्याख्यान होंगे। कुनेन पर मीठी शकर का जो काम है वही इन भजनों का होगा।

इस विचार शृङ्खला में कोई गल्ती नहीं है। पर ज़रा जाकर जानता में बैठ जाइये और देखिये कि इसका क्या प्रभाव होता है। हमारे उत्सव प्राय: भजनों से आरम्भ होते हैं। जनता संगीत प्रेम से आकृष्ट हो होकर जमा हो जाती है। प्रधान जी कुरसी पर आ विराजते हैं। यदि भजनीक अच्छे आये होते हैं तो उनके नाम प्रधान जी बड़े गर्व के साथ सुना देते हैं। शर्मा हुजूरी से उपदेशकों के नाम भी सुना दिये जाते हैं। परन्तु जब किसी उपदेशक के व्याख्यान की सूचना देते हैं तो इतना जरूर कह देते हैं कि अभी आप लोग बैठे रहिये, बहुत अच्छे अच्छे भजन होंगे। इससे पता चलता है कि हम किस प्रकार सोचते हैं।

जब भजनीकों की इतनी महिमा है कि उनके विना उत्सव नहीं हो सकते तो उनका आदर भी अधिक होता है। बिचारे उपदेशक या सन्यासियों को जल पान या भोजन समय पर न मिले परन्तु भजनीकों का बड़ा ध्यान रक्खा जाता है। नगर कीर्तन के दिन तो वे जो चीज माँगे तुरन्त उसका प्रबन्ध कर दिया जाता है। ज़रा सी देर हुई कि वे रूठ जाते हैं और हमारे मन्त्रियों को उनके हाथ जोड़ कर खुशामद करनी पड़ती हैं।

कुछ भजनीकों का परिचय दिया जाता है:—

(१) क को हिन्दी अच्छी तरह नहीं आती, पर संस्कृत में टांग अड़ाते हैं। भजन गाना काम है पर बिना वेद मन्त्र बोले कल नहीं पड़ती। अशुद्ध है तो अशुद्ध ही सही।

(२) ख को ठण्डाई का बड़ा शौक है। सेर भर बादाम तथा सेर भर ठण्डाई से कम नहीं मंगवाते हैं, खाने के बाद जो बचता है वह पण्डित जी के ट्रङ्क में चला जाता है।

(३) ग को यह शिकायत रहती कि आर्यसमाजी आदर सत्कार नहीं करते। खाने के बाद पान देना भूल जाते हैं।

(४) घ का गला अक्सर खराब हो जाता है, आध पाव मलाई से कम में ठीक नहीं होता।

(५) ङ की पान की डिब्बी सदा खाली रहती है। अगर रोज चार बार नहीं भरी गई तो आफ़त आजावेगी।

(६) च को चार सेर दूध रोज मिलना चाहिये। अगर नाराज़ हो गये तो दूध का कुल्हड़ भरी सभा में दिखला देते हैं कि देखो भाई इस ज़माने में दूध इतना ही मिलता है।

(७) छ भरी मजलिस में ही गाना पसन्द करते हैं। अगर उन्हें ऐसा समय दिया गया जब जनता कम हो तो गाते ही नहीं हैं।

(८) ज को सफ़ाई का बहुत ध्यान है। जलसा शुरू हो जाता है पर आप कपड़ा धोते रहते हैं।

(९) झ को कचालू या दही बड़े का शौक है।

(१०) ञ रंगीले सियार है। छिप छिप करके पी आते हैं फिर मद्य निषेध पर व्याख्यान की गर्जना होती है।

(११) ट चरित्र-हीन हैं पर ब्रह्मचर्य्य पर मनोहर व्याख्यान रटा हुआ है।

(१२) ठ बिना ढोल के नहीं गा सकते। चांहे काम रुके या चले।

(१३) ड केवल करताल जानते हैं आपको एक तबलची तथा एक हारमोनियम बजाने वाले की ज़रूरत होती है तभी आपका गर्दभ स्वर निकल सकता है।

(१४) ढ मार्गव्यय लेकर बैठ जाते हैं। जाने का नाम नहीं लेते।

(१५) ण पहले से तय किये बिना नहीं चलते या कम मिलने पर लड़ते हैं और गाली दे बैठते हैं।

इतनों का परिचय पर्याप्त है। अगर सब का परिचय दिया जाने लगे तो एक अच्छा ग्रन्थ तय्यार हो सकता है। अभी थोड़े दिन हुये एक आर्य्य समाज ने निश्चय किया था कि वह भजनीकों को निमंत्रण न देगा और इसकी विज्ञप्ति भी उसने निकाल दी थी। हमारा विचार है कि इन्हीं में से कोई महात्मा पहुंच गया हो गया। कहीं कहीं तो भजन मंडली भोजन मंडली के नाम से ही पुकारी जाती है।

धर्मोपदेश करना प्रत्येक का कार्य्य नहीं और न प्रत्येक से यह काम लेना ही चाहिये। जब दुराचारी तथा मूर्ख धर्म के ठेकेदार बन जाते हैं, तो वे किसी अच्छे धर्म का प्रचार नहीं कर सकते। बहुतों की श्रद्धा तो ऐसे प्रचारकों के देखते ही धर्म से उठ जाती है।

यहां कुछ भजनीकों का परिचय दिया गया है। इससे यह तात्पर्य्य नहीं कि सभी दुश्चरित्र हैं। कुछ तो उनमें से निस्सन्देह उत्तम विचार के सज्जन पुरुष हैं, पर इनकी गणना इनी गिनी है।

ऋषि के ग्रन्थों की रक्षा

एक एक अक्षर और एक एक शब्द अपना महत्व रखते हैं। एक अक्षर का परिवर्त्तन होते ही भावों में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। एक एक शब्द अर्थ का अनर्थ करने की क्षमता रखता है। परंतु दार्शनिक क्षेत्र में यह क्षमता विशेष बल पकड़ जाती है। जहां एक मात्रा दार्शनिक उलझन को सुलझा देती है वहाँ एक मात्रा की वृद्धि अनेकों उलझनें पैदा कर देती है।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का भी यही हाल है। ऋषि के ग्रन्थों का निर्माण बड़ी शीघ्रता से हुआ। ऋषि कई पंडितों को एक साथ लिखवाते थे और थोड़े से काल में इतने ग्रन्थों का निर्माण करना उनकी अपूर्व प्रतिभा का द्योतक है। कुछ ग्रन्थों का ऋषि के जीवनकाल में संशोधन हो चुका था। ऋषि की मृत्यु के बाद यद्यपि विशेष सावधानी के साथ पुस्तकें छापी गई तिसपर उनमें अशुद्धियां रह गई हैं।

श्रीमती सार्वदेशिक आर्य्यप्रतिनिधि सभा की 'धर्मार्य्यसभा' ने ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों को छापे आदि के कारण संक्रान्त अशुद्ध पाठों से मुक्त कराने का निश्चय किया है, किन्तु यह तभी संभव है, जब ऐसी समस्त अशुद्धियों की एक सूची बन जाए। इसके लिए आर्य्यविद्वानों से प्रार्थना है वे ऐसी सब अशुद्धियों की सूची बनाकर श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ, आर्यसमाज मन्दिर, डिंगा (पंजाब) के पते से भेजने की कृपा करें। जो सब ग्रन्थों या किसी एक सारे ग्रन्थ की अशुद्धियों का संग्रह न कर सकते हों वे किसी भी भाग की अशुद्धियां संग्रह कर दें। उन सब अशुद्धियों पर पूर्ण विचार कर धर्मार्य्य सभा कोई अन्तिम निर्णय कर सकेगी। आशा है, समस्त आर्य्य विद्वान् इस कार्य्य में सहयोग देने की कृपा करेंगे।

साहित्याचार्य्य पण्डित पद्मसिंह शर्म्मा

साहित्याचार्य्य पं० पद्मसिंह शर्म्मा इस संसार में नहीं रहे। उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया। पर शर्मा जी मृत नहीं हुये। उनकी विमल कीर्त्ति अब भी विद्यमान है। उनकी साहित्यक कृतियाँ उनका नाम अमर रखने के लिये समुचित हैं। पं० पद्मसिंह शर्म्मा संस्कृत, फ़ार्सी, उर्दू के विद्वान थे। हिन्दी भाषा पर उनका प्रभुत्व था। श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक सब से पहले शर्म्माजी ही को मिला था।

हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को सद्गति दे।

समालोचना

पौरस्त्य धनुर्वेद

लेखक श्रीयुक्त महेन्द्र कुमार जी वेद शिरोमणि, रिसर्चस्कालर स्नातक गुरुकुल वृन्दावन मूल्य ॥।)

यह पुस्तक हमारे नवयुवक विद्वान् मित्र ने बड़ी गवेषणा के साथ लिखी है। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि धनुर्वेद में केवल तीर कमान का ही वर्णन नहीं है किन्तु तोप, बन्दूक आदि का भी विधान है और प्राचीन भारतीय इन सब अस्त्र शस्त्रों को जानते थे। भूमिका पं० नरदेव जी शास्त्री ने लिखी है। पुस्तक बहुत अच्छी है और लेखक महोदय की भविष्य की खोजों की आशा दिलाती है। श्री महेन्द्र कुमार जी को इसके लिये बधाई है।

युगान्तर—(मासिक पत्र) सम्पादक श्री सन्तराम बी० ए०, वार्षिक मूल्य २)।

मिलने का पता :—
युगान्तर कार्यालय, हास्पिटलरोड, लाहौर

"युगान्तर" जाति पांति तोडक मंडल का मुख पत्र है। इससे इसके उद्देश्यों का भली भांति परिचय मिल सकता है। हिन्दू समाज में जाति पाति की कुछ रूढ़िया ऐसी प्रचालित हो गई हैं जिनसे हिन्दू समाज की उन्नति में बड़ी बाधा पड़ रही है। युगान्तर एक जीता जागता पत्र है। हिन्दू समाज की समस्त बुराइयों पर कुठार चलाना इसका काम है। हमारा विश्वास है कि श्रीसन्तराम जी बी० ए० के सम्पादकत्व में "युगान्तर" एक नया युग ला देगा। ईश्वर इसको चिरायु करें, जिसमें हम समाजिक बेडियों को काट कर स्वतन्त्र हो सकें।

हंस—(आत्म कथा अङ्क) सम्पादक श्री प्रेमचन्द बी० ए०, प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस।

हँस का आत्म कथा अंक सम्पादक की नई सूझ का द्योतक है। हिन्दी भाषा में लेखकों को इससे पूर्व कोई ऐसा अवसर न मिला था कि वे अपने जीवन की घटनाओं का उल्लेख कर सकते। आत्म कथा अंक में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखकों ने अपने हृदय को खोल दिया है। अनेक लेख बड़े ही मर्म स्पर्शी हैं। इनको पढ़ने से एक बात का अनुमान हो सकता है कि लेखक का जीवन कितने दुख तथा त्याग का जीवन है। इस अंक के एक एक लेख मोतियों की लडियां हैं और एक एक मोती मानव हृदय को चीर कर निकाला गया है। सम्पादक बधाई के पात्र है।

———
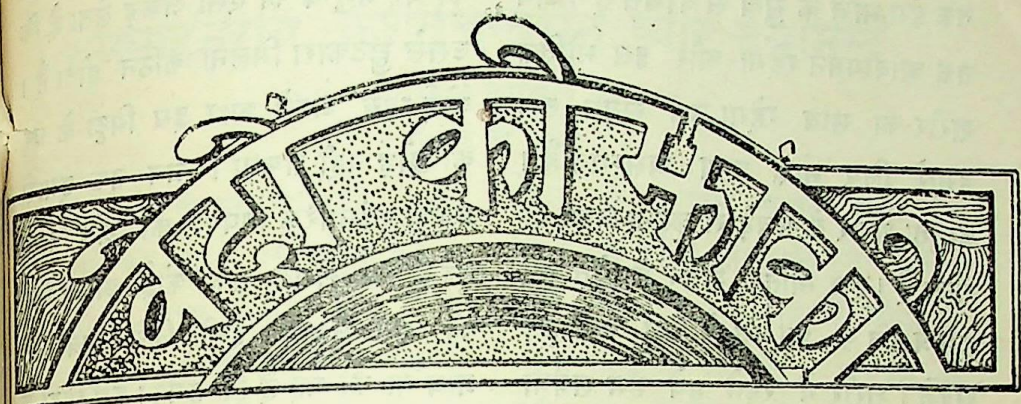
(२६)

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृला सुक्षत्र मृलय ।

(ऋ० ७।८९।१)

(सु राजन् वरुण) हे अच्छे राजा वरुण अर्थात् प्रकाश युक्त ईश्वर (अहं) मैं (मृन्मयं) मिट्टी के (गृहं) घर को (मां उ गमम्) न प्राप्त होऊं । (सुक्षत्र) हे भली भांति रक्षा करने वाले जगदीश्वर (मृल) मुझको सुख दीजिये । (मृलय) मेरे ऊपर दया कीजिये ।

इस मन्त्र में ईश्वर को 'राजन्', 'वरुण' और 'सुक्षत्र' तीन शब्दों से सम्बोधित किया है। 'राजन्' का अर्थ है प्रकाश स्वरूप । 'वरुण' का अर्थ है ग्रहण करने योग्य । 'सुक्षत्र' का अर्थ है भली भांति रक्षा करने वाला। ईश्वर प्रकाश युक्त भी है और उससे अधिक कोई रक्षा करने वाला भी नहीं है। जब कोई रक्षक नहीं होता उस समय ईश्वर ही हमारी रक्षा करता है।

इस मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे प्रभु ऐसी दया कीजिए कि मुझे, यह मिट्टी का घर न मिले। 'मिट्टी के घर' से क्या तात्पर्य ? 'मिट्टी' का अर्थ है पंच भूत ! क्योंकि पृथिवी आदि ही पाँचभूत होते हैं। मिट्टी के घर से तात्पर्य है भौतिक शरीर से। हम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की योनियों में पड़ कर ही तो पाप पुण्य का भोग प्राप्त करते हैं। जब तक जन्म मरण का जंजाल है उसी समय

तक हम मोक्ष के सुख से वंचित हैं। जब तक आवागमन रहेगा और इस भौतिक शरीर का साथ रहेगा उस समय तक हमारे लिए मोक्ष पाना असम्भव है। वस्तुतः शरीर के पचड़े से छूटना जाता ही मोक्ष है। इस भौतिक शरीर के होते हुए हम प्रकृति के आश्रय से भी नहीं छूट सकते। शरीर में रहते हुये हम सर्वथा प्रकृति की ओर प्रवृत्त रहते हैं। हमारी मानसिक प्रवृति भी प्राकृतिक पदार्थों में ही लगी रहती है। न केवल इतना ही है कि शरीर की समस्त आवश्यकतायें पृथ्वी आदि पदार्थों से पूरी होती हैं किन्तु इस से भी अधिक यह बात है कि जब तक शरीर बना है आत्मा भी शरीर का ही अनुरूप हो जाता है और वह शारीरिक बातें ही सोचता है। इस प्रकार यह मिट्टी का घर मनुष्य को ऐसा जकड़ लेता है कि उससे छुटकारा मिलना कठिन होता है। कोई स्वयं अपने आप इस मिट्टी के घर को छोड़ नहीं सकता। जब तक हमारी प्रवृत्ति सांसारिक विषयों की ओर लगी हुई है उस समय तक कोई आशा नहीं की जा सकती इसी लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमको इस मिट्टी के घर से किसी प्रकार छुटकारा मिले। यह तभी हो सकता है जब हमारा मन प्रकृति से हट कर ईश्वर की ओर लगे। ज्यों ही हम ईश्वर की ओर मन लगायेंगे हमारा सम्बन्ध शनैः २ प्राकृतिक पदार्थों से कम होता जायगा और अन्त में एक दिन ऐसा आयेगा कि प्रवृत्तियाँ कम होने के कारण हम शरीर के आधिपत्य से मुक्त हो जायगे।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०]

(गतांक से आगे)

केशव बाबू के आरम्भ और अन्त के विचारों की शृङ्खला पर ध्यान देने से एक विशेष शिक्षा मिलती है। उनके विचार एक विलक्षण वृत्ताकार मार्ग में घूमते हैं। वह मूर्तिपूजा की घृणा से आरम्भ करते हैं, फिर ईसाई धर्म की ओर झुकते हैं और ईसा को पहले महा पुरुष और फिर ईश्वरावतार के लगभग मान लेते हैं, फिर ईसा के अवतार को हिन्दू अवतारों से मिलाते हैं, फिर हिन्दू देवताओं को ईश्वर का अंश मानने लगते हैं और हिन्दू मूर्तिपूजा को कुछ कुछ प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगते हैं। सम्पूर्ण वृत्त पूरा हो जाता है केवल थोड़ा सा स्थान शेष रह जाता है। स्वामी दयानन्द अवतारों को वेद विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध और असम्भव सिद्ध करके मूर्तिपूजन की जड़ को ही उड़ा देते हैं।

ईसाई लोग मूर्ति-पूजा के खण्डन का दावा करते हैं और हिन्दुओं की मूर्तियों का मखौल उड़ाते हैं। इसका उत्तर राजाराममोहनराय ने अच्छा दिया था। केशवचन्द्र सेन तो ईसाइयों की चमक दमक के शिकार हो गये। वस्तुतः बात यह है कि जब तक ईसा को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक ईसाई लोग मूर्तिपूजा से बच नहीं सकते। इसी भावना ने कैथोलिक लोगों को ईसा और माता मरियम की मूर्ति पूजने के लिये तत्पर किया और यही भाव अनेक रूपों में ईसाइयों के भिन्न २ सम्प्रदायों में पाया जाता है। स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा को जिस ढङ्ग से खण्डन किया है उससे इसका मूल ही उड़ गया है।

मूर्ति-पूजा-खण्डन का काम मुसलमानों ने भी बड़े जोरों से किया था। मुहम्मद साहेब को पैगम्बर मानते हुए भी किसी मुसलमान ने उनकी मूर्ति नहीं पूजी। परन्तु उनको भी काले-पत्थर को पूजना ही पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मूर्तिपूजा खण्डन के बजाय मूर्ति-खण्डन आरम्भ कर दिया। उन्होंने मूर्तियां बनाना ही दूषित बता दिया। स्वामी दयानन्द ऐसा नहीं कहते। वह कहते हैं कि मनुष्य की स्मारक मूर्तियां तो बन सकती हैं परन्तु ईश्वर निराकार है और कभी साकार नहीं हो सकता इसलिये न उसकी मूर्ति बन सकती है न कल्पना ही करनी चाहिये।

राजाराम मोहनराय जी ने वेदान्त

और उपनिषदों का शांकरभाष्य पढ़ा था और उसी का अंगरेज़ी अनुवाद भी किया था। उनको वेद पढ़ने का अवसर नहीं मिला था। परन्तु वेदान्त आदि के आधार पर वह वेदों पर श्रद्धा रखते थे। श्री शङ्कराचार्य्य तथा अन्य आधुनिक पण्डितों का अनुकरण करके उन्होंने उपनिषदों को भी वेद ही मान लिया था। इसलिये मूल वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के विषय में कोई लेख अनुवाद या उद्धरण राजा राममोहनराय के लेखों में नहीं पाये जाते। रहे श्रीयुत् सेन बाबू! यह तो आङ्गल-सभ्यता के सुपुत्र थे। इन्होंने वेदों और संस्कृत ग्रन्थों को ढकोसला समझ कर छोड़ दिया था। परमहंस रामकृष्ण तथा अन्य सन्तों के उपदेशों से केवल वह हिन्दू-भक्ति की ओर आकर्षित थे। नव-विधान के जिस झंडे तले उन्होंने हिन्दू-शास्त्र मुसलमान शास्त्र, ईसाई शास्त्र और बौद्ध शास्त्र का संग्रह किया था, उन शास्त्रों में से उन्होंने अधिकतर ईसाई शास्त्र का ही अध्ययन किया था। उन्होंने एक व्याख्यान केवल ईसा के ही महत्व पर दिया था। अन्य महापुरुषों का केवल एक ही व्याख्यान में वर्णन कर दिया था। परन्तु स्वामी दयानन्द की परिस्थिति सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने वेद वेदाङ्ग पढ़े थे। अन्य धर्म वालों के ग्रन्थों का तो उन्होंने केवल अन्त में शास्त्रार्थ करते समय अध्ययन किया था। वेद वेदाङ्ग के पढ़ने में उन्होंने निरन्तर और एकाग्र चित्त होकर परिश्रम किया था। वह शांकर-भाष्य या अन्य भाष्यों को प्रमाणिक नहीं समझते थे। वह मूल का अध्ययन करके उस पर विचार करते थे। इसलिये उन्होंने सबसे पहले भिन्न २ लोगों के किये हुये वेद-भाष्य तथा शास्त्र-भाष्यों की त्रुटियां दिखाई और अपना भाष्य करके अपना मार्ग निश्चित किया। भाग्यवश दयानन्द संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। इसलिये वह मूल ग्रन्थों पर मौलिक विचार कर सकते थे। राजाराममोहन राय जी संस्कृत के विद्वान् अवश्य थे। परन्तु उनका चित्त बटा हुआ था। उन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुये उस सर्वथा प्रतिकूल समय में इतना किया वह बहुत किया। यदि दयानन्द के समान वह भी सन्यासी होकर केवल हिन्दू-धर्म सुधार में ही लगे रहते तो संभव था कि वह भी उसी परिणाम पर पहुंचते जिस पर स्वामी दयानन्द पहुंचे थे। परन्तु राजकीय झंझटों और अन्यान्य सांसारिक बातों ने राजाराम मोहनराय को इतना अवसर ही नहीं दिया। फिर भी वह इतने बुद्धिमान् और अनुभवशील थे कि उन्होंने बड़ा प्रशंसनीय कार्य्य किया।

राजाराममोहनराय की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिन्दूधर्म की ओर थी। और वह वेदों को प्रमाणित मानते थे। परन्तु वे

अपने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में युक्तियों और प्रमाणों द्वारा रहना पुष्ट नहीं कर सके कि उनके भावी अनुयायी उस पर चल सकते। यही कारण था कि पुष्कल सामग्री के अभाव के कारण श्रीयुत् महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर को अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध केशवचन्द्र के ब्रह्मसमाज में आने से बहुत पूर्व १८५० ई० में ही वेदों की प्रामाणिकता ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों से हटानी पड़ी थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ऐसा करने पर मजबूर थे। दृढ़ विश्वास होते हुए भी उनके पास सामग्री की कमी थी। लोग उन पर आक्षेप करते थे और वे निरुत्तर हो जाते थे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के विहित या अविहित होने के प्रश्न से भी पूर्व वेदों की प्रमाणिकता का विषय लिया था। वह कहते थे कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। जिस प्रकार ईश्वर आंख बनाने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिये सूर्य्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार बुद्धि देनेसे पूर्व ही उसकी सहायता के लिये वेद का प्रकाश करता है। उनका सिद्धान्त था कि वेद सृष्टि के आरम्भ में हुये। उपनिषद और ब्राह्मण ग्रन्थ पीछे से हुये। इसलिये इनको वेद कहना नहीं चाहिये। सृष्टि के आरम्भ में होने के कारण वेदों में इतिहास नहीं। जहां कहीं इतिहास का आभास जान पड़ता है वह इतिहास नहीं किन्तु शब्दों के अर्थ समझने के कारण प्रतीत होता है। इसके लिये उन्होंने यास्क मुनि के निरुक्त से खोज कर एक और बात निकाली। उन्होंने कहा कि वेद आदि ग्रन्थ होने के कारण वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक या योगरूढ़ि हैं रूढ़ी नहीं। ऐतिहासिक नाम रूढ़ी हुआ करते हैं। आरम्भ में शब्द यौगिक अर्थ में ही आते हैं। जब समय व्यतीत हो जाता है तब यौगिक अर्थ न रहकर रूढ़ि अर्थ हो जाते हैं। उदाहरण के लिये सबसे पहले 'लखपति' शब्द यौगिक अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ होगा। केवल उसी को लखपति कहते होंगे जिसके पास लाख रुपये रहे होंगे। परन्तु कालान्तर में 'लखपति' व्यक्ति वाचक संज्ञा होगया। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से मिलता है शतपथ में लिखा है कि 'भरद्वाज' व्यक्ति वाचक संज्ञा नहीं। इसका अर्थ है 'मन' क्योंकि 'भरद्वाज' दो शब्दों से मिलकर बना है भरट्* बाज' 'भरट' संस्कृत के 'भृ' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'भरना'। 'बाज' नाम है अन्न का। इसलिये 'भरद्वाज' मन का नाम हुआ।

स्वामी दयानन्द के हाथ यह एक बहुमूल्य कुञ्जी आ गई। सायण आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने यास्क को

---

*देखो शतपथ ब्राह्मण।

पढ़ा तो अवश्य था परन्तु न जाने उनके हाथ यह कुञ्जी क्यों न लगी। स्वामी दयानन्द ने इस कुञ्जी से वेदों की प्रत्येक कठिनाई को खोलना आरम्भ कर दिया। और उनको प्रतीत होने लगा कि इसकी सहायता से वह वेदों के ऊपर किये गये सभी लांछनों को दूर कर सकेंगे। जब किसी ने कहा कि वेदों में सूर्य्य, अग्नि आदि देवी देवतों की पूजा है तो उन्होंने वेदांगों के आधार पर सिद्ध किया कि 'देव' शब्द ईश्वर के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों और चमकीली वस्तुओं के लिये भी प्रयुक्त होता है, जैसे यास्क मुनि निरुक्त में लिखते हैं कि—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा इत्यादि

अर्थात् जो दान करे वह देव। जो प्रकाश करे वह देव। इससे उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रत्येक देव पूजनीय नहीं है। केवल अग्नि को देव कह देने से अग्नि पूजनीय नहीं हो जाता। देव तो सहस्रों हैं। जिसमें प्रकाश देखो उसे कहलो। परन्तु पूजा केवल एक ईश्वर की ही करनी चाहिये क्योंकि वह देवों का देव महादेव है। इसी प्रकार जब किसी ने कहा कि वेद में 'कृष्ण' शब्द आया है तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि यहाँ ऐतिहासिक कृष्ण से तात्पर्य नहीं। 'कृष्ण' शब्द के यौगिक अर्थ लीजिये। 'कृष्ण' शब्द के ऐतिहासिक अर्थ तो उन्हीं ग्रंथों में लिये जा सकते हैं जो 'कृष्ण' के पश्चात् बने हों।

इसी प्रकार जब ईसाइयों ने हिन्दू दर्शनों के दोष दिखलाये थे तो राजाराम मोहनराय ने उनका उत्तर दिया था। परन्तु वह मध्यकालीन दार्शनिक भेदों को दूर नहीं कर सके थे। क्योंकि वेदांत के शंकर-कृत तथा रामानुज-कृत आदि भाष्यों में सांख्य, वैशेषिक न्याय और योग आदि का स्पष्ट और विस्तृत खण्डन विद्यमान है। इसके होते हुये उनका समन्वय कठिन है। स्वामी दयानन्द ने इन भाष्यों को ही ग़लत माना और "ब्रह्मसत्य, जगत्-मिथ्या" वाद का खण्डन करके षड दर्शनों का समन्वय कर दिया।

इसी के साथ स्वामी दयानन्द ने एक और सिद्धान्त ठहराया वह यह कि संसार के भिन्न भिन्न धर्म और भिन्न भिन्न भाषायें, चाहे एशियाई हों, चाहें यूरोपीय, केवल वैदिक धर्म और वैदिक भाषा का विकृत रूप हैं (विकसित रूप नहीं)। वह कहते हैं कि बौद्ध और पार्सी धर्मों में वेदों की बातें पाई जाती हैं। ईसाई धर्म बौद्ध धर्म की नक़ल है। मुसल्मानी धर्म ईसाई और पारसी धर्म का कुछ कुछ मिक्सचर है। बाबू केशवचन्द्रसेन ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था नहीं तो वह 'ईसा' पर व्याख्यान देने के स्थान में 'बुद्ध' पर व्याख्यान देते

क्योंकि जो कुछ अच्छी बातें बाइबिल में पाई जाती हैं उन सब का उल्लेख बहुत पूर्व बौद्ध ग्रन्थों और बुद्ध के उपदेशों में आ चुका है। स्वामी दयानन्द के इस सिद्धान्त ने वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म को उसके शुद्ध रूप में संसार के सभी धर्मों से उत्कृष्ट ठहरा दिया। उन्होंने १८६९ ई० में काशी के पंडितों से इस बात पर शास्त्रार्थ किया कि मूर्त्ति पूजा वेद विरुद्ध है। यह शास्त्रार्थ बड़े मारके का था। इसके पश्चात् उन्होंने मुसलमान मौलवियों और ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ करके वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता दिखाई।

राजाराममोहन राय और महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर ने ब्रह्मसमाज के दरवाज़े सब के लिये नहीं खोले थे। बाबू केशवचन्द्रसेन ब्रह्म समाज को एक सार्वभौमिक चर्च बनाना चाहते थे और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध हर किसी को ब्रह्म समाज में प्रविष्ट होने की आज्ञा थी। परन्तु केशव बाबू ने एक बात नहीं सोची थी। वह यह कि इन सब धर्मग्रन्थों और धर्म-सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुये यह लोग आपस में किस प्रकार मिलेंगे। यदि यह कहा जाय कि जिसको जो धर्म प्रिय हो वह उसी धर्म को माने, परन्तु मनुष्य के नाते से वह प्रेम-पूर्वक रहे। तो इस सिद्धान्त के आधार पर कोई चर्च नहीं बन सकता। केवल ऊपरी मेल हो सकता है। भिन्न भिन्न मत रखते हुये भी हम व्यापार, राजनीति, देश भ्रमण आदि कार्यों में एक हो सकते हैं। यह अभिप्राय बिना नया चर्च स्थापित किये भी हो सकता है। और यदि यह कहा जाय कि भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने उन सिद्धान्तों को सर्वथा त्याग दें जिनमें मत भेद है और केवल उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर एक नया चर्च बना लें जो सब धर्मों में एक से हैं, तो यह भी असम्भव है। प्रथम तो लोग ऐसा करना चाहेंगे नहीं। दूसरे यदि चाहें भी तो संभव नहीं। उदाहरण के लिये एक सिद्धान्त लीजिये। बौद्ध जैन और वैदिक धर्मी पुनर्जन्म को मानते हैं। ईसाई, मुसलमान नहीं मानते। अब इसका क्या इलाज है? नया चर्च क्या करेगा? न तो ईसाई मुसलमान पुनर्जन्म मानने पर राज़ी होंगे न हिन्दू छोड़ने पर। यह तो हो सकता है कि एक नया आचार्य उठे और सब धर्मों में से कुछ कुछ लेकर एक नया धर्म स्थापित कर दे और उसके सिद्धान्त अलग नियत कर दे। ईसाई, मुसलमान, हिन्दू या पारसी जो उन सिद्धान्तों को मानना चाहे वह अपने अपने पुराने धर्मों को छोड़कर नया धर्म स्वीकार कर लें; जैसा मुहम्मद साहेब या अन्य धर्म के प्रवर्त्तकों ने किया। और केशव बाबू भी अन्त में करना चाहते थे। परन्तु यह तो रोग का

निदान नहीं किन्तु और भी बड़ा रोग है इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि हमने चारों धर्मों को मिला दिया। यों कहना चाहिये कि अब तक केवल चार ही धर्म थे। अब एक पांचवां और खड़ा होगया।

स्वामी दयानन्द ने कुछ भिन्न ही कहा उन्होंने कहा कि मैं कोई नया धर्म नहीं स्थापित करता। वैदिक धर्म में पीछे से जो दोष आ गये हैं उनको छोड़ दो। और शुद्ध सनातन वैदिकधर्म को ग्रहण करो। ईसाई मुसलमान, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन, हिन्दू जो कोई वैदिक सिद्धान्त को मानना चाहे वह उस धर्म में शामिल हो सकता है। जाति पांति, बिरादरी आदि के रोग की उन्होंने यह औषध बताई कि जब कोई वर्ण जन्म से माननीय नहीं तो ईसाई, मुसलमान आदि के प्रवेश में क्या कठिनाई ? चाहे किसी का बाप पण्डित हो, या मौलवी या पण्डित जब वह वैदिक धर्म में आता है तो हम उसको वर्त्तमान गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही मानेंगे। इस प्रकार १८७५ ई० में उन्होंने 'आर्य्यसमाज' नामक संस्था स्थापित करके सब के लिये उसका द्वार खोल दिया।

अन्य सामाजिक सुधारों के विषय में हम कह ही चुके हैं। राजाराममोहन राय सती की प्रथा के विरुद्ध थे और उन्होंने ईसाई मिशनरियों की सहायता से उसे बन्द कराया था। परन्तु वह इसको हिन्दू-धर्म के विरुद्ध नहीं सिद्ध कर सके थे। वह केवल इतना कहते थे कि किसी को सती होने के लिये बाध्य करना शास्त्र से विरुद्ध है। वह लिखते हैं :—

Ungeera and Vishnoo, and also the modern Rughoonundun authorize a widow to burn herself voluntarily along with the corpse of her husband; but modern Brahmuns, in direct opposition to their authority allow her relations to bind the mournful and infatuated widow to the funeral pile with ropes and bamboos, as soon as she has expressed a wish to perform the dreadful funeral sacrifice to which the Brahmuns lend a ready assistance. (*The works of Rajo Ram Mohan Ray, centenary edition page. 133.*)

अर्थात्—अङ्गिरा, विष्णु और आधुनिक रघुनन्दन ने स्त्री को पति की मृत्यु पर सती होने की आज्ञा मात्र दी है। परन्तु इसके विरुद्ध आजकल के ब्राह्मण रोती हुई विधवा को चिता से जबरदस्ती बंधवा देते हैं इत्यादि ! परन्तु स्वामी दयानन्द ने स्त्रियों के अधिकार हर बात में पुरुषों के समान बताये हैं। वह अङ्गिरा, विष्णु और रघुनन्दन आदि की बनाई हुई आधुनिक स्मृतियों को वेद विरुद्ध और कपोल कल्पित ठहराते हैं। वह कहते हैं

कि लोगों ने वेदों का मत न समझकर मनमानी बातें ऋषियों का झूठा नाम रखकर गढ़ली हैं। वेदों में सती की प्रथा की गंध भी नहीं। न स्त्री या शूद्र को वेद पढ़ने का निषेध है। न स्त्री के लिये उच्च-शिक्षा वर्जित है। न स्त्री के लिये यह आवश्यक है कि उसकी मंगनी छोटी आयु में ही कर देनी चाहिये। उन्होंने वेद मंत्रों को उद्धृत करके और पुराने ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षी देकर यह सिद्ध किया कि स्त्रियाँ वेद पढ़ती थीं पूरी आयु पर ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने के पश्चात् विवाह करती थीं और कोई ऐसा अधिकार नहीं था जो पुरुषों के लिये हो और स्त्रियों के लिये नहीं। वर्णों को जन्म के आधार पर न मानकर उन्होंने अछूतों और शूद्रों के प्रश्न को बड़ी अच्छी तरह हल कर दिया था।

बाबू केशवचन्द्रसेन का अन्त में यह विचार हो गया था कि केवल निराकार ईश्वर की निराकार पूजा सर्वसाधारण को धर्म की ओर आकर्षित न कर सकेगी। इसीलिये उन्होंने ब.जे गाजे के साथ संकीर्त्तनों की प्रथा डाली थी। वह मूर्तिपूजा को शामिल करना चाहते न थे। समस्या तो विकट थी। परन्तु यह कठिनाई उनको इसलिये पड़ी कि वह यज्ञ, हवन, यज्ञोपवीत आदि वाह्य चिह्नों को छोड़ चुके थे। स्वामी दयानन्द ने यज्ञों को भौतिक विज्ञान द्वारा व्याख्या करके उनकी श्रेष्ठता और अनिवार्यता पर बल दिया था। वह यज्ञों को धर्म का मुख्य अङ्ग समझते थे जैसा कि वेदों में कथन है। यज्ञ हवन जिस प्रकार योगियों और अध्यात्मवादियों के लिये आकर्षक होते हैं उसी प्रकार सर्व-साधारण के लिये भी। यही कारण है कि साधारण जनता, मूर्तिपूजा से विरुद्ध होते हुये और निराकार ईश्वर की निराकार उपासना करते हुये भी यज्ञ हवन में सम्मिलित होती और धर्म को नीरस और और शुष्क नहीं समझती।

स्वामी दयानन्द ने एक बात और की। उसकी ओर राजाराममोहन राय या केशवचन्द्र सेन का ध्यान नहीं गया। वह था आर्य्यभाषा या हिन्दी का प्रश्न। राममोहनराय जी ने जो कुछ किया वह केवल बङ्गाल के लिये। उनके समय का बङ्गाल था भी अलग थलग। केशवचन्द्र सेन ने अवश्य भारतीय-ब्रह्मसमाज स्थापित की थी। परन्तु उन पर अंगरेज़ी का इतना रंग जमा था कि वे अंगरेज़ी के द्वारा ही भारतीयता लाना चाहते थे उस समय के अंगरेज़ी पढ़ों में यह रोग भी था। आरंभ में केशव चन्द्र सेन को जब ब्रह्मसमाज में। बङ्गला भाषा में व्याख्यान देने होते थे तो वह उस उत्तमता से कृतकार्य्य नहीं हो सकते थे जैसे अंगरेज़ी में। उनके मुख्य मुख्य व्याख्यान अंगरेज़ी में ही दिये गये। एक

तमाशे की बात है। जब स्वामी दयानन्द केशवचन्द्र सेन से मिले उस समय वह केवल संस्कृत ही बोलते थे और पण्डितों से मूर्तिपूजा-विषयक शास्त्रार्थ करते थे। केशव बाबू ने स्वामी दयानन्द को सुझाया कि आप सर्व साधारण की भाषा में बोलिये। स्वामी दयानन्द ने उनके इस परामर्श को स्वीकार किया और आर्य्यभाषा अर्थात् हिन्दी में बोलने लगे। परन्तु आश्चर्य यह है कि केशव बाबू ने स्वयं अपनी बात पर कार्य्य नहीं किया। स्वामी दयानन्द गुजराती थे। उनकी मातृ भाषा गुजराती थी। उनको हिन्दी आती भी न थी। परन्तु उन्होंने विचारा कि यदि भारतवर्ष में हिन्दुओं और हिन्दूधर्म का सुधार करना है तो हिन्दी-भाषा का प्रचार करना चाहिये। उनको निश्चय हो गया था कि यद्यपि संस्कृत देववाणी है और शिक्षित पण्डितों की भाषा है तो भी यह सर्व साधारण की मातृभाषा नहीं बन सकती। रही अंगरेज़ी यह तो हिन्दू सभ्यता के सर्वथा ही विपरीत थी। प्रत्येक भाषा अपने देश की सभ्यता तथा इतिहास तथा जातीय भावों की कोष होती है। यदि किसी देश में विदेशीय भाषा का संचार हो जाय तो उसकी सभ्यता में बहुत बड़ी उथल पुथल आजाती है। यह जानकर स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को अपने लेख तथा व्याख्यानों का साधन बनाया और प्रत्येक आर्य्य सामाजिक के लिये आर्य्य भाषा सीखना आवश्यक बताया। स्वामी दयानन्द को हिन्दू, हिन्दी और हिंदुस्तान शब्दों से प्रेम न था वह इनको विदेशी समझकर अन्य विदेशी वस्तुओं के समान इनसे उपेक्षा करते थे वह हिन्दू के स्थान में 'आर्य्य' हिन्दी के स्थान में आर्यावर्त का शब्दों का प्रयोग करते थे परन्तु उनका तात्पर्य 'आर्य्यभाषा' और 'हिन्दुस्तान' के स्थान में इनसे वही था जो आजकल प्रायः लोग हिन्दू, हिन्दी और हिंदुस्तान से लिया करते हैं।

आर्य्यसमाज स्थापित करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने सभी भारतीय नेताओं से परामर्श लिया था। श्री केशवचन्द्र सेन जी से भी बातचीत की थी वह चाहते थे कि ब्रह्मसमाज या प्रार्थनासमाज को ही आर्य्य समाज का रूप दे दिया जाय यदि केशव बाबू के स्थान पर राजा राममोहन राय जी होते तो अवश्य ही ऐसा होने की आशा थी क्योंकि मूल में राय जी की भी वही इच्छा थी जो स्वामी दयानन्द की। परन्तु जो केशव बाबू महर्षि देवेन्द्रनाथ टागौर का ही साथ न दे सके वह स्वामी दयानन्द के अनुकूल कैसे होते ? प्रार्थनासमाज और ब्रह्मसमाज के लोगों से स्वामी दयानन्द का मतभेद वेदों की प्रमाणिकता पर था। वह लोग इस मर्य्यादा को स्वतन्त्रता के पथ में बाधा समझते थे। स्वामी दयानन्द देख चुके

थे कि मर्यादा रहित स्वतन्त्रता उच्छृङ्ख-लता का रूप धारण कर परतन्त्रता से भी अधिक हानिकारक सिद्ध होती है। केशव बाबू के नव-विधान का यही हाल हुआ था। इसलिये स्वामी दयानन्द अपनी बात पर अटल रहे और आर्य्यसमाज के नीचे लिखे दस नियम बनाये :—

नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व-शक्तिमान्, न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है; वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्यग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीति-पूर्वक, धर्मानुसार यथा योग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

उन्होंने अपने बृहद्ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसमाज के विषय में लिखा है कि यह लोग स्वदेश प्रेम नहीं रखते। ऋषि मुनियों के स्थान में ईसा आदि की प्रशंसा करते हैं, अंगरेजी पर अधिक बल देते हैं और स्वदेशी वस्तुओं के स्थान में विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। केशव बाबू के ब्रह्मसमाज में यह सब बातें उपस्थित थीं। स्वामी दयानन्द इन्हीं के विरोधी थे। वे सुधार तो चाहते थे परन्तु स्वदेशी ढंग का। विदेशी सुधार

को सुधार नहीं किन्तु जातीय मृत्यु समझते थे। उन्होंने मनु का एक श्लोक उद्धृत करते हुये लिखा है कि एक समय आर्य्यावर्त सब देशों का गुरु था। इससे लोग आचार व्यवहार की शिक्षा लेते थे। आज यह ऐसा गिरा है कि अपने उच्च आदर्श छोड़कर दूसरों के निकृष्ट आदर्शों के पीछे दौड़ता है। वेद, हिन्दी और स्वदेश प्रेम की शिक्षा देकर स्वामी दयानन्द ने आर्य्य समाज को सार्वदेशिक बना दिया।

यहाँ एक गौण प्रश्न है। क्या स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म-सुधारक थे? हमने यहाँ इसी नाते से राममोहनराय, केशव चन्द्रसेन और दयानन्द का साथ साथ उल्लेख किया है। उनके अनुयायियों में इस विषय में मतभेद है। बहुत से लोग स्वामी दयानन्द को हिन्दू-धर्म-सुधारक कहने में उनकी अवहेलना समझते हैं। हमारा इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह है कि यदि वर्तमान हिन्दू-धर्म को प्राचीन वैदिकधर्म का विकृत तथापि अन्य धर्मों की अपेक्षा निकटतम रूप समझा जाय तो शुद्ध वैदिक-धर्म का प्रचार करने के कारण स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म-सुधारक अवश्य हुये। परन्तु यदि हिन्दू-धर्म के संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ लिये जायं तो उनको हिन्दू-धर्म सुधारक की अपेक्षा प्राचीन वैदिक धर्म-उद्धारक कहना अधिक उपयुक्त होगा। हमारी समझ में तो आशय एक ही है शब्दों का भेद है।

कहानी

घर को फूंकना

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल एल० बी

बाबू राधाचरण की लड़की सयानी हो चली थी। कायस्थ की जाति ठहरी जिसमें बड़े बड़े प्रयत्न करनेपर भी अच्छे लड़के नहीं मिलते। फिर विचारे आर्य्य-समाजिक थे इसलिये और कठिनाई थी। विचारे यही सोचते थे कि लड़का ऐसा ही मिल जावे जो मांस न खाता हो, शराब न पीता हो ? और रुपया भी कम देना पड़े। क्योंकि रुपया कहां से आवेगा। नौकरी से इतनी आमदनी न थी, कि दो-चार हज़ार रुपया दे सकते। वेबसी थी।

जाड़े के दिन थे और इस साल शीत भी अन्य वर्षों से अधिक ही पड़ रहा था। रजाई बांधी, ट्रंक लिया और चल दिये। पर किधर चलें, ऊँट मक्के की ओर ही दौड़ता है। बाबू साहब लखनऊ की तरफ़ दौड़े। मित्रों ने एक लड़के के लिये पत्र दे दिये थे। लड़का मास्टर था, आर्य्यसमाजी तो नहीं था पर विचार नवीन आदर्श के ही ओर थे। बाबू साहब लड़के से मिल कर बहुत प्रसन्न हुये। दिल में गुदगुदी उठने लगी कि अगर यह लड़का मिल गया तो कहना ही क्या है। लड़के ने भी यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया था।

परंतु लड़का सुशील था और सुशील होने के यही माने हिन्दू घरों में लगाये जाते हैं कि अपनी शादी के विषय में कोई सम्मति न दे। अपने पिता को ही विवाह तय करने दें। न जाने ऐसे कितने ही सुशील हमने देखे हैं जो हैं तो पूरे आवारा, पर एक उनमें गुण अवश्य पाया जाता है कि वे शादी की बात-चीत नहीं करते हैं। पर बात कुछ और ही है। अगर लड़के ही बात-चीत करते तो इन आवारों को पूछता ही कौन ? ख़ैर बात कुछ भी हो, मास्टर साहब ने कहा—"बाबू साहब, आपने बड़ी तकलीफ़ की। मैं तो यही चाहता हूँ कि आपके साथ सम्बन्ध हो जाता। इसी में मेरा अहो-

...भा है। आपके विचार भी अच्छे मालूम होते हैं।"

"तो मैं समझ लूं कि शादी पक्की हो गई।"

"हां मेरी तरफ से कोई बात नहीं। पर इसमें मेरा बहुत कम हाथ है। अगर पिता जी राज़ी हो जावें तो ठीक है। मेरे पक्का करने या न करने का कोई असर नहीं।"

निदान बाबू साहब ने पिता जी का पता ले लिया और पत्र व्यवहार करना शुरू कर दिया।

❀ ❀ ❀

गाड़ी स्टेशन पर रुकी। जल्दी-जल्दी मुसाफ़िर उतरने लगे क्योंकि मुश्किल से २ मिनट गाड़ी ठहरती है। बाबू साहब इलाहाबाद के रहने वाले थे। जब कभी रेल में आते तो कुली-कुली की पुकार लगाते। बिचारे आदत से मजबूर थे। स्टेशन ज्योंही आया कुली-कुली चिल्लाने लगे। मुसाफिर हंसे—"अरे बाबू साहब, कुली-कुली चिल्लाते रहियेगा कि उतरियेगा? गाड़ी छूटना चाहती है।" किसी तरह लोगों ने अस्बाब उतरवा दिया।

छोटा सा स्टेशन था; मुश्किल से चार पांच आदमी उतरे होंगे। सब देहाती थे जिनकी आदत बोझा ढोने की होती है। उन्होंने अपनी अपनी गठरी सिर पर रख ली या बगल में दबा ली और चल दिये। बाबू साहब के पास एक ट्रंक था और जाड़े का बिछौना। दस पांच मिनट तक इधर-उधर कुली को देखते रहे। फिर निराश होकर पूछा—"क्यों भाई खुसरूपुर यहाँ से कितनी दूर होगा।"

"अरे यह क्या है?"

बाबू साहब बोले—"कै मील होगा"

"मील-मील क्या होता है? दो कोस होगा।" अब बाबू जी जान निकल गई। दिल में लगे सोचने बड़े बुरे फँसे। पर थे लाचार। कितनी देर इन्तज़ार करते, शहर के रहने वाले जो बाज़ार भी इक्के पर जाते हैं, आज उनको दो कोस चलना है। ऊपर से एक ऊँट का बोझा, दफ्तर से दो दिन की छुट्टी लेकर आये थे, इसलिये जल्दी से काम से निबट जाता भी था।

किसी तरह से सदूंक बगल में दबाये, और बिछौने सिर पर रख कर चल दिये। अगर रास्ते में कोई हँसता भी तो कह देते भाई लड़की की सगाई इसी तरह होती है। पर एक बात उनके दिल में और समाई। लड़की की शादी तय करने जा रहे हैं और बोझा सिर पर लदा है। लड़के वाला यह न समझे कि अच्छी हैसियत है। एक कुली तक साथ नहीं लाये। गांव भी नज़दीक आ रहा था। एक आदमी जाता हुआ नज़र आया "देखो भाई, यह अस्बाब इन बाबू साहब के यहां पहुँचा दो तुमको

चार पैसे इनाम मियेगा।" वह राज़ी हो गया अब क्या था? पूरी शान बन गई। आदमी ने जाकर अस्बाब रख दिया और पुकार लगाई।

लाला जी निकल कर आये और कुरसी पर बैठ गये। हुक्का की निगाली मुह में थी।

बाबू साहब—"मेरी चिट्ठी मिल गई होगी।"

"हाँ आई तो थी। पर बताइये कि आप खाइयेगा कहाँ?"

"कहीं खा लूँगा"

"क्या मुसलमान के यहां"

"और कोई न होगा तो वहीं सही"

"बात यह है कि इस गांव में दो ही हिन्दुओं के घर हैं। एक मेरा और एक दूसरे साहब का। वह भी मेरे खान्दानी लगते हैं और आप वहां भी नहीं खा सकते। बाक़ी मुसलमान के हैं"

"पहले से नहीं मालूम था, नहीं तो इस कुली की और रख लेता। कहीं चना मिल जावैगा। गुज़र हो जावेगी।"

"ख़ैर कोई हर्ज नहीं, इन्तज़ाम हो जावेगा" लाला साहब ने एक बनिये के यहां से शर्बत, पानी का इन्तज़ाम कर दिया। बाबू साहब ने उसके पैसे दे दिये। जिन बाबू साहब ने कभी भी पाक न किया होगा, वह आज कर रहे थे। पहले जूता उतार दिया तब पानी पिया। सब इसीलिये कि लड़का अच्छा है और कहीं हाथ से न निकल जावे। दो दिन ... भी कर लिया जायगा तो क्या नुक़सान।

उधर लाला जी की ऐंठ निराली थी। आखिर ठहरे न लड़के के बाप। गर्दन ऊंची किये बैठे रहते। कभी कभी ऐसा मालूम होता कि शायद बात भी नहीं सुन रहे हैं। हूँ हाँ कर देते। "अच्छा अब शाम को बात चीत होगी" कह कर घर के अन्दर चले गये। दुपहरी भर ख़ूब आराम किया, सोते रहे।

इधर बाबू जी की फिक्र थी कि शाम की गाड़ी न निकल जावे। लाला जी तीन बजे निकल कर आये।

"कहिये बाबू जी आपका घराना कैसा है?"

बाबू साहब ने दो चार बड़े रिश्तेदारों का नाम बता दिया चाहे उनसे बहुत दूर की रिश्तेदारी ही क्यों न हों दुनियां में यह नहीं देखा जाता कि आदमी की क्या हैसियत है। वह तो यही देखता है कि इसके कुटुम्ब में बड़े बड़े लोग हुये हैं या नहीं। इन रिश्तेदारियों को सुनकर बोले "हां घराना तो अच्छा है। शादी हो जाने में कोई हर्ज नहीं। लड़की कैसी है?"

"लड़की गोरे रंग की है। कोई खराबी नहीं है। चाहें तो किसी से दिखला सकते हैं। हिन्दी मिडिल तक पढ़ी है संध्या हवन, कर सकती है।"

......"रामायण पढ़ी है या नहीं। पढ़कर सुना सकेगी।"

"हां खूब अच्छी तरह से"

"अभी आप होम-होम क्या कह रहे थे"

"मैंने कहा था कि हवन अच्छी तरह कर सकती है"

"औरतें और होम! भय्या मैं ब्याह नहीं कर सकता। घर फूंक देगी। अब तय हो गया। मुझे ऐसी औरत नहीं चाहिये एक तो जो होम कर सके और दूसरी जो महाभारत पढ़ सके।"

"आपका घर नहीं फूंक देगी"

"नहीं भय्या, अब तय हो गया।" लाला जी उठ बैठे और एक बात न सुनी।

× × × ×

"बाबू साहब कैसे आये?"

"एक पत्र लाया हूँ"

पत्र पढ़ कर "वाह खूब रहीं। लड़का लिखता है कि अगर विवाह करूँगा तो इन्हीं की लड़की से क्योंकि मैं वचन दे चुका हूँ।" अच्छे वचन देने चले हैं। मैं लड़के को अलग कर सकता हूं पर अपना घर नहीं फूंक सकता? बाबू साहब मैं कह ही चुका हूं कि होम करने वाली बहू घर फूंक डालती है।"

बाबू साहब मुंह लटकाये लौट आये।

एक मन्त्र के अनेक अर्थ

[श्री स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ, पंजाब]

लौकिक काव्य में यदि श्लेषादि के बल से किसी श्लोक के एक से अधिक अर्थ कर दिए जाएं, तो किसी को आश्चर्य नहीं होता, अपितु कर्त्ता के पाण्डित्य की सराहना की जाती है। किन्तु वेद मन्त्रों के अनेक अर्थ देख कर कई लोग नाक भौं चढ़ाया करते हैं। यद्यपि यह वेद का भूषण और गौरव है। आज हम पाठकों के सामने एक ऐसा मन्त्र उपस्थित करते हैं, जिसका अर्थ भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न किया है। स्मरण रखिए, अर्थ भेद और अर्थ विरोध में महान् अन्तर है।

अस्तु ऋग्वेद ४। ५८। ३

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।

१—व्याकरण के सूर्य्य महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी के लोकोत्तर व्याख्याता परम प्रमाण पदवाक्य प्रमाण पारावारीण महर्षि पतञ्जलि जी महाभाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

चत्वारि शृंगाणि चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत् ? रौतिः शब्द-कर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेशइति—महान्देवः शब्दः, मर्त्या मरणधर्माणो-मनुष्याः, तानाविवेश।

(महा० १ अ० १ आ०)

भाषार्थ—(चत्वारि शृङ्गाणि) चार पद अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात। (त्रयो अस्य पादाः) तीन काल अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्त्तमान। (द्वे शीर्षे) दो शब्द स्वरूप एक नित्य दूसरा कार्य्य। (सप्त हस्तासो अस्य) सात विभक्तियां (त्रिधा बद्धः) तीन स्थानों में बंधा हुआ, अर्थात् कण्ठ, छाती और सिर में। (वृषभः) वर्षण के कारण वृषभ कहलाता है। अर्थात् वर्षण कर्त्ता (रोरवीति) शब्द = ध्वनि आवाज़ करता है। यह अर्थ कहां से ? रू धातु शब्दार्थक है (महो देवो मर्त्यां आविवेश) महान् देव = शब्द, मरण धर्म्मा मनुष्यों में आविष्ट हुआ।

तात्पर्य वैयाकरणों के मत से इस मन्त्र का अर्थ शब्द परक है!

२—नाट्याचार्य भरत मुनि जी भरतनाट्य शास्त्र में इस प्रकार व्याख्यान करते हैं–

"सप्त स्वराः, त्रीस्थानानि (कण्ठ हृदय-मूर्धानः), चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलंकाराः, षडङ्गानि।"

अर्थात् सात स्वर, तीन स्थान (शब्दोत्पत्ति के कण्ठ, हृदय और मूर्धा ये तीन स्थान हैं), चार वर्ण दो प्रकार का काकु, छः अलंकार और छः अंग हैं।

वेदार्थ के परम ज्ञानी मुनि यास्काचार्य जी अपने निरुक्त ग्रन्थ में इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार दर्शाते हैं–

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयो अस्य पादाः इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयो दयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धः त्रेधा बद्धो मन्त्र ब्राह्मण कल्पैः। वृषभो रोरवीति रोरवमाणस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेदमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान्देवो यद्यज्ञोः। मर्त्यां आविवेशेति एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय॥

(निरुक्त १३ अ० । ७ ख)

भावार्थ—(चत्वारि शृङ्गा) ये वेद कहे गए हैं, (भयो अस्य पादाः) तीन सवन=१ प्रातः सवन, २ माध्यन्दिन सवन और ३ तृतीय सवन (द्वे शीर्षे) प्रायणीय और उदयनीय दो सिर हैं (त्रिधा बद्धः) मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प [श्रौत्रसूत्र तथा गृह्यसूत्र] से बंधा है। (वृषभो रोरवीति) शब्दकारी यज्ञ के सवनों में ऋचाओं से आशंसन करते हैं, यजुर्मन्त्रों से यजन करते हैं और साममन्त्रों से स्तुति करते हैं। (महो देवः) यज्ञ ही महान् देव है। (मर्त्यान् आविवेश) यजन के लिए मनुष्यों में यह यज्ञ आविष्ट हुआ है।

ऊपर दिए अर्थों पर दृष्टि डालिए, तो एक अर्थ शब्द परक है, दूसरा नाट्य शास्त्र संबन्धी है और तीसरा यज्ञ विषयक है। अब आपका मध्य कालीन महाविद्वानों के अर्थों की बानगी दिखाते हैं। जब यह समस्त भारत बौद्ध और जैन मत प्रवाह में पड़कर चारों ओर नास्तिकता में प्लावित हो रहा था, उस समय जिस महा पुरुष ने वैदिक धर्म की नौका को सम्हाला था, उस अनुपम प्रतिभा संपन्न सत्पुरुष कुमारिल-भट्टाचार्य से कौन संस्कृतज्ञ, कौन वैदिक धर्मी अपरिचित हो सकता है। उस महा पुरुष ने शबरस्वामिकृत मीमांसा दर्शन भाष्य पर वार्तिक रचे हैं। पहले अध्याय के प्रथम पाद पर की वार्तिक का नाम 'श्लोक वार्त्तिक' यह सारा ग्रन्थ श्लोकों में है। प्रथमाध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय के अन्त तक के वार्तिक ग्रन्थ का नाम 'तन्त्र वार्त्तिक' है, और

शेषभाग-४थ से १२ श अध्याय तक के वार्तिक का नाम टुप्टीका है। वे स्वनाम-धन्य पण्डिताग्रगण्य श्री कुमारिल जी अपने तन्त्र वार्त्तिक ग्रन्थ में प्रसंग से इस मन्त्र की निम्नलिखित व्याख्या करते हैं—

'चत्वारि शृङ्गेति' रूपकद्वारेण याग-स्तुतिः कर्म काले उत्साहं करोति। हौत्रे-त्वयं विषुवति होतु राज्ये विनियुक्तः। तस्य चाग्नेयत्वादहश्चादित्यदैवतत्वसंस्त वादा-दित्यरूपेणाग्निस्तुतिरूपवर्ण्यते। तत्र चत्वारि शृङ्गेति दिवसयामानां ग्रहणम्। त्रयो अस्य पादा इति शीतोष्णवर्षाकालाः, द्वे शीर्षे इत्ययनाभिप्रायम्। सप्त हस्तास इत्यश्वस्तुतिः। त्रिधा बद्ध इति सवना-भिप्रायम्। वृषभ इति वृष्टिहेतुत्वेन स्तुतिः। रोरवीति स्तनयित्नुना सर्वलोक प्रसिद्धे-र्महान्देवो मर्त्यानाविवेशेत्युत्साह करणे-नोपकारेण सर्व पुरुष हृदया नुप्रवेशात्॥ (तन्त्र वार्त्तिक १।२।३८)

भावार्थ—'चत्वारि शृङ्गा' इस मन्त्र में रूपकालङ्कार द्वारा की गई यज्ञस्तुति अनुष्ठान समय में उत्साह बढ़ाती है। हौत्रकाण्ड में विषुवान् यज्ञ में होता के आज्यस्तोत्र में इसका विनियोग किया गया है। अग्नि देवताक है, और विसुवान् के आदित्य देवताक होने से आदित्य रूप से अग्नि स्तुति का वर्णन है—(चत्वारि शृङ्गा) दिन के चार पहर (त्रयो अस्य पा...) शीत, उष्ण और वर्षा काल, (द्वे शीर्षे) दो अयन=दक्षिणायन और उत्तरायन (सप्तहस्तासः) सूर्य्य के सात अश्व=किरणें (त्रिधाबद्धः) तीन सवन=प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन (वृषभः) वृष्टिकारक (रोरवीति) बादल के द्वारा गर्जना करता है। (महो देवः) सकल संसार में प्रसिद्ध मान् देव (मर्त्यान् आविवेश) उत्साह करण रूप उपकार के द्वारा सब के हृदय में प्रवेश करता है।

है यह भी यज्ञ परक व्याख्या, किन्तु आदित्य को द्वार बना कर। अर्थात् निरुक्तकार के पथ का पथिक होकर उस व्याख्या को इन्होंने परिष्कृत सा किया है।

कुमारिल महाराज ने जिस मीमांसा-भाष्य की व्याख्या की है, उस भाष्य के प्रणेता ख्यातनामा श्रीशबर स्वामी जी ने भी इस मन्त्र की व्याख्या की है, वे मीमांसा दर्शन के १.२.३८ सूत्र के भाष्य में इस मन्त्र पर इस प्रकार लिखते हैं।

चत्वारि शृङ्गेति असदभिधाने गौणः शब्दः, गौणी कल्पना प्रमाणवत्वात। उच्चारणादष्टम प्रमाणम्। चतस्रो होत्राः शृङ्गावीवास्य, त्रयो अस्य पाद इति सर्व-नाभिप्रायम्। द्वे शीर्षे इति पत्नी यजमानौ। सप्त हस्तास इति छन्दांस्यभिप्रेत्य। त्रिधा बद्ध इति त्रिभिर्वेदैर्बद्धः? वृषभः कामान् वर्षतीति रोरवीति शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यानाविवेशेति मनुष्याधिकाराभिप्रायम्॥

भावार्थः—चारसींग वाली वस्तु के मिलने से यह शब्द मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु गौणी वृत्ति से, गौणी वृत्ति भी प्रमाण होती है। (चत्वारि शृङ्गा) चार होत्राएं (त्रयो अस्य पादा) तीन सवन (द्वे शीर्षे) पत्नी और यजमान (सप्त हस्तासः) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती सात छन्द (त्रिधा बद्धः) यज्ञोपयोगी ऋग्यजुस्साम वेद (वृषभः) कामना का पूरा करने वाला (रोरवीति) शब्द करता है (महो देवो मर्त्यान् आविवेश) महान् देव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ, अर्थात् यज्ञानुष्ठान का अधिकार मनुष्यों को है।

यह व्याख्या भी यज्ञविषयिनी ही है। इस युग के मीमांसक यज्ञ से इधर उधर जा भी न सकते थे। स्त्री को वेद यज्ञादि का अधिकार न देने वाले महानुभाव 'द्वे शीर्षे' की व्याख्या में 'पत्नीयजमानौ' पद पर दृष्टि पात करें।

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है। यजुर्वेद के व्याख्याकार उव्वट इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं

"—यस्यास्य चत्वारि शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्व्याख्यानि, यस्य चास्य त्रयः पादाः ऋग्यजुस्सामलक्षणाः, यस्य चास्य द्वे शीर्षे हविर्धान प्रवर्ग्याख्ये, यस्य चास्य सप्त हस्तासः सप्त होतारो हस्ता इव व्याप्रियन्ते, यद्वा सप्तछन्दांसि हस्तां इव। यश्च त्रिधा त्रिप्रकारं संबद्धः प्रातस्सवनमाध्यन्दिन सवन तृतीय सवनैः, वृषभो वर्षिता, रोरवीति 'रु शब्दे', अत्यर्थं शब्दं करोति, सोयं महोदेवः महान् देवः हिरण्यगर्भस्तम्बपर्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यः, ज्ञानकर्म समुच्चय कारिणां शरीरभूत., मर्त्यान् मनुष्यान् आविशति।

शब्द ग्रामो वा अभिधेयः चत्वारि शृङ्गाणि नामाख्यातोपसर्जननिपाताः, त्रयो अस्य पादाः प्रथम पुरुष मध्यम पुरुषोत्तम पुरुषाः, द्वे शीर्षे नामाख्याते, सप्त हस्तासः सप्त विभक्तयः, त्रिधाबद्धः एक वचन द्वि वचन बहुवचनैः। वृषभ इवामर्षा दन्यानि शास्त्राण्यधः पदी कृत्य रोरवीति, य उक्तगुणः सोयं महान् देवो मर्त्यानाविशति प्रतिपादयति ॥ यजुः १७।९२।

भावार्थः—(चत्वारिशृङ्ग) ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु (त्रयो अस्य पादाः ऋग्यजुस्साम (द्वे शीर्षे) हविर्धान और प्रवर्ग्य (सप्त हस्तासः) सात ऋत्विज् अथवा सात छन्द (त्रिधा बद्धा) प्रातस्सवन, मध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन (वृषभः) वर्षिता (रोरवीति) बहुत शब्द करता है (महो देवः, हिरण्यगर्भ से तिनके पर्यन्त का जीवनाधार, ज्ञान कर्म समुच्चय कारियों का शरीर [मेरे विचार में यहाँ 'शरीरि-

भूतः' पाठ हो तो ठीक है, उससे 'आत्मा' अर्थ हो सकेगा, जो यहाँ संगत प्रतीत होता है] (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

अथवा इस मन्त्र का अर्थ शब्द समूह है—

(चत्वारि शृङ्गा) नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात (त्रयो अस्य पादाः) प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष (द्वे शीर्षे) नाम और आख्यात (सप्त हस्तासः) सात विभक्तियाँ (त्रिधा बद्धः) एक वचन, द्वि वचन, और बहु वचन (वृषभः रोरवीति) बैल की भांति असहिष्णु होने से दूसरे शास्त्रों को पैर तले करके गरजता है। यह उक्त गुण (महोदेवः) महान् देव (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों का प्रतिपादन करता है इन्होंने दो व्याख्याएं की हैं, पहली यज्ञ परक, दूसरी शब्द परक। शब्द परक व्याख्या में नाम और आख्यात को चार शृङ्गों में गिन कर फिर इन्हें दो सिर भी इन्होंने बना दिया है। पता नहीं, यह कैसे संगत है? सिर और सींग एक कैसे हैं। ब्रह्मादि को सींग भी कहा है और फिर उन्हें सात हाथों में गिन डाला है श्रीमन्महीधर ने इन्हीं का अनुकरण किया है तो उनके किये अर्थ भी यहां दे देते हैं—

'यज्ञ पुरुषदेवत्य ऋषभो मन्त्रः। यो वृषभः कामानां वर्षिता" रोरवीति 'रु शब्दे' यङ्लुगन्तम्, अत्यर्थं शब्दं करोति····महोदेवः महति पूजयति मह्यते वा जनैरिति महो-महान् देवः ब्रह्मादि स्तम्बपर्य्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यो ज्ञानकर्म्मासमुच्चयकारिणं विदुषां शरीरभूतो मर्त्यानाविवेश आविशति मनुष्यान् व्याप्य तिष्ठति। यस्य वृषभस्य यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गा शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्यु लक्षणानि। त्रयः पादाः ऋग्यजुस्सामरूपाः। द्वे शीर्षे शिरसी हविर्धानप्रवर्ग्याख्ये। 'शिर एवास्य हविर्धानं ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इतिश्रुतेः। अस्य वृषभस्य सप्त हस्तासः सप्त होतारो हस्ता, हस्ता इव व्याप्रियन्ते, सप्त छन्दांसि वा हस्ताः। यश्च त्रिधा त्रिप्रकारै बद्धः प्रातः सवनमाध्यन्दिन सवनतृतीय सवनैर्बद्धः। यद्वा चत्वारो वेदाः शृङ्गाणि, त्रयः पादाः सवनानि, द्वे शीर्षे प्रायणी योदयनीये· सप्त हस्तासः छन्दांसि, त्रिधा बद्धः मन्त्र-ब्राह्मणकल्पैर्बद्धः।

शब्दग्रामो वा व्याख्येयः—चत्वारि शृङ्गाणि नामाख्यातोपसर्ग निपाताः, त्रयः पादाः प्रथमपुरुषमध्यमपुरुषोत्तमपुरुषाः त्रयः काला वा; द्वे शीर्षे कार्य्यताव्यङ्क्ते, सप्त हस्ताः विभक्तिरूपा., त्रिधाबद्धः एकवचनद्विवचनबहुवचनैर्बद्धः वृषभ इवायमन्यशास्त्राणि अधः कृत्व रोरवति, सोऽयं महान् देवो मर्त्यानाविवेश आविशति प्रतिपादयति। मनुष्येष्विति मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येतिन्यायात् ।य१७।९१।

अर्थ देने की कोई आवश्यकता नहीं। एकाध शब्द की व्युत्पत्ति तथा एक प्रमाण के अतिरिक्त यह प्रायः उव्वट जी की शब्दशः नकल ही है। हां यज्ञ परक व्याख्या में उव्वट का मत देकर फिर निरुक्तानुसार व्याख्या कर दी है। शब्द परक व्याख्या में 'द्वे शीर्षे' का अर्थ महाभाष्यकार के अनुसार दिया है। अन्यत्र उव्वट के समान है। इन्होंने स्वयं अपनी व्याख्या के आरम्भ में इस बात को स्वीकार किया है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं
भाष्यं विलोक्यौव्वटमाधवीयम् ।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं
परोपकाराय निजेक्षणाय ॥ १ ॥

श्री महीधर जी ने यजुर्वेद सर्वानुक्रम-सूत्र के अनुसार इस मन्त्र का नाम 'ऋषभ मन्त्र' कहा है।

श्री पण्डित ज्वालाप्रसाद जी महीधर पण्डित के अनुगामी है, उन्होंने उव्वट महीधर के अर्थों को भाषा का रूप दे दिया है। हां 'वेद' परक अर्थ करते हुए उनसे कुछ भेद किया है। वे लिखते हैं— 'इस वेद रूप यज्ञ पुरुष के धर्म्म अर्थ काम मोक्ष-रूप ही चार शृङ्ग हैं। कर्म उपासना और ज्ञान तीन चरण हैं। व्यष्टिसमष्टिरूप दो शिर, स्वर वा छन्द सात हाथ हैं। इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान वा तीन गुण से युक्त चार पदार्थ की वर्षा करने वाला वेद अत्यन्त शब्द कर रहा है। हे मनुष्यो! जागो, परमात्मा का भजन करने को यह शरीर है। इस परमात्मा ने जीव रूप से इस शरीर में प्रवेश किया है। य० १७।९१।

ऋग्वेद भाष्य (४-५८-३) में श्री सायणाचार्य जी ने इस प्रकार लिखा है।

"यद्यपि सूक्तस्यास्याग्निसूर्य्यादिपंचदेवताकत्वात् पंचधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तनीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्य्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते। अस्य यज्ञात्मकस्याग्नेश्चत्वारि शृंगा चत्वारो वेदाः शृगस्थानीयाः। यद्यप्यापस्तम्बेन 'यज्ञं व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते।' (परिभाषा १।३) इत्युक्तं, तथाथर्वणस्येतरानेयत्वैवैकाग्निसाध्यानां कृत्स्नकर्मणामभिधायकत्वात्तदपेक्षया चत्वारि शृंगेत्युक्तं, त्रयो अस्य पादाः सवनानि त्रीण्यस्य पादाः, प्रवृत्ति साधनत्वात्पादा इत्युच्यन्ते। द्वे शीर्षे ब्रह्मौदनं प्रवर्ग्यश्च, इष्टि सोमप्रधान्येनेदमुक्तम्। सप्त हस्तासः सप्तच्छन्दांसि, हस्ताम अनुष्ठानस्य मुख्यसाधनं, छन्दांस्यपि देवताप्रीणतस्य मुख्यसाधनमिति हस्तव्यवहारः त्रिधाबद्धो मन्त्रकल्पब्राह्मणैस्त्रिप्रकारं बद्धः, बन्धनस्य तन्निष्पाद्यत्वम्। वृषभः फलानां वर्षिता। रोरवीति भृशं शब्दायते, ऋग्यजुस्सामोक्थैः शस्त्रयागस्तुतिरूपैर्होत्राद्युत्पादितैर्ध्वनिभिरसौ रौति। एवं महो देवो मर्त्यानाविवेश, मर्त्यैर्यजमानैर्निष्पाद्यत्वात्प्रवेश उपचर्यते।

अत्र यास्कश्चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत-उक्ताः निरु १३ । ७इत्यादिना निरवोचत्, तदत्रानुसन्धेयम् ।

अथ सूर्यपक्षे—अस्यादित्यस्य चत्वारि शृंगाणि चतस्रो दिशः, एताः श्रयणार्थत्वाच्छृङ्गाणीत्युपचर्य्यन्ते । त्रयो अस्य पादाः त्रयो वेदाः पादस्थानीयाः भवन्ति गमनसाधनत्वात्, तथाहि 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयत' इत्युपक्रम्य 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः, तै० ब्रा० ३-१२-११

इति हि वेदत्रयेण गतिराम्नाता । द्वे शीर्षे अहश्चरात्रिश्च शिरसी । सप्त हस्तासो अस्य सप्त रश्मयः, षड्विलक्षणाऋतवः एकः साधारणः इति वा सप्त हस्ता भवन्ति । त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु क्षित्यदिष्वग्न्या द्यात्मकत्वेन संबद्धः, ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्यैस्त्रिभिस्त्रोधा बद्धो वा । वृषभो वर्षिता, रोरवीति शब्दं करोति वृष्ट्यादि द्वारा । स महो महान् देवो मर्त्यानाविवेश तन्नियन्तृतया, 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च' ऋ० १ । ११५ । १ इति हि श्रुतं । एवं त्वबादिपक्षेपि योज्यं । शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि शृंगेति चत्वारि शृंगेति चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेत्यादिना व्याचक्षते । अपरे त्वपरथा, तत्सर्वमन्त्र द्रष्टव्यम् ।

भावार्थ—सायण कहते हैं—यद्यपि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य्य आदि पांच देवता हैं, और अतएव इस मन्त्र की पांच प्रकार की व्याख्या होनी चाहिए। तथापि निरुक्त आदि की शैली यज्ञात्मक अग्नि और सूर्य्य के प्रकाशक होने से तत्परक व्याख्या करते हैं। इस यज्ञात्मक अग्नि के (चत्वारि शृंगा) चार वेद शृंग स्थानीय हैं। (त्रयो अस्य पादा) तीन सवन इत्यादि।

इस अर्थ में सायण ने निरुक्त का अनुसरण करते हुए कहीं कहीं अपनी ऊहा की है।

सूर्य्यपक्ष में—इस आदित्य के (चत्वारि शृंगा) चार दिशाएं स्थानीय हैं (त्रयो अस्य पादाः) तीन वेद (द्वे शीर्षे) दिन और रात (सप्त हस्तासः) सात किरणें अथवा सात ऋतुएं। (त्रिधा बद्धः) प्रथिव्यादि में अग्नि आदि के रूप से संबद्ध अथवा गरमी वर्षा और शीत काल से संबद्ध। (वृषभः) वर्षा करने वाला (रोरवीति) वृष्टयादि के द्वारा शब्द करता है। यह (महान् देवः मत्याना-विवेश) नियामक होकर मर्त्यों में प्रकाश करता है। इसी प्रकार जलादि के पक्ष में लगाना चाहिए। वैयाकरण शब्द परक व्याख्या करते हैं। दूसरे किसी अन्य प्रकार से, वह सब यहां समझ लेना।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने यजुर्वेद में निरुक्तकार तथा व्याकरण भाष्यकार के अर्थों का प्रमाण देकर उनके

अनुसार अर्थ किया है। ऋग्वेद में उन्होंने बिलक्षण अर्थ किया है, उसे हम यहां उद्धृत कर देते हैं।

'अथेश्वरविज्ञानमाह'

(चत्वारि) चत्वारो वेदाः (श्रृंगा) श्रृंगाणीव (त्रयः) कर्मोपासनाज्ञानानि (अस्य) धर्म्म व्यवहारस्य (पादाः) पत्तव्याः (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे (शीर्षे) शिरसी इव (सप्त) पंच ज्ञानेन्द्रियाणि वा कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणमात्मा च (हस्तासः) हस्तवद्वर्त्तमानाः (अस्य) धर्म्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (त्रिधा) श्रद्धा पुरुषार्थ योगाभ्यासैः (बद्धः) (वृषभः) सुखानां वर्षणात्। (रोरवीति) भृशमुपदिशति (महः) महनीयः पूजनीयः (देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता (मर्त्यान्) मरणधर्मान्मनुष्यादीन् (आ) समन्तात् (विवेश) व्याप्नोति।

अन्वयः—हे मनुष्याः। यो महो देवो मर्त्यानाविवेश यो वृषभस्त्रिधा बद्धो रोरवीति अस्य परमात्मनो बोधस्य द्वे शीर्षे त्रयः पादाः चत्वारि श्रृंगा युष्माभिर्वेदितव्यानान्यस्य च सप्त हस्तासः, त्रिधा बद्धो व्यवहारो वेदितव्यः।

भावार्थ—हे मनुष्या! अस्मिन परमेश्वरव्याप्ते जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदाः, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः; विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाः धर्म्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि श्रृंगाणि; त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्मोपासनाज्ञानानि मनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः; द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्य्यौ शब्दात्मानौ उदगयनप्रायणौ अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पंचकर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्ताः, त्रिषु मंत्रब्राह्मणकल्पेषु उरसि कण्ठे शिरसि श्रवण मनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्यसुकर्म्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो सत्कर्त्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोस्तीति विजानन्तु।

भाषा में भावार्थ—

चत्वारि श्रृंगा—चार वेद; नाम आख्यात उपसर्ग निपात, विश्वतैजस प्राज्ञतुरीय, धर्म्म अर्थ काम मोक्ष इत्यादि—

त्रयः पादाः—तीन सवन, तीन काल, कर्म उपासना ज्ञान, मन वाणी शरीर, इत्यादि—

द्वे शीर्षे—व्यवहार परमार्थ, नित्य कार्य्य शब्द, उदगयनप्रायणीय, अध्यापक उपदेशक इत्यादि—

सप्त हस्तासः—गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, पंक्ति वृहती त्रिष्टुप् जगती छन्द, सात विभक्तियां, सात प्राण, पांचकर्मेन्द्रिय वा ज्ञानेन्द्रिय, शरीर आत्मा इत्यादि—

त्रिधा बद्धः—मन्त्रब्राह्मणकल्प, छाती कण्ठ सिर, श्रवण मनननिदिध्यासन, ब्रह्मचर्य्य सुकर्म्मसुविचार इत्यादि।

इस पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है; कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने यज्ञ और शब्द के अतिरिक्त ईश्वर बोध तथा लोक व्यवहार-परक अर्थ भी स्वीकार किए हैं। इतने अर्थों का व्याकारण है। इसका उत्तर भी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से मिलता है। यजुर्वेद भाष्य इस मन्त्र की यास्काचार्य तथा मुनिवर पतंजलि के अनुसार व्याख्या करके भावार्थ में 'अत्रोभयोस्तया रूपक: श्लेषालंकारश्च' कहा है। अर्थात् अर्थों की विविधता में रूपक और श्लेषालंकार हेतु हैं।

वेदानन्दतीर्थ के मत से ऋग्वेदीय मन्त्र के पांच अर्थ संभव हैं। उन स... का दिग्दर्शन फिर कभी कराया जायगा। यजुर्वेद का यज्ञ परक तथा आनुषंगिक-तथा शब्द विषयक होना चाहिये। अर्थ की दृष्टि से निरुक्तकार याजुषमन्त्र की व्याख्या करते हुये प्रतीत होते हैं। वास्तव रहस्य तो सुधीजन जानें।

इस सारे लेख का तात्पर्य इतना है, कि वेद काव्य है। काव्य में अलंकार भी हुआ करते हैं। अतः उनके कारण जैसे लौकिक काव्यों में अर्थ भेद होता है, वैसे ही यहां वेद में भी होता ही है। हां, प्रकरणादि का विचार अवश्य करना चाहिए।

———

शङ्का समाधान

[प्रेषक—कुँवर बहादुर विद्यार्थी, प्रतापगढ़]

[१]

शङ्का

उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण करने का ध्येय निम्नोक्त कहा जाता है।

यज्ञोपवीत (अ) धारण-कर्त्ता को गुरु-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण का स्मरण कराता है। (ब) धारणकर्त्ता की तीन पवित्र प्रतिज्ञाओं का परिचायक है। (स) अधिकृत वर्णवालों को अन्य वर्ण वालों से अलग करता है।

(अ) यज्ञोपवीत को तीन ऋणों को स्मरण कराने के लिये धारण करना अपनी आत्मा की असमर्थता और उसमें अविश्वास प्रगट करना है—अर्थात् इससे यह प्रगट होता है कि मेरी आत्मा अपने पुनीत ऋणों को स्मरण रखने में असमर्थ है इसलिये उसको इन ऋणों का स्मरण कराने के निमित्त यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। अतः आत्मा में इस प्रकार अविश्वास प्रगट करना घोर पाप है अतः इस मात्र निमित्त के लिये यज्ञोपवीत न धारण करना चाहिये। (ब) यह उपरोक्त का पुनर्कथन मात्र है। (स) वर्ण विभाग कर्त्तव्य से होता है अतएव किसी प्रकार का अन्य दिखावटी चिह्न नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि यज्ञोपवीत धारण करने का उपरोक्त के अनन्तर भी कोई विशेष तात्पर्य होता हो तो उन्हें भी प्रगट करने की कृपा कीजियेगा।

समाधान

इसमें सन्देह ही क्या है कि आत्मा ऋणों के स्मरण करने में असमर्थ है। यदि सभी लोग अपने ऋणों को याद रख सकते तो संसार में पाप ही क्यों होते। सभी वाह्य चिह्न तो बनावटी या व्यर्थ नहीं होते। इस विषय में हमारा यज्ञोप-सम्बन्धी लेख पढ़िये जो जनवरी ३२ के 'वेदोदय' में निकला है।

[२]

[प्रेषक श्री नित्यानन्द जी, सरायतरीन (मुरादाबाद)]

पूज्य श्री नारायण स्वामी कृत "मृत्यु और परलोक" प्रथम संस्करण ४,५ परिच्छेद के पढ़ने से विदित होता है—

"(१) गर्भ का दुख भोग, सकाम कर्म जन्य वासना का परिणाम है।

(पृ० १०१)

(२) अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के लिये वासना की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। पृ० १०८।"

अब प्रश्न यह है कि अमैथुनी सृष्टि में तो मध्य सृष्टि में भी सारे स्वेदज और उद्भिज जन्म लेते हैं और आदि सृष्टि में तो स्वेदज और उद्भिज के अतिरिक्त सब जरायुज और अण्डज भी इसी प्रकार जन्मते हैं कि उनको माता के गर्भ का कष्ट नहीं सहन करना पड़ता, तो क्या इन सब के विषय में यही समझना चाहिये कि पूर्व जन्म में इनकी वासनायें नष्ट हो चुकी थीं। और मोक्ष प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई अवस्था वासनायें नष्ट होने की नहीं हो सकती। और यह भी समझना सिद्धान्त के विरुद्ध है कि सब के सब आदि सृष्टि में जन्मे-प्राणी, और सारे के सारे सृष्टि के मध्य कालीन जन्मे स्वेदज और उद्भिज, मुक्ति की अवस्था से लौट कर आये हैं। मुक्ति की अवस्था से लौटे जीव तो ऋषि, देव तथा वेदज्ञ ही हो सकते हैं।

समाधान

यहां केवल उन्हीं ऋषियों से तात्पर्य है जो मुक्ति के पश्चात् लौट कर सृष्टि के आरम्भ में शरीर धारण करते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के लिये वासना की "आव-श्यकता" नहीं है। अर्थात् विना वासना के भी अमैथुनी सृष्टि हो सकती है और वासना के साथ भी। पहली दशा ऋषि मुनियों की है। दूसरी अन्य जीवों की। 'आवश्यक' शब्द के अर्थ पर ठीक विचार करने से आक्षेप दूर हो जाता है।

[३]

शङ्का

१—किसी रोग के निवारणार्थ मांस का सेवन करना चाहिये अथवा नहीं।

२—यदि नहीं, तो फिर चरक आदि महर्षियों ने स्व प्रणीत संहिताओं में मांस या माँस रस के सेवन करने की आज्ञा क्यों दी है ? क्या वे महर्षि नहीं थे।

यदि थे तो उनकी आज्ञा माननीय क्यों नहीं ? यदि कहिये कि उनकी आज्ञा वेद विरुद्ध होने के कारण माननीय नहीं है, तो क्या वेद के विरुद्ध आज्ञा देने वाले भी यथार्थ में ऋषि अथवा महर्षि कहलाने के योग्य हैं ? पर श्री स्वामी जी महाराज उनको ऋषि मानते हैं जैसा कि सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में स्वयं लिखते हैं, "इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक सुश्रुत आदि ऋषि मुनि प्रणीत वैद्यक शास्त्र है।" तो फिर स्वामी जी ने मांस खाने का सर्वथा निषेध क्यों किया ?

समाधान

(१) मांस बिना हिंसा के प्राप्त नहीं होता। हिंसा पाप है। इसलिये मांस किसी भी अवस्था में खाना ठीक नहीं। यदि रोग निवारणार्थ मांस भक्षण को प्रथा चल पड़ी तो लोग इस बहाने से ही पशु-बध किया करेंगे। यदि कोई चाहता है कि एक पाप से बचने के लिये दूसरा पाप करे तो वह कर सकता है परन्तु ऐसा करने से वह कर्म पुण्य नहीं कहलाया जा सकता।

(२) चरक आदि के ग्रन्थों में संभव है कि भिन्न भिन्न पदार्थों के गुणों का ही वर्णन हो। वैद्यक ग्रन्थ और धर्म शास्त्र में भेद हो सकता है। यह कहना कठिन है कि ऋषि महर्षि भूल नहीं कर सकते। या उनके कथन को वेदों के समान स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिये। यदि ऐसा होगा तो परतः प्रमाण और स्वतः प्रमाण का भेद ही मिट जायगा। परतः प्रमाण को स्वतः प्रमाण के आश्रित इसी लिये बताया है कि उसमें भूल की संभावना है।

स्वर्गीय स्वामी निर्भयानन्द जी

[श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी०]

जिसने एक बार भी स्वामी निर्भयानन्द के दर्शन किये वह बिना प्रभावित हुये न रहा। उनके व्यक्तित्व में तेज था जिसकी छाप प्रत्येक मनुष्य पर लग जाती थी। लखनऊ नगर का साधारण से साधारण पुरुष उनसे परिचित है। उनका नाम जिस गुण का द्योतक है वह उनमें अच्छी तरह समावेश कर गया था। चाहे बड़ी से बड़ी आपत्ति क्यों न आ जावें वे घबराते न थे। उनके मुख पर दुःख की रेखा तक न थी। वह बड़ी निर्भयता से उसका सामना करते थे। ईश्वर पर उनका अटल विश्वास था और वही उनको निर्भय बनाने में सहायक था। श्रीमद्यानन्द अनाथालय लखनऊ उनकी कार्य कुशलता का परिचय दिलाता है।

आरम्भिक जीवन

सन्यास लेने से पूर्व आपका नाम बाबू बनारसीलाल था। आपके पिता मुंशी शङ्करलाल जी महाराज बनारस के यहाँ नौकर थे। पर किन्हीं कारणों से आपका मन नौकरी में न लगा। तो अपनी ससुराल लखनऊ में आकर रहने लगे। यहीं पर वे एक प्रकार से बस से गये। ४ नवम्बर १८६५ को बनारस में उत्पन्न होने से कारण माता पिता ने इनका नाम बनारसीलाल जी रक्खा।

आपसे बड़े तीन और भाई थे। लखनऊ में आकर आप अपनी ननसाल में रहने लगे। ननसाल में आप अवश्य ही बड़े लाड़ प्यार से रक्खे गये होंगे। उनके आगामी जीवन से इसका बहुत कुछ पता चल जायगा।

नटखट जीवन

बचपन में बनारसीलाल जी बड़े नटखट थे। वास्तव में यह देखा जाता है कि जो लड़के बचपन में बड़े सीधे होते हैं वे बड़ी अवस्था में कभी भी निर्भय नहीं हो सकते। हर काम के करने के पहले

उसका आगा पीछा बहुत सोचा करते हैं। बनारसीलाल बचपन में बड़े खिलाड़ी थे। पाठशाला भेजे गये, वहां थोड़ा बहुत पढ़ गये पर उच्च शिक्षा उनके भाग्य में न थी। उनकी मित्र मंडली बड़ी विचित्र थी। उनके साथ तो केवल खेल कूद में ही समय बीतता था। खेल भी बड़े ही विचित्र थे। उनमें से एक यहां दिया जाता है। एक दिन मित्रों को एक नया खेल सूझा। एक लड़के को चारपाई पर लिटा दिया और उसके कफ़न के लिये चन्दा होने लगा। एक रईस के पास गये और कहा कि यह लावारिस लाश है इसके कफन को कुछ मिल जाय। इस तरह चन्दा इकट्ठा हुआ। और बाद में सब ने मिल कर दावत उड़ाई।

इस समय की एक और घटना अत्यन्त मनोरञ्जक है। बा० बनारसीलाल जी घर के धनी न थे। प्रश्न यह हुआ कि किस प्रकार निर्वाह हो। बा० बनारसीलाल को एक तरकीब सूझ गई। हिन्दू समाज में अन्ध विश्वास बहुत है और न जाने कितनों की रोज़ी इसी से चलती है। बनारसीलाल जी ने एक जुगनू पकड़ कर डिबिया में बन्द कर दिया और एक चबूतरे में गाड़ दिया। उस पर एक कब्र बना दीगई और इसका नाम जुगनूशाह का मज़ार प्रसिद्ध कर दिया। बा० बनारसीलालजी इसके मुजाविर बन बैठे। एक भोली भाली स्त्री का बच्चा बीमार पड़ा। वह जुगनूशाह की मजार का नाम सुन चुकी थी। दौड़ी आई और मानता मानी। संयोग से उसका बच्चा हो गया। अब क्या था? जुगनू शाह ने अपना महत्व सिद्ध कर दिया। जिस किसी ने यह बात सुनी वह भी दौड़ा आया। आप के नाते के भाई भी मरसिया पढ़ा करते थे।

बा० बनारसीलाल को इन सब में विश्वास तो था ही नहीं, इसको तो उन्होंने निर्वाह का एक मात्र साधन ही बना रखा था। एक खेल इससे भी अधिक मनोरञ्जक है। मशकगंज में बाबू जी रहा करते थे। यहां पर एक मित्र के यहां एक आदमी आया करता था। वह भूत-प्रेतों को उतारा करता था। बाबू साहब उसके पास पहुंचे और कहा "मेरे मुहल्ले में एक नीम का पेड़ है उस पर रात को रोज भूत आता है। कृपा करके उसको भगा दीजिये।" भूत प्रेत उतारने वाले ने आने का बचन दे दिया। बा० बनारसी लाल ने अपने में से एक मोटे ताजे आदमी को चुना और उसका मुंह काला रङ्ग दिया रात होने के पहले उसको पेड़ पर बैठा दिया। भूत उतारने वाले महाशय आये और देख कर बेहोश हो गये। उस दिन से वे मुहल्ले में न आये।

(क्रमशः)

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २ ब्राह्मण ५

(१)

अनुवाद

२१—अथैतां वाचं वदति। प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नीᳪ सन्नह्याज्येनोदेहीति सम्प्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेताऽपि नाद्रियेत स्वयमु ह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति।

२१—अब इस वाणी को कहता है :—"प्रोक्षणी को रख दो, समिधा और बर्ही को इसके पास रक्खो। चमसे को पोछ डालो, पत्नी को तैय्यार करो, घी को लाओ।" यह आदेश है चाहे इसको बोले चाहे न बोले। क्योंकि वह स्वयं जानता है कि यह कर्म करना है।

२२—अथोदञ्चᳪ स्फ्यं प्रहरति। अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्य स्तृणुते हैवैनेन।

२२—अब वह स्फ़्या को उत्तर की ओर फेंकता है। यदि इच्छा हो तो यह कह कर* मैं वज्र को अमुक तुझ पर फेंकता हूँ"। स्फ़्या रूपी बज्र ही उसको मारता है।

२३—अथ पाणीऽअवनेनिक्ते। यद्वचस्यै क्रूरमभूत्तद्वचस्याऽएतदहार्षीत्तस्मात् पाणीऽअवनेनिक्ते।

२३—अब दोनों हाथ [धो]ता है। इसमें जो क्रूर हो वह दूर हो जा[य]। इस लिये वह हाथ धोता है।

२४—स ये हाग्रऽईजिरे। ते ह स्मावमर्शं यजन्ते ते पापीयाᳪस आसुरथ ये नेजिरे ते श्रेयाᳪस आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयाᳪ सस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाᳪसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान्हविर्न जगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।

२४—जो पहले युगों में यज्ञ करते थे। वे पापी हो गये। जो यज्ञ नहीं करते थे वे पुण्यात्मा रहे। इस पर मनुष्यों में अश्रद्धा हो गई कि जो यज्ञ करते हैं वह पापी हो जाते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वह पुण्यात्मा रहते हैं। अब इससे देवों को हवि न पहुंची क्योंकि इस

* १ कात्यायन सूत्र में इस स्थान पर यजु० १।२८ के अन्तिम भागको पढ़ने का विधान है अर्थात् "द्विषतो बधोसि"। (तू शत्रु का मारने वाला है)।

........क दान से ही देवों की जीविका चलती है।

२४—तेह देवाः ऊचुः। बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्वऽइति ते होचुः किङ्काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयाꣳसस्तेभवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति।

२५—तब देवों ने बृहस्पति आङ्गिरस से कहा, "मनुष्यों में अश्रद्धा हो गई है। उनके लिये यज्ञ का विधान करो। इस पर बृहस्पति आङ्गिरस गया और कहने लगा, "तुम यज्ञ क्यों नहीं करते?" उन्होंने उत्तर दिया "हम यज्ञ क्यों करें। जो यज्ञ करते हैं वह पापी होते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वह पुण्यात्मा होते हैं।

२६—स होवाच। बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेव यज्ञो भवति यन्छृतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाꣳसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयाꣳसो भविष्यथेत्या कियत इत्या बर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणन्नपास्पदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यापि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत।

२६—बृहस्पति आङ्गिरस ने तब कहा, "हमने सुना है कि जो देवों के लिये पकाया जाता है वह यज्ञ होता है अर्थात् हवि और तैय्यार की हुई वेदि। तुमने उनको छू कर यज्ञ किया इसलिये पापी हो गये। अब बिना छुये यज्ञ करो तब पुण्यात्मा हो जाओगे"। उन्होंने पूछा, "कब तक?" उत्तर दिया, "कुशों (बर्ही) को फैलाने तक।" कुशों से ही यज्ञ शान्त होता है। इसलिये अगर कुशों के फैलाने से पहले कुछ गिर पड़े तो कुशों से ही उसको दूर कर दे। क्योंकि जब वे कुशों को इस पर फैला चुकते हैं तो उस पर पैरों से खड़े होते हैं। जो विद्वान् ऐसा जान कर बिना छुये यज्ञ करता है वह पुण्यात्मा होता है। इसलिये बिना छुये ही यज्ञ करे।

---

(२)

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

(१) वेदि पश्चिम को चौड़ी हो। बीच में तंग, फिर पूर्व की ओर चौड़ी। पूर्व और उत्तर की ओर ढालू हो। वेदी को गोबर से लीपना। प्रोक्षणी पात्र में जल रखना। चमसे को पोंछना।

---

(३)

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

(१) यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दं स्तस्माद्वेदिर्नाम। (१।२।५।१०)

चूंकि (औषधियों की जड़ खोद कर) उन्होंने यहां विष्णु को पाया इसलिये इसका नाम वेदि हुआ। (विद् का अर्थ है प्राप्त करना)

(२) संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (१।२।५।१२)

संवत्सर (वर्ष) यज्ञ प्रजापति है।

(३) प्राची हि देवानां दिक्...... उदीची हि मनुष्याणां दिक्...... (दक्षिणा) वैदिक पितृणाम्...(१।२।५।१७)

पूर्व दिशा है देवों की, उत्तर मनुष्यों की, दक्षिण पितरों की।

(४) सङ्ग्रामो वै क्रूरं सङ्ग्रामेति क्रूरं क्रियते। (१।२।५।१९)

'क्रूर' का अर्थ है युद्ध। क्योंकि युद्ध में क्रूरता की जाती है।

काण्ड १—अध्याय ३ ब्राह्मण १

[१]

१—सवै स्रुचः सम्मार्ष्टि। तद्यत्स्रुचः सम्मार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्माद्यदा मनुष्याणां परिवेषण-मुपक्लृप्तं भवति।

(१) अब वह स्रुवो को मांजता है। स्रुवों को मांजने का कारण यह है कि देवों का जो चलन होता है वह मनुष्यों के चलन के अनुकूल होता है। इसलिये जैसे जब मनुष्यों में परोसने का समय होता है।

२—अथ पात्राणि निर्णेनिजति। वैतैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येवं वाऽएष देवानां यज्ञो भवति यच्छ्रुतानि हवींषि लक्ष्मा वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत्स्रुचः।

(२) तो बर्तन मांजे जाते हैं। और बर्तन मांज कर उनमें खाना पड़ोसते हैं। इसी प्रकार देवताओं के यज्ञ का चलन है। अर्थात् हवियों का पकाना, वेदि का बनाना, उनके बर्तनों तथा स्रुवों (को मांजना)।

३—स यत्सम्मार्ष्टि। निर्णेनेक्त्येवैनाएतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यऽआपो हि कुशाब्रह्मयजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवम्वेतन्नाना भवति।

(३) वह जब मांजता है तो मानों शुद्ध करता है। यह सोचकर कि इन मांजे या शुद्ध किये हुये पात्रों को बर्तूंगा देवताओं के लिये दो चीजों से मांजता है और मनुष्यों के लिये एक से ही। देवताओं के लिये पानी से और ब्रह्म (वेद मंत्रों) से। जल कुश है और ब्रह्म यजु है। मनुष्यों के लिये केवल एक से अर्थात् जल से। इस प्रकार यह रीति भेद हो जाता है।

४—अथ स्रुवमादत्ते। तं प्रतपति प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा।

(४) अब वह स्रुवों को लेता है और गर्म करता है, नीचे के मंत्रांशों में से एक को जप कर :—

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो "निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता, अरातयः। (यजु० १।२९)"

"झुलस गया राक्षस झुलस गये शत्रु"

"जल गया राक्षस, जल गये शत्रु।"

५—देवा है वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैताश्राष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति।

(५) जब देवों ने यज्ञ रचा तो असुर और राक्षसों के विघ्न से डर गये। इसलिये ऐसा करके वह यज्ञ के आरम्भ से ही दुरात्मा राक्षसों को दूर कर देता है।

६—स वाऽइत्यग्रै रन्तरतः सम्माष्टि। अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान्क्षिणुयादेवमेतदाह वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्माजर्मीति यज्ञियं त्वा यज्ञाय सम्माजर्मीत्येवैतदादैतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्माष्टि वाजिनीं त्वेति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणं।

(६) वह घास के अग्रभाग से उसे भीतर मांजता है यह पढ़कर।

अनिशितोऽसि सपत्नक्षित् (यजु० १।२९)

"तू तेज नहीं किन्तु शत्रुओं को मारने वाला है।"

वह यह इसलिये कहता है कि यजमान के शत्रुओं का निरन्तर नाश होता रहे। अब पढ़ता है :—

वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि। (यजु० १।२९)

"तुझ अन्न वाले को अन्न (यज्ञ) के प्रज्वलन के लिये मांजता हूं।"

अर्थात् तुझ यज्ञ वाले को यज्ञ के लिये मांजता हूँ। इसी प्रकार वह सब स्रुवों को मांजता है।

स्रुक् स्त्रीलिङ्ग है इसलिये स्रुक को मांजते समय (वाजिनं के स्थान में) "वाजिनी इत्यादि कह कर मांजता है। प्राशित्रहरण (लकड़ी की तश्तरी) को मौन होकर (बिना मंत्र पढ़े) मांजता है।

७—स वाऽइत्यग्रै रन्तरतः सम्मार्ष्टीति। मूलैर्बाह्यतऽइतीव वाऽअयं प्राण इतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्धात्ति तस्मादितीवेमानि लोमानीतीवेमानी।

(७) वह इसको भीतर (घास के) अग्रभाग से इस प्रकार* मांजता है। और बाहर जड़ से इस प्रकार*। क्योंकि इस प्रकार* प्राण चलता है और इस प्रकार* उदान। इस प्रकार वह यज्ञ के लिये प्राण और उदान को धारण करता है। (कुहनी के ऊपर के) लोग इस प्रकार होते हैं और (नीचे के) इस प्रकार।

* यहां 'प्रकार' दिया है अर्थात् भीतर माँजते समय अपनी ओर बर्तन की ओर और बाहर मांजते समय बर्तन की ओर से अपनी ओर।

Printed & Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.

भाग ५ जून, सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २७

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये ३।)
एक प्रति का ।)

सम्पादक
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०
श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

विषय-सूची

१—मृला सुक्षत्र मृलय—कविता—[श्रीयुत् हरिशरण जी "मराल" बी० ए०, एल० एल० बी०] ७३

२—सम्पादकीय—हमारे उपदेशक—श्री शूद्रों को मंत्रों का अधिकार ७५

३—वेदों की झाँकी ७९

४—भारतवर्षीय आर्य्य [श्री पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त-प्रान्त ८१

५—विधवा विवाह [श्री अयोध्या प्रसाद जी बी० ए० एल-एल० बी० ८५

६—जरथुश्त्रीधर्म [श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०, एफ० आई० सी० एस०, सम्पादक विज्ञान ८८

७—समालोचना—वैदिक विनय ९३

८—शङ्का समाधान ९४

९—ऊपर के फेर में—कहानी [श्री चिन्तामणि "मणि" १०७

१०—शतपथ-ब्राह्मण १११

वेदोदय के नियम

१—"वेदोदय"-प्रत्येक अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से २), वी० पी० से २।=), विदेश से २॥), नमूने का अङ्क।) के टिकट आने पर भेजा जाता है।

३—"वेदोदय" का वर्ष चैत्र मास से प्रारम्भ होता है, किन्तु साल के अन्दर किसी भी मास से ग्राहक श्रेणी में नाम लिखाया जा सकता है।

४—पत्र आदि लिखते समय अपना पूरा पता और ग्राहक नम्बर स्पष्ट अक्षर में लिखना चाहिये। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

५—यदि ३ मास तक के लिए ही पता बदलवाना हो, तो अपने डाकखाने में ही प्रबंध कर लेना चाहिए। कार्यालय में तभी लिखना चाहिए, जब कि पता अधिक समय के लिए बदलवाना हो।

६—हर एक ग्राहक के नाम वेदोदय बड़ी सावधानी से कई बार जांच कर भेजा जाता है, यदि १५ ता० तक ग्राहक महाशय को पत्र न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी सज्जन ने बीच में ही वेदोदय को गायब कर लिया है। ऐसी दशा में पहिले अपने डाकखाने में लिखा-पढ़ी करना चाहिये और इसपर भी वेदोदय न मिले, तो डाकखाने के जवाब सहित कार्यालय में इसकी सूचना भेजने पर दूसरी प्रति भेज दी जावेगी।

७—लेखों को छापने न छापने या न्यूनाधिक करने का अधिकार सम्पादक को है।

———

ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३।४।१।१]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ५	वैशाख संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, जून १९३२, आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३	संख्या ३ पू सं. २७

मृला सुक्षत्र मृलय !

[ऋग्वेद ७।८९।१—४ का भावार्थ]

[श्री हरिशरण जी श्रीवास्तव "मराल" बी० ए०, एल०एल० बी०, मेरठ]

[१]

वरणीय तेज वाले ! आया शरण हूं तेरे।

ऐसी कृपा हो फिर ये मिट्टी का घर न घेरे॥

विचरूं स्वतन्त्र तुझमें, सुख की सुधा चखाओ।

स्वामिन् ! दया दिखाओ, स्वामिन् ! दया दिखाओ॥

[२]

जलधर समान कम्पित, भय से सशङ्क आऊँ।
हे मन्यु दण्ड तेरा कर याद, जब मनाऊँ॥
तव सर्व-शक्ति वाले! अपना समझ उठाओ।
स्वामिन्! दया दिखाओ, स्वामिन् दया दिखाओ॥

[३]

सामर्थ्य-हीन हूँ मैं, अति दीन दास तेरा।
कर्तव्य कर्म्म वैदिक करने से मुंह है फेरा॥
फिर भी पिता समझ कर, विनती करूँ निभाओ।
स्वामिन्! दया दिखाओ, स्वामिन्! दया दिखाओ॥

[४]

जल में खड़ा हुआ हूं, गुण-गान कर रहा हूँ।
तौ भी तृषा के मारे, भगवान्! मर रहा हूं॥
तृष्णा बुझाने वाले! प्यासे को मत सताओ।
स्वामिन्! दया दिखाओ, स्वामिन्! दया दिखाओ॥
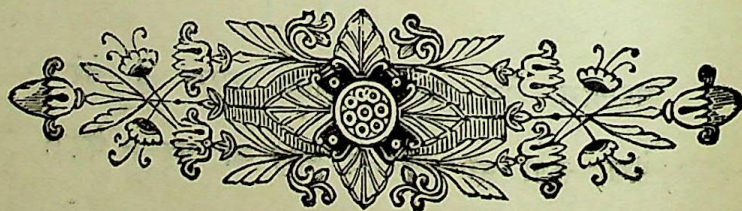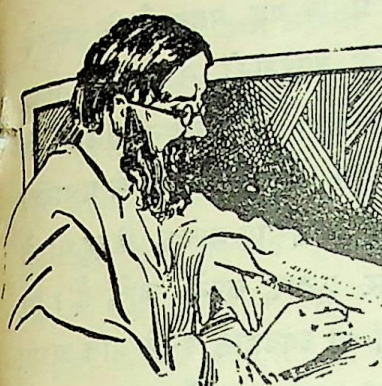
हमारे उपदेशक

[२]

पिछले अङ्क में भजनीकों के विषय में कुछ लिखा जा चुका है। आज उपदेशकों के बारे में कुछ लिखा जायगा। उपदेशक वे कहे जाते हैं जो भजन नहीं गाते, केवल व्याख्यान ही दिया करते हैं।

इस समय प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं में उपदेशक रक्खे जाने की प्रथा है। इसके अतिरिक्त सभी बड़ी बड़ी समाजों में उपदेशक रक्खे जाते हैं। जो काम उनके द्वारा हो रहा है वह सराहनीय ही है। उपदेशक लगन से काम करते हैं। परन्तु आर्य्यसमाज में एक बात की कमी है। यहां पर उपदेशकों की ट्रेनिंग का कोई प्रबन्ध नहीं। जिसकी आवाज़ बुलन्द है, जिसको जनता के सामने खड़े होने में झिझक नहीं वह आसानी से उपदेशक बन जाता है।

यही कारण है कि बहुत से उपदेशक ऐसे पाये जाते हैं जो समझ सूझ कर व्याख्यान नहीं देते। उनके कारण बिचारे आर्य्यसमाज के कार्य्यकर्ताओं को आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। वे कभी २ अन्य धर्मावलम्बियों का खंडन इतने कटु शब्दों में कर देते हैं कि मार पीट की नौबत आजाती है। या वे आर्य्य-समाज के प्लेट फार्म से सरकार के प्रति ऐसे शब्द कह बैठते हैं कि मुकदमे की नौबत आती है। उसमें वे ही अकेले नहीं फंसते बल्कि और लोगों को फंसना पड़ता है।

उपदेशक का काम कोई सरल नहीं यह बहुत बड़े उत्तरदायित्व का काम है। जो मनुष्य दूसरे के जीवन का ठेकेदार बनता है, उसका अपना जीवन आदर्श होना चाहिये नहीं तो वह दूसरे के जीवन को उच्च बनाना तो दूर रहा वह दूसरे के जीवन को मटियामेट कर सकता है।

उपदेशक में दो गुण होने चाहियें। उच्च शिक्षा तथा सदाचार का जीवन। सदाचारी होना बहुत आवश्यक है पर

केवल सदाचारी होने से ही काम नहीं चल सकता। विद्वत्ता सदाचार को और बढ़ा सकती है। सदाचार में आकर्षण होता है, विद्वत्ता में एक दूसरे प्रकार का आकर्षण है। यह दोनों आकर्षण जब एक साथ मिल जाते हैं तो फिर कहना ही क्या है?

उपदेशक होने के पहले कुछ पुस्तकों का ज्ञान हो जाना बहुत आवश्यक है। यदि किसी स्थान पर उपदेशक विद्यालय होते तो यह काम बहुत अच्छी तरह निकल सकता। लाहौर में इस प्रकार का एक विद्यालय खुला हुआ है, परन्तु उपदेशकों की भर्ती होने के समय इस बात पर विचार नहीं किया जाता कि उन्होंने किसी स्थान पर उपदेशकी की शिक्षा प्राप्त की है। भाग्यवश इस समय गुरुकुल के स्नातक बहुत विद्वान् और सुन्दर व्याख्याता निकल रहे हैं और इनसे हमारी बहुत आशायें हैं। परन्तु इस तरह के उपदेशक बहुत कम हैं।

विद्वत्ता तथा आचार के अतिरिक्त हमारे उपदेशकों में एक और बड़ी कमी पाई जाती है। अब तक प्रचार की ऐसी पद्धति रही है कि हम उपदेशकों के लिये प्लेटफार्म तय्यार करके रखते हैं। उपदेशक महाशय रेल से उतरे और प्लेटफार्म पर जाकर गर्जने लगे। उपदेशकों को पिंडाल तथा जनता मिल जाती है। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि आर्य्य समाज के उपदेशकों में मिशनरी स्पिरिट नहीं रहती। यदि सहन-शीलता की मूर्ति देखनी हो तो ईसाइयों के प्रचारकों में देखिये। ईसाई प्रत्येक हिन्दुओं के मेलों पर प्रचार करने जाते हैं। पर हिन्दुओं का व्यवहार इनके प्रति अच्छा नहीं होता। जो आता है वही चार बातें सुना जाता है। कभी कभी कुछ लोग पिंडाल में इतनी गड़बड़ी मचा देते हैं कि उन बिचारों को कुछ समय के लिये अपना काम बन्द कर देना पड़ता है। वे सहनशीलता के साथ हंसते हंसते यह सब बरदाश्त कर लेते हैं। उनको कभी शिकायत नहीं होती कि उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार हो रहा है। जब लोग चले जाते हैं तो वे फिर अपना काम आरम्भ कर देते हैं।

मैं समझता हूं कि इतनी सहनशीलता हममें नहीं है। यदि हम उनकी स्थिति में रख दिये जायें तो सिर अवश्य ही फूट जावे। हमारे उपदेशक यदि किसी स्थान पर भेज दिये जाते हैं तो वे आर्य्यसमाजों के मन्त्रियों की खोज करते हैं। यदि चार दिन मन्त्री महोदय न मिलें तो वे कुछ भी काम न कर सकेंगे। इसका कारण यही है कि हम कार्य करना नहीं जानते। ईसाई मिशनरियों की अवस्था इसके बिल्कुल विप-

रीत है। पहाड़ी तथा जङ्गली जातियों में जहां मनुष्य के लिये पहुंचना सुगम नहीं वहां पर ईसाइयों के मिशन बने हुये हैं। यूरोप तथा अमरीका ऐसे सर्द मुल्कों के रहने वाले भारतवर्ष तथा उससे भी अधिक गर्म मुल्कों में पहुंच जाते हैं। जङ्गली जातियां जो एक दूसरे को मारकर खा जाती हैं उनमें भी यह लोग पाये जाते हैं। न ये उनकी भाषा जानते हैं और न उनके रहने-सहने से परिचित हैं। हम लोगों में इस प्रकार की स्प्रिट बहुत कम है। पंडित लेखराम के लिये प्लेटफार्म की आवश्यकता न थी, स्वामी श्रद्धानन्द को प्लेटफार्म की चाह न थी। वे स्वयं अपना प्लेटफार्म बनाना जानते थे। पर हमारे उपदेशकों को इसकी आवश्यकता रहती है।

आर्य्यसमाज की सफलता इस बात में अब तक बराबर रही है कि इसको श्रोताओं का अभाव नहीं रहा। जनता को आकृष्ट करना हमको आता है, पर एक बात माननी पड़ेगी कि हमने जनता के मस्तिष्कों को दूषित कर दिया है। जनता को आकर्षित करने की कसौटी "गाली देना" है। जो उपदेशक दूसरे मतवालों का बेजा मजाक उड़ाता है, लोग उस पर लट्टू हो जाते हैं कि वाह क्या बढ़िया दलील दी। कभी २ आर्य्य-समाज के उपदेशक शब्दों की ऐसी तोड़ मरोड़ दिखाते हैं जैसे कि उनको भाषा विज्ञान का बड़ा ज्ञान है। जिस व्याख्यान में कुरान की आयतें ज्यादा सुनाई जाती हैं वह रोचक कहा जाता है। जो वेदों के मन्त्र सुनाता है उसको या विद्वान् कहते या भोंदू। यही कारण है कि बहुत से विद्वानों के व्याख्यान होते ही जनता उठ जाती है या वे भी उन तरकीबों का काम लेने लगते हैं जो उनके साथी लेते थे।

यही कारण है कि हमारे प्रचार में इतनी शिथिलता है।

स्त्री तथा शूद्रों को मंत्रों का अधिकार

इधर कई शताब्दियों से भारतवर्ष में यह प्रथा चल पड़ी थी कि स्त्रियों तथा शूद्रों को वेदों के पढ़ने का अधिकार नहीं था। और इस विचार से प्रभावित होकर हिन्दू जाति ने स्त्रियों और शूद्रों को वेद मंत्रों से बहुत दूर रक्खा। यह प्रथा यहाँ तक बढ़ी कि यदि धोके से भी वेद के मंत्र किसी के कान में पहुँच जाते थे तो उसके कानों में सीसा गला दिया जाता था। पर अब यह विचार उठ गये हैं। सनातन धर्म के प्रमुख नेता श्री पूज्य मालवीय जी ने अब शूद्रों को भी मंत्रों का अधिकारी बना दिया है और वे इसके प्रचार का प्रयत्न कर रहे हैं।

अभी थोड़े दिन हुये उन्होंने लिखा था:—

"यह बात सभी विद्वान् जानते हैं कि पृथ्वी-मण्डल पर वेद के समान प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है। वेद सब धर्मों का मूल हैं और वह जगत् के समस्त प्राणियों के हित के लिए है। यह विदित है कि वेद की चारों संहिताओं में एक एक अक्षर के उच्चारण करने के उदात्त, अनुदात्त अथवा स्वरित स्वर नियत हैं। पूर्वकाल में द्विजों की कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था और वेद उनको पढ़ाया जाता था। किन्तु वर्तमान काल में यह प्रथा बन्द कर दी गई और चिर प्रचलित मर्यादा के अनुसार विधि-पूर्वक ब्रह्मचर्य के साथ शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः अङ्गों के साथ स्वरसंयुक्त वेद उन्हीं द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बालकों को पढ़ाया जाता था, जिनका शास्त्र रीति से उपनयन संस्कार किया जाता था और जिनसे कठोर नियमों का पालन कराया जाता था और न केवल शूद्रों को, किन्तु ब्रह्मवादियों को छोड़कर सामान्यतया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य स्त्रियों को भी वेद नहीं पढ़ाया जाता था।

"किन्तु ऋषियों को यह इष्ट था कि सब प्राणियों को वेद के उपदेश का लाभ प्राप्त हो। इसलिये ऋषियों ने वेद का अर्थ लोक-भाषा में प्रकाश करना अपना कर्त्तव्य समझा और महर्षि वेदव्यासजी ने लोकहित के लिये एक वेद को ऋक्, यजु, साम, अथर्व नाम के चार विभागों में बाँटकर पीछे वेद का अर्थ अपने समय की लोक-भाषा संस्कृत में, 'श्रीमन्महाभारत' में सब प्राणियों के हित के लिए और विशेष कर स्त्री और शूद्र तथा उन और लोगों के लिए जिनको वेद नहीं पढ़ाया जाता था, बहुत उत्तमरूप से प्रकाशित किया।

"पुराणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पुराण चारों वर्णों के लिये कल्याणकारी हैं, किन्तु स्त्री और शूद्रों के लिए विशेष मङ्गलकारी हैं।

"जब शूद्रों को पुराणों के पढ़ने का अधिकार है, तो यह भी आप ही सिद्ध है कि उन पुराणों के अन्तर्गत मंत्रों के उच्चारण करने का उनको भी अधिकार है। पुराणों में जो अनेक मंत्र आये हैं, उनका आरम्भ ॐकार से होता है, इसलिये सब पुराण के पढ़ने के अधिकारियों को ॐकार सहित मंत्रों के उच्चारण करने का अधिकार है।"

———
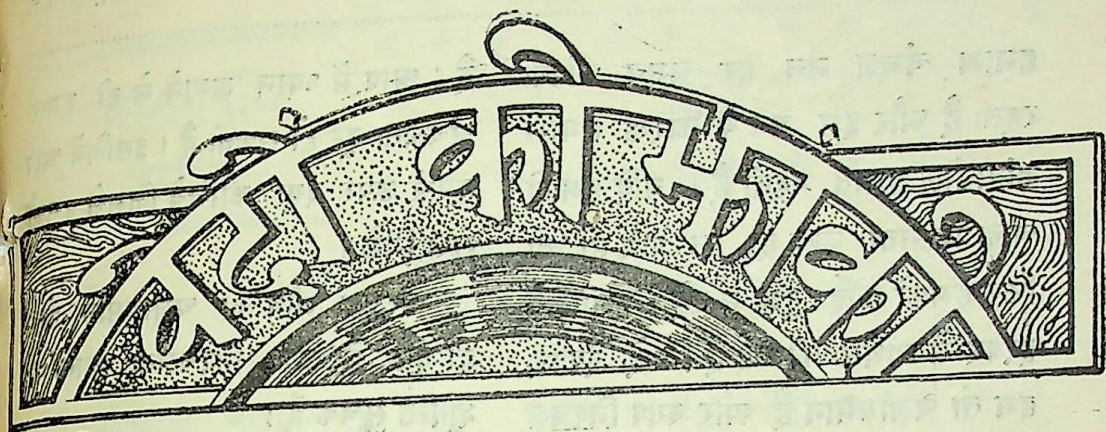
(२७)

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।
मृला सुक्षत्र मृलय ॥

(ऋ० ७ । ८९ । २)

(अद्रिवः) हे निश्चल ईश्वर (यद्) जो मैं (ध्मातो) हवा से भरी हुई (दृतिः) मशक के (न) समान (प्रस्फुरन् इव) कांपता हुआ जैसा (एमि) चलता हूं । (सुक्षत्र) हे अच्छी तरह रक्षा करने वाले भगवन् (आ मृल) मुझे सुख दीजिये (मृलये) मेरे ऊपर दया कीजिये ।

इस मंत्र में जीव और ब्रह्म का अलग अलग रूप दिखाया गया है। ईश्वर के लिये "अद्रिवः" शब्द आया है। 'अद्रि' का अर्थ है पहाड़ या पत्थर। 'अद्रिवः' का अर्थ हुआ पहाड़ के समान निश्चल। परमात्मा अटल है। उसमें किसी प्रकार की चलायमानता या चंचलता नहीं है। परन्तु जीव इससे सर्वथा विपरीत है। उसमें अत्यन्त चलायमानता है। इस चलायमानता के लिये वेद में दो उपमायें दी गई हैं। एक तो 'दृति' की। दृति चमड़े की मशक सी होती है। इसमें हवा भर कर तैरने के काम में लाते हैं। जैसे लोग टीन के पीपों को जोड़कर तमेड़ बना लेते हैं या किसी अन्य हलके पदार्थ के सहारे तैरते हैं उसी प्रकार की दृति होती है। हवा भरने से यह इतनी हलकी हो जाती है कि पानी के ऊपर विना विशेष प्रयत्न के तैरने लगती है। बस जो हाल जल में दृति का है वही इस संसार सागर में जीव का है। दृति भी जरा से हवा के झोंके से बहने लगती है और जीव को भी संसार की साधारण सी हवायें विचलित कर देती हैं। दूसरी उपमा दी है "कांपती हुई चीज की।" 'प्रस्फुरन्' का अर्थ है 'कांपना'।

हमारा चंचल मन हर समय कांपता रहता है और इस मन के कारण हमारी डांवाडोल हालत रहती है। यदि हमारी चलायमानता बन्द हो या कम हो तो फिर हमको कोई दुख न रहे। इसीलिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर, हम तो चलायमान हैं और आप निश्चल है। आप में ध्यान लगाने से ही हमारी चंचलता दूर हो सकती है। इसलिये आप हमारे ऊपर दया कीजिये जिससे हमको सुख मिले।

वस्तुतः जीव का चलायमान होना ही दुख है और निश्चलता आना ही शान्ति सूचक है।

भारतवर्षीय आर्य्य

✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠

पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त

✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠ ✠

[भाग ४ संख्या २४ से आगे]

पाठकगण ! हम पूर्वाङ्कों में यह बता चुके हैं कि मनु महाराज किसी जाति विशेष से घृणा करना अथवा उसको धर्माधिकार से वञ्चित रखने की आज्ञा नहीं देते, किन्तु केवल अनधिकार चेष्टा करने वाले को दण्डनीय ठहराते हैं। जहाँ कहीं इस प्रकार की गन्ध वा स्पष्ट आज्ञा पाई भी जाती है वह किसी जाति द्वेषी का कुकृत्य है। आर्य समाज अपने जन्मकाल से ही ऐसे कुकृत्यों को नष्ट करने में अग्रसर है। दूसरे देश हितैषी भी इस भेद भाव को मिटाने में भागीरथ प्रयत्न कर रहे हैं; यह बात अब्राह्मणों के एकमात्र नेता राजा जी ने भा स्वीकार कर ली है। अब रही मनुस्मृति से भिन्न अन्य स्मृतियाँ। उनमें बहुत सा अंश वेद और मनु के आशय से विरुद्ध है, और वे ऐसे काल की रचना हैं जिस काल में भारत में घोर अन्धकार छाया हुआ था। ऐसी स्मृतियों की छाया अन्य सूत्र ग्रन्थों आदि पर भी पड़ी अतः वे भी इस जातिगत द्वेष से अछूते नहीं बच सके। बहुत से आक्षेपकर्त्ता वेदों में भी यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि ऋगादि भी शूद्रों को समानाधिकार नहीं देते—वे भी शूद्रों का नाश और उनसे घृणा करने की शिक्षा देते हैं। इसके लिये हम एक यजुर्वेद का मन्त्र प्रस्तुत करते हैं, पाठक गण उस पर ध्यान दें—"रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु 'शूद्रेषु' मयिधेहि रुचारुचम्"। यजुः अध्याय १८ मन्त्र ४८।

इस वेद मंत्र में चारों वर्णों में रुचि का कितना सुन्दर आदेश है? ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्रों में परस्पर रुचि हो, यह वेद भगवान् आज्ञा दे रहे हैं। क्या इतने स्पष्ट वेद मंत्र के होते हुए भी कोई कह सकता है कि वेद भगवान् शूद्रों से घृणा करना बतलाते हैं?

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दस्यु, दास, राक्षस, दानव, यातुधान, असुर, और दैत्य आदि शब्द वेद में किसी जाति विशेष के अर्थ नहीं हैं किन्तु जो चोर, डाकू, व्यभिचारी, मांस मदिरा सेवी और श्रेष्ठ पुरुषों को सब प्रकार से, उनके यज्ञादि में बाधा डाल कर, दुःख देने वाले हैं उनके नाम हैं। ये चोर डाकू वेद की दृष्टि में किसी विशेष समुदाय के विरोधी नहीं किन्तु राजा प्रजा—सारी मानव जाति के विरोधी हैं। इन सारी बातों को हम आगे सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

पञ्चजन और निषाद कौन हैं ? यह भी आगे सप्रमाण बताया जायगा ।

मनु ८।४१५ में यह बताया गया है कि दास (गुलाम) कितने प्रकार के होते हैं । इन प्रकारों में एक युद्ध में जीता हुआ भी है । तो क्या जो क्षत्री क्षत्री को युद्ध में जीतता है वह क्षत्री भी—जीता हुआ विजित शूद्र हो जाता है । इस श्लोक में शूद्र को दास नहीं कहा । श्लोक यह है :—

ध्वजा हृतो भक्त दासो गृहजः क्रीत दत्रिमौ । पैत्रिको दण्ड दासश्च सप्तैते दास योनयः ।

इस श्लोक में वह कौन सा शब्द है जिसके ये अर्थ हों कि 'जिसको आर्यों ने बाहर से आकर जीत लिया हो वह दास हैं ? हम सभी तो दूसरों के जीते हुए हैं, तो क्या हम सब शूद्र अथवा दस्यु हैं ? श्लोक के अर्थ यह हैं :—

जीता हुआ, भोजन के लिये गुलामी करने वाला, दासी पुत्र, मोल लिया हुआ, दान में दिया हुआ, जो पहले से ही गुलाम चला आता हो, दण्ड से छूटने के लिये जिसने गुलामी स्वीकार की हो, ये सात तरह के गुलाम हैं । उपरोक्त अवस्था सब वर्णों की हो सकती है, अतः केवल शूद्र ही दास नहीं होता किन्तु ब्राह्मण क्षत्रियादि सभी हो सकते हैं ।

The Indo-Aryan Races pp 2-3 में भी यही लिखा है कि—

"There are the seven kinds of slaves" यह नहीं लिखा कि "These are all shudras"

क्या हम आर्य लोग विदेशी हैं ?

हम इस लेख माला के प्रथम लेख में बता ही चुके हैं कि भारतवर्ष में जो भी विदेशी आता है वह आर्यों में भेद भाव उत्पन्न करके अपना उल्लू सीधा करना चाहता है । इस बात में यूरोप की कौमें अत्यन्त दक्ष हैं । इसी सिद्धान्त के अनुसार ईसाई मिशनरियों ने आर्य जाति में भेदोत्पन्न करने के लिये यह राग अलापना आरम्भ किया कि—भारतवर्ष के आदि निवासी ये अछूत हैं, और आर्यों ने बाहर से आकर इनको दास बनाया । यही बातें इन ईसाइयों ने अपने बनाये हुये इतिहासों में भी भर दीं जो कि भारतवर्ष में हिन्दू बच्चों को पढ़ाये गये और विचार घुटी के समान हमारे अबोध बच्चों को पिला दिये गये । हिष्ट्री में लिख दिया कि :—

"Shudras may be descendants of the non-Aryans, or the socalled Turanians race who were the dominant people in India."

अर्थात् शूद्र अनार्यों की सन्तान हैं अथवा सामयिक तूरानी नस्ल से हैं, जो कि भारत में विजित प्रजा थे । जिस

समय ऐसे २ भ्रष्ट विचारों को लेकर हमारे भारतीय युवक स्कूल और कालिजों से निकले तो, विशेषज्ञ न होने के कारण वे भी अपने पश्चिमी गुरुओं की भांति ठौर ठौर पर ऐसे ही बेतुके राग अलापने लगे। इन्हीं शिष्यों के कथनों के अवतरण और उद्धरण देकर भारतीय सन्तान में वैमनस्य की जड़ जमीं रहने देने का भरसक प्रयत्न हमारे आक्षेपकर्त्ता कर रहे हैं।

इन आक्षेपकर्त्ताओं को यह सुध नहीं कि विदेशी लोग जिस अन्य देश को जीतते हैं वहां के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष को अत्यन्त नीच सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। भरत जैसा भ्राता किसी विदेशी ने उत्पन्न नहीं किया। जब विधर्मियों ने भारत में भरत जी की महिमा सुनी तो उनके लिये असह्य हुई। उनके देशवासियों की प्रकृति भाई भरत की प्रकृति के विरुद्ध थी। अतः उन्होंने भरतजी को बदनाम करने में कोई कसर शेष नहीं रक्खी। वे लिखते हैं कि—

"The reluctance is improbable, it is contrary to human nature ; it may be, however, beigned to strengthen his claim to the throne in the absence of Rama."

Short History of India by J. Talboy Wheeler p, 37

अर्थात् "(भरत का) पश्चात्ताप विश्वास योग्य नहीं है। यह मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। राम की अनुपस्थिति में भरत का राज्य के अधिकार को पुष्ट करने का बहाना था।" भरत का राजत्याग योरोपियनों की दृष्टि में, मानवी स्वभाव के विरुद्ध है। हाँ ठीक भी है; जिन्होंने राज्य के लोभ में बाप बेटों के रुधिर बहाये हों, जिस प्रजा ने राजा के रुधिर को चूसा हो, जहां पर क्रान्तिकारियों की उपज ककड़ी और खीरे की तरह हों, जहां पर वर्षों तक सिविल वार—गृह युद्ध राज्य के लिये चलते रहे हों भला उनकी रुधिर पिपासित खोपड़ी में यह बात कैसे समा सकती है कि कोई सौतेला छोटा भाई अपने बड़े भाई के लिये राज्य त्याग दे !! वे तो Might makes right जिसकी लाठी उसकी भैंस के अभ्यासी रहे हैं। यही योरोपियन लेखक श्रीरामचन्द्र जी के बनवास के समय महाराज दशरथ जी के शोक के विषय में लिखते हैं कि—

"The exaggerated accounts of the maharaja's sorrow over the exile of Rama give rise to the suspicion that his grief was all a sham." p. 31

अर्थात यह महाराज का अत्युक्तिपूर्ण शोक सन्देह में डालता है कि उसका (दशरथ का) यह शोक नितान्त ही

बहाना था (या बनावट थी)। ये हैं इनके उद्‌गार जो राम के वनवास पर हमारे बालकों के लिये भारतवर्ष का इतिहास लिखते हैं !!! ये तो पशुबल को ही मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल समझते हैं। क्या हम इन लेखकों से भारतसंतान के लिये किसी सद्‌भावना की आशा कर सकते हैं कि जो यह लिखने तक को उतारू हो जायँ कि "डाह के कारण कौशल्या ने दशरथ को विष दे दिया होगा।" शिव ! शिव !! कहां भारतीय वैदिक सभ्यता और कहां पश्चिमी पशु-बल ?

वे अपने गर्व में मैगास्थनीज़ के इस कथन पर तनक भी ध्यान नहीं देते कि "संपूर्ण भारतीय पूर्ण स्वतंत्र कहाँ हैं। उनमें कोई दास नहीं। भारतीयों के मित्र पड़ोसी Lakedeomonias लैकेडिओमोनियस, Helat हैलाट जातिवालों को दास बनाकर उनसे नीचे दरजे का काम कराते हैं; परन्तु भारतवासी अपने शत्रुओं से भी दास का व्यवहार नहीं करते। देखो—

Fragments of India, Magasthenes Fragment p. 26

मैगास्थनीज़ चन्द्रगुप्त के समय ३२१ वर्ष मसीह से पूर्व भारत में आया था। उस समय भारत की यह उपरोक्त अवस्था थी। उससे पूर्व और उत्तम थी।

संसार में यह कहावत विख्यात है कि "गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः" अर्थात् लोग एक दूसरे के पीछे बिना सोचे समझे चल देते हैं। असली तत्व को जाननेवाले बहुत कम होते हैं। यही अवस्था हमारे अंगरेजी पढ़े लिखों की हो गई। एक पश्चिमी गुरु ने जो अनाप शनाप बेढंगी बात कह दी उसी के पीछे दूसरे भी बिना सोचे समझे चल दिये। बस यारों का काम पूरा हो गया। सारा मस्तिष्क उस पश्चिमी गुरु के कथन की पुष्टि में ही खर्च कर डाला। परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी हुए हैं जो अन्धे के पीछे अन्धे बनकर नहीं चले किन्तु अपनी विद्या और बुद्धि से भी काम लिया। वे महानुभाव यह नहीं कि, केवल भारतीय हों किन्तु पश्चिमीय भी हैं जिन्होंने "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" की कहावत को चरितार्थ नहीं किया। उन्होंने बड़ी गवेषणा और अन्वेषण के साथ यह सिद्ध किया है कि ये कोल भील और द्रविड़ आदि आदिम भारतवासी नहीं हैं। न यह सिद्धान्त ठीक है कि आर्यों ने कहीं बाहर से आकर इनको जीता और शूद्रादि नाम इनके धरे। यह विचार भी इनके अन्वेषण ने असिद्ध कर दिया कि सामयिक ब्राह्मणादि उच्च वर्णस्थ कहीं बाहर से आये थे। इन सब देशी और विदेशी महानुभावों के कथन आगामी अङ्कों में पाठकगण पढ़ सकेंगे।

विधवा विवाह

[अयोध्याप्रसाद बी० ए०, एल्-एल० बी०]

विधवाओं के अश्रुधार की नदियां बढ़ती जाती हैं।
डूबे डूबे अब भी सोचो भारी विपदा आती हैं॥

विचारो मनमें तुम एक बार।
है कैसा इन पर अत्याचार॥
दुधमुखी अल्प वयस सुकुमार।
नवीना प्रौढ़ा बिन आधार॥
मरा पति हुईं ये विधवा झार।
है जीवन इनका अपना भार॥

इनकी यह दुर्दशा देख कर छाती फटती जाती है॥ १॥

मधुर मन मुग्धकरी मुसकान।
हुई दुख दर्द भरी मुसकान॥
कहां वह प्रेम भरी मुसकान।
मुदित मन मोदकरी मुसकान॥
हुई अब निरस निरो मुसकान।
रसीली रहस भरी मुसकान॥

चन्द्रहास की छटा छबीली अब वह कहां दिखाती है॥ २॥

हुआ पीला है ललित लिलार।
काम के सहतीं बज्र प्रहार॥
सिसकतीं रोतीं ढाहैं मार।
बिपत का नहीं है वारापार॥
बिरह की पीड़ा अति सुकुमार।
सहैं ये कैसे कौन प्रकार॥

शोक मूर्ति के घर में रहते कैसे निद्रा आती है॥ ३॥

बिना पति के ये रहैं उदास।
हुवा है सब बिधि इनका नास॥

ये खावैं अथवा करैं उपास।
नहीं है इनको कोई आस॥
न आती है कहुं प्रेम की बास।
घृणा अरु द्वेष से है सहवास॥
कठिन समस्या हुई उपस्थित सब दुनिया निदराती है॥ ४॥
न देखा पति का मुख तक हाय!
हुईं ये विधवा कैसा न्याय?
कहूँ बर बूढ़ा गले लगाय।
ब्याह का ढोंग रचाया जाय॥
कहूँ बरजोरी ब्याह कराय।
दुःखमय जीवन दिया बनाय॥
विधवाओं की दिन दिन इससे संख्या बढ़ती जाती है॥५॥

ये रीति रिवाजों को धिक्कार।
ये सभा समाजों को धिक्कार॥
ये नारी पुरुषों को धिक्कार।
ये ब्याह विवाहों को धिक्कार।
ये मत मन्तव्यों को धिक्कार।
ये नियम नीतियों को धिक्कार॥
व्यभिचारी जिनके कारण ऋषि सन्तति होती जाती है॥६॥
करो तुम बारम्बार बिवाह।
न सोचा आगा पीछा आह॥
रखो मरने तक इसकी चाह।
जो होगा होगा नहिं परवाह॥
अभागिन करेगी कैसे निबाह।
जो लोगे तुम परलोक की राह॥
इन मन मानी करतूती पर लाज को लज्जा आती है॥७॥
हो तुम पढ़े लिखे बलवान।
तदपि कामातुर खोवत मान।

हों अबला ये मूर्ख नादान।
कहो ! किमि राखैं धर्म की आन ॥
हो तुमको कुकरन की जब बान।
तो इनका पतिव्रत कठिन महान् ॥

यह अदूरदर्शिता तुम्हारी अगनित पाप कराती है ॥८॥

ये घर में रह कर करती पाप।
सहैं कैसे ये विरह की ताप ॥
ये लुक छिपकर कर प्रेम प्रलाप।
लगावत कुल में अयश की छाप ॥
छिपावन हित फिर अपना पाप।
ये शिशुवध करती अपने आप ॥

पाप की ऐसी पराकाष्ठा और न कहूं दिखाती है ॥९॥

छोड़ घर कहूँ भाग ये जाय।
नीच संग अपना जन्म नशाय ॥
कबहुं बस हाट बाट में जाय।
बेच कर धर्म्म ये वृत्ति कमाय ॥
जवानी भर ये पाप कमाय।
हो बूढ़ी बिन पूछे मर जाय ॥

कुल मर्यादा जगत् प्रतिष्ठा सब यह विधि बह जाती है ॥१०॥

क्रमशः
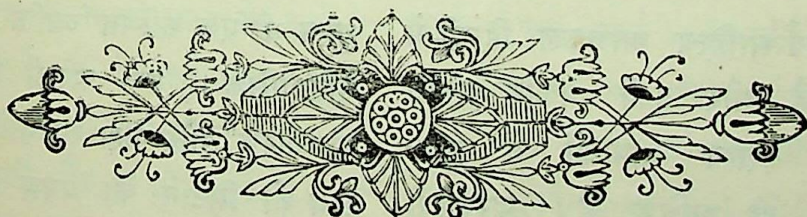
ज़रथुश्त्री धर्म

श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०, एफ़० आई० सी० एस०
सम्पादक विज्ञान

महात्मा ज़रथुश्त्र

प्राचीनता की दृष्टि से वैदिक धम के पश्चात् ज़रथुश्त्री धर्म की गिनती है। इस धर्म का प्राचीन साहित्य अवस्ता भाषा में है। पर इसकी मूल पुस्तकें जिनका नाम गाथा है, भाषा में अवस्ता से कुछ भिन्न हैं, पर यह भिन्नता केवल उतनी ही है जितनी कि संस्कृत और वैदिक संस्कृत में है। भाषा की दृष्टि से भी हम वैदिक साहित्य और ज़रथुश्त्री साहित्य की तुलना कर सकते हैं—

ज़रथुश्त्री साहित्य	वैदिक साहित्य
गाथाओं की भाषा	वैदिक संस्कृत
अवस्ता	लौकिक संस्कृत
पहलवी	प्राकृत
गुजराती	हिन्दी

आर्य्य साहित्य आजकल हिन्दी में अधिक है और इसी प्रकार पारसी साहित्य देशीय भाषाओं में गुजराती में ही अधिक है। ज़रथुश्त्री धर्म के सम्बन्ध में अभी हिन्दी में कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है।

ज़रथुश्त्री धर्म के मूल प्रचारक महात्मा ज़रथुश्त्र थे। इनको पैग़म्बर समझा जाता है। वस्तुतः पैग़म्बरवाद की कल्पना सबसे पहले इसी धर्म में की गई है। वैदिक धर्म और बाद के पौराणिक धर्म में कहीं भी पैग़म्बरों की भावना की पुष्टि नहीं पायी जाती है। भारतवर्ष में जिस प्रकार अवतारवाद का प्रचार हुआ उसी प्रकार पश्चिमी एशिया के धर्मों ने पैग़म्बरवाद का प्रचार किया। अस्तु, महात्मा ज़रथुश्त्र को उनके अनुयायी पैग़म्बर अर्थात् विशेष कार्य्य के लिये ईश्वर के द्वारा भेजे गये व्यक्ति मानते हैं।

जिस प्रकार महात्मा ईसा के सम्बन्ध में बहुत सों के ये विचार हैं कि आप कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न थे, उसी प्रकार आधुनिक अनेक विद्वानों ने यह कहना आरम्भ कर दिया है कि महात्मा ज़रथुश्त्र भी एक कल्पित व्यक्ति हैं, न कि ऐतिहासिक। पर पारसी विद्वानों ने आन्तरिक और बाह्य साक्षियों द्वारा इस भ्रम को मिटाने का प्रयत्न किया है। अस्तु, महात्मा ज़रथुश्त्र ने पश्चिमी ईरान अथवा मीडिया के आज़रबएजान प्रदेश में जन्म लिया था। इनके जन्मकाल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

ग्रीस के युदोक्स अथवा अरस्तू से पूर्व ही इनका जन्म हुआ था। कुछ विद्वान् इन्हें ईसा से ६-७ सहस्र वर्ष पूर्व तक मानते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार वैदिक-कालीन व्यक्तियों का समय निर्णय करना असंभव है उसी प्रकार जरथुश्त्री व्यक्तियों के विषय में भी कहा जा सकता है। ज़रथुश्त्र शब्द का यौगिक अर्थ (ज़रथ = पीला, उश्त्र = ऊँट) पीले ऊँट का स्वामी है।

महात्मा ज़रथुश्त्र के पिता का नाम पोरुशस्प था। आपके पूर्व दसवीं पीढ़ी में स्पीताम नामक एक व्यक्ति हुए थे जिनके नाम पर आपके वंश का नाम 'स्पीत्म' वंश पड़ा है। पीढ़ियों का क्रम निम्न प्रकार था।

१ स्पीताम	६ हएचदस्प
२ हर्दार	७ उर्वदस्प
३ हर्दश्न	८ पेतेरस्प
४ पइतरस्प	९ पोरुशस्प
५ चख़शनुश	१० ज़रथुश्त्र

अवस्ता में आपकी माता का उल्लेख नहीं आया है पर दीनकर्द नामक ग्रन्थ में इनकी माता का नाम दुगदो लिखा है। इनके दो बड़े और दो छोटे भाई थे। बड़े भाइयों के नाम रतुश्तर और रन्गुश्तर तथा छोटे भाइयों के नाम नोतरीगा और और नीवातुश थे। ज़रथुश्त्र की पत्नी हवोवी थी, और इनके तीन पुत्र इस-दवास्तर, उर्वतदनर और खोरशेदचेहेर हुए। फ्रेनी, थ्रीती और पोरुचीश्ती नामक इनकी तीन कन्यायें भी थीं।

पारसियों की पुस्तकों में महात्मा ज़रथुश्त्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विचित्र कथायें लिखी हुई हैं। जिस प्रकार महात्मा कृष्ण के जन्म के समय विशेष प्रकार की वृष्टि, बिजली आदि का उल्लेख आता है उसी प्रकार इनके जन्म के समय भी पृथ्वी हिलने लगी थी और बादल गरज रहे थे जिनमें बिजली कड़क रही थी, घनघोर वर्षा भी हो जाती थी। लोग समझ रहे थे कि न जाने क्या प्रलय होने वाली है। ऐसे समय में महात्मा ने जन्म लिया!

गाथा में लिखा हुआ है कि गो (पृथ्वी) अहुरमज़्द के पास जाकर विलाप करने लगी थी कि उसके ऊपर अत्याचारियों का भार बढ़ता जा रहा है और उसका जीवन संकट में है। इस संकट को मिटाने और लोगों को धर्म का सच्चा मार्ग (अष मार्ग) दिखाने के लिये अहुरमज़्द ने यह काम ज़रथुश्त्र को सौंपा था। एक बात अवश्य है कि जिस प्रकार मुहम्मद या ईसा को ईश्वर का ख़ास पुत्र समझा जाता है, उस प्रकार ज़रथुश्त्र अहुरमज़्द के कोई विशेष पुत्र न थे, यद्यपि अहुरमज़्द के स्वर्गीय राज्य के वे विशेष योग्य व्यक्ति अवश्य थे।

सात वर्ष की आयु में इन्हें इनके पिता ने 'बुर्ज़ीन कुरुश' नामक योग्य गुरु को शिक्षा के लिये नियुक्त किया। कोई कोई इस गुरु का नाम एगोनासीस बताते हैं। ज़रथुश्त्र को पिता की संपत्ति से आरम्भ से ही मोह न था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में इसने प्रण-स्वरूप अपनी कमर से एक कमर-बंध बाधा और प्रतिज्ञा की कि अपना समस्त जीवन दूसरों के संकट दूर करने में व्यतीत करेगा।

जिस समय यह युवक ही था कि इसके देश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, और अन्न घास न पाने के कारण पशु बिलख बिलख कर मरने लगे। उस समय उसने पीडितों की बड़ी ही रक्षा की। २० वर्ष की आयु के पश्चात् वह उशीदरेन पहाड़ के ऊपर जाकर एकान्त वास करने लगा और वहाँ शान्त तपस्या में १० वर्ष व्यतीत किये। इस एकान्तवास के समय वह शरीर रक्षा निमित्त बहुत ही थोड़ा भोजन (पनीर का) करता था। यहां पहाड़ पर वह अनेक प्रकार का चिन्तन करता, कभी हाथ ऊपर उठाकर तारों से बातचीत करता और कभी नीचे बहने वाली सरिताओं से प्रश्न पूछता। वह अहुरमज़्द के ध्यान में मग्न रहता और यह विचारा करता कि सृष्टि में पाप की रचना किस प्रकार हुई। वह ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध में न जाने क्या क्या सोचता। उसे ऐसा प्रतीत होता कि ईश्वर स्वयं उसके प्रश्नों का उत्तर दे रहा है।

पहाड़ से उतर कर महात्मा ज़रथुश्त्र ने अपने देश में भ्रमण आरम्भ किया और वहां की अवस्था को भली प्रकार देखा। इसके पश्चात् वह शाह गुश्तास्प के दरबार में पहुंचा।

ऐसा कहा जाता है कि उस पहाड़ के ऊपर महात्मा ज़रथुश्त्र को सात अमेशास्पंदों (फ़िरश्तों) के दर्शन हुए। ये फ़रिश्ते अहुरमज़्द की भिन्न भिन्न शक्तियों के ही नाम हैं। इन अमेशास्पंदों के साक्षात्कार का भाव यह है कि ज़रथुश्त्र ने ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों को भली प्रकार अनुभव किया।

महात्मा ज़रथुस्त्र का पहला अनुयायी उसी का एक सम्बन्धी मेध्योमाह था। इसके पश्चात् राजा गुश्तास्प और रानी हुतोशी ने ज़रथुश्त्री धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार ज़रथुश्त्र को जब एक राज्य-वंश का आश्रय मिल गया तब वह अपना प्रचार और अधिक संलग्नता और सफलता से करने लगा। राजा गुश्तास्प का भाई ज़रीर, उसके पुत्र अस्फन्दयार और पेशोतन, उसका मंत्री जामास्प आदि सब उसके शिष्य हो गये थे।

इसके पश्चात् ज़रथुश्त्री धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। एक समय की बात है कि राजा गुश्तास्प के साम्राज्य

पर तूरानी बादशाह अर्जास्प ने आक्रमण कर दिया। थोड़े समय तो युद्ध बराबर रहा पर बाद को अर्जास्प ने एक आकस्मिक हमला कर दिया। इस हमले में ही, कहा जाता है कि महात्मा ज़रथुश्त्र भी किसी अनजान व्यक्ति के हाथ से मारा गया। कुछ लोग इसके घातक का नाम तुरबरातुर बताते हैं। दीनकर्द ग्रन्थ में इसका नाम बरातुरत है। मृत्यु के समय महात्मा ज़रथुश्त्र की आयु ७७ वर्ष ४० दिन बताई जाती हैं (मृत्यु अर्दीबेहेश्त मास के खोर्शेद दिन को हुई)।

ज़रथुश्त्र के उपदेश तथा गाथा ग्रन्थ

महात्मा ज़रथुश्त्र ने मज़्दयस्नियन धर्म की स्थापना की। मज़्दयस्नियन का तात्पर्य्य उस धर्म से है जो अहुरमज़्द का उपासक है। अहुरमज़्द परमात्मा का नाम है। यह कहना कठिन है कि ज़रथुश्त्र ने स्वयं कोई धार्मिक पुस्तक लिखी थी या नहीं। पर उनके उपदेशों का जो संग्रह आजकल प्राप्त है उसका नाम गाथा है। एक पहलवी ग्रन्थ में लिखा है कि महात्मा ज़रथुश्त्र ने १२०० परगरद (सूक्त) की अवस्ता पुस्तक की रचना की थी। हेर्मीपस नामक यूनानी लेखक का कहना है कि उसने २० लाख पंक्तियां लिखी थीं। ज़फर अवतरी नामक अरबी लेखक के कथनानुसार १२०० चर्मपत्रों से युक्त एक अवस्ता ग्रन्थ ज़रथुश्त्र ने लिखा था। इन सब बातों की सत्यता जांचना कठिन है।

पारसी धर्म के अन्दर गाथाओं का उसी प्रकार सम्मान है जिस प्रकार आर्य्य धर्म में वेदों का। गाथायें बहुत छोटी छोटी पुस्तकें हैं,—इतनी बड़ी समझनी चाहिये जितनी कि उपनिषदें। ये सब पद्यबद्ध हैं, जिनकी भाषा अत्यन्त ललित और काव्य की दृष्टि से परमोत्कृष्ट है।

गाथायें पांच हैं। अहुनवद गाथा, उश्तवद गाथा, स्पेन्तोमद गाथा, वोहुक्षत्र गाथा और वहिश्तोइश्त गाथा। गाथा शब्द का वस्तुतः वही अर्थ है जो गीता का है, अर्थात् गाकर पढ़ी जाने वाली पुस्तक गाथा है। महात्मा ज़रथुश्त्र ने अपने शिष्यों को ये गाथायें लिखायीं थीं ऐसी किम्वदन्ती है। इन गाथाओं में भिन्न भिन्न अध्याय हैं जिन्हें 'हा' कहते हैं।

अहुनवद गाथा में ७ अध्याय (हा २८-३४) हैं जिनमें क्रमशः ११,११;११, २२,१७,१५ और १६ इस प्रकार कुल १०३ फ़करे या मंत्र हैं।

उश्तवद गाथा में ४ अध्याय (हा ४३-४६) हैं जिनमें क्रमशः १७,२१,१२ और २०, इस प्रकार कुल ७० फ़करे हैं।

स्पेन्तोमद गाथा में ४ अध्याय (हा ४७-५०) हैं जिनमें क्रमशः ७,१३,१३ और ११, इस प्रकार कुल ४४ फ़करे हैं।

वोहुक्षथ्र गाथा में १ अध्याय (हा ५१) है जिसमें २३ मन्त्र हैं।

वहिश्तोइश्त गाथा में भी १ अध्याय (हा ५३) है जिसमें १० मंत्र हैं। यहां हम इन गाथाओं का कुछ सूक्ष्म विवरण देंगे क्योंकि ज़रथुश्त्री धर्म के ये सबसे पवित्र वचन हैं।

अहुनवद गाथा

इस गाथा का नाम अहुनवद इसलिये है कि इसका छन्द अहुनवर है। गायत्री मंत्र को जिस प्रकार गायत्री इसीलिये कहा जाता है कि वह गायत्री छन्द में है, इसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये। इस गाथा में यह उल्लेख है कि सम्पूर्ण जगत की पीड़ित आत्मा (गेउश् उर्वन) अहुरमज़्द के पास पहुंचीं और उनसे विनय की कि हमारे दुःखों को किसी प्रकार दूर कीजिये, कोई ऐसा व्यक्ति भेजिये जिससे संसार का अधर्म और अत्याचार मिट जाय। इस काम के लिये ज़रथुश्त्र नियुक्त किया जाता है। इस गाथाओं में ज़रथुश्त्र अहुरमज़्द और उसके गुणों की भक्तिपूर्ण स्तुति करता है और प्रार्थना करता है कि उसको ऐसी योग्यता, क्षमता और सामर्थ्य प्रदान की जाय जिससे वह अपने कर्त्तव्य में सफल हो सके। वह यह भी प्रार्थना करता है कि उसे शैतान (अंग्रमइन्यू) से बचाया जाय। सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की प्रतिज्ञा करता है।

उश्तवद गाथा

जिस प्रकार ईश और केन उपनिषद् का ईश और केन नाम इसलिये पड़ा है कि इनके प्रथम शब्द ईश और केन हैं इसी प्रकार उश्तवद गाथा का नाम उश्तवद इसलिये है कि इसका पहला शब्द उश्ता है। इस गाथा की पहली पंक्तियां इस प्रकार आरम्भ होती हैं कि 'वही मनुष्य सुखी है जो दूसरों को सुख पहुंचाता है।'

इसमें इसका उल्लेख किया गया है कि अहुरमज़्द ही संसार का आश्रय है। संसार के सम्पूर्ण कार्य्य उसी के नियम के अनुसार चल रहे हैं। इसके अन्तिम अध्याय में ज़रथुश्त्र के ऐतिहासिक व्यक्ति होने की आन्तरिक साक्षी मिलती है जिससे इसका विशेष महत्व है।

स्पेन्तोमद गाथा

इस गाथा का पहला फ़करा स्पेन्तामइन्यु से आरम्भ होता है अतः इसका नाम स्पेन्तोमद पड़ा है। इस गाथा में पवित्रता का उपदेश किया गया है। स्पेन्तामइन्यु पवित्रता का प्रतिनिधि है। अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना का विवरण और उसके लिये अहुरमज़्द से प्रार्थना की गई है।

वोहुक्षत्र गाथा

इस गाथा का प्रारम्भ वोहूक्षत्र म शब्द से होता है। अतः इसका नाम वोहुक्षत्र पड़ा है। इसमें अधर्मियों को दण्ड और धर्मात्माओं को सुख प्राप्त होने का विवरण है।

वहिश्तोइश्त गाथा

इस गाथा का पहला शब्द वहिश्तो-इश्तिशी है जिस पर इसका नाम पड़ा है। इनमें महात्मा ज़रथुश्त्र के पवित्र जीवन की ओर संकेत है और उसके जीवन के अनुकरण का आदेश किया गया है।

समालोचना

वैदिक विनय (प्रथम खंड) :—ले० पं० देवशर्म्मा 'अभय' विद्यालंङ्कार। प्रकाशक गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडी, जिला सहारनपुर। गाढ़े की जिल्द २) सादी १।) पृष्ठ संख्या ३२८। छपाई तथा कागज़ अति उत्तम।

स्वाध्याय मंजरी का यह तृतीय पुष्प है। श्रद्धानन्द स्मारक निधि के सभासदों को गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी की ओर से यह पुस्तक भेंट की गई है। गत वर्ष "ब्राह्मण की गौ" नामक एक अति उत्तम मननशील ग्रन्थ जनता के सामने प्रस्तुत किया गया था। इस वर्ष "वैदिक-विनय" एक अति उत्तम ग्रन्थ रचना गुरुकुल के एक विद्वान् स्नातक ने की है।

पुस्तक निर्माण में एक और विशेषता है। कानपुर के जेल में रह कर श्री पं० देवशर्म्मा ने इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ किया था और इसका अधिकाँश भाग जेल के अन्दर ही लिखा गया था।

पुस्तक तीन खण्डों में होगी। प्रथम खण्ड छप कर प्रकाशित हो गया है। इस पुस्तक में चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ चार महीने के लिये वैदिक प्रार्थनायें छांट कर रख दी गई। एक दिन के लिये एक प्रार्थना नियुक्त है। इस प्रकार से प्रति-दिन के स्वाध्याय के लिये एक मंत्र छाँट कर रख दिया गया है। पहले मन्त्र दिया गया है, उसके बाद उसका भाष्य तथा अन्त में शब्दार्थ दे दिया है।

चैत्र के लिये ३० मन्त्र
वैशाख के लिये ३१
ज्येष्ठ के लिये ३१
आषाढ़ के लिये २२

प्रत्येक मास के आरम्भ में व्यायाम की एक विधि लिख दी है। इससे पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गई है। विद्वान् लेखक ने पुस्तक के आरम्भ में स्वाध्याय की विधि चार पृष्ठ लिख दी है।

यह पुस्तक आर्य-समाज को गौरवन्वित करेगी। स्वाध्याय की जैसी सामग्री इस पुस्तक में है वैसी और किसी में हमें देखने को नहीं मिली। विद्वान् लेखक को हम बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि उनके द्वारा ऐसे ही उत्तम ग्रन्थों की वृद्धि होती रहेगी।

प्रेषक—श्री रामलखनसिंह, ग्राम-म्योहर
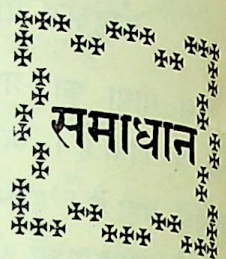
कुछ दिनों से मैं सत्यार्थ प्रकाश का स्वाध्याय कर रहा हूँ। इस पुस्तक में मुझे थोड़ी बहुत शंकायें हुई हैं। इन शंकाओं को दूर करने के लिये अपनी अल्प बुद्धि अनुसार पहिले मैंने स्वयं प्रयत्न किया। जिनमें से कुछ ऐसी शंकायें हैं जिनके समाधान करने में मैं असमर्थ रहा। यद्यपि सत्यार्थप्रकाश को मैं आद्योपान्त मानता हूं तथापि जो शंकायें मेरे मन में उत्पन्न होती है उनके निवृत्यार्थ किसी आर्य्य विद्वान् से प्रार्थना करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूं। उक्त प्रयोजन से अपने इस टूटे फूटे लेख को मैं आपके पास भेजने का साहस कर रहा हूँ। यदि आप अपने "वेदोदय" नामक पत्र में इन शंकाओं पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे तो मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँगा।

[१]

शंका

"ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जांय इत्यादि क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करदे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक हो उसकी प्रार्थना सफल हो जावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये।" सत्यार्थ प्रकाश (२१ वीं बार) पृष्ठ ११७।

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वतं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥'यजु० अ० १। मं० ८

पं० जयदेव जी शर्मा कृत भाष्य:—

हे राजन्! वीर पुरुष! तथा हे परमात्मन्! तू समस्त शत्रुओं का विनाशक एवम् शकट के धुरा के समान प्रजा के भार को उठाने में समर्थ है। तू हिंसा करने हारे को विनाश कर और उसको मार, दंड दे जो हमको वध करता है। और उसको नाश कर जिसको हम विनाश करते हैं। हे वीर पुरुष तथा हे परमात्मन्! देव विद्वान् पुरुषों को सबसे

उत्तम, वहन करनेवाला, उनका भार शकट के समान अपने ऊपर उठाने वाला, सबका सर्वोत्तम पालन करने हारा, सब को सर्वोत्कृष्ट प्रेम करनेवाला, विद्वान् पुरुषों को सर्वोत्तम उपदेश करने हारा, सबको प्रेम से अपने प्रति बुलानेहारा है। हम तेरी नित्य उपासना करें।

उक्त पं० जी के भाष्य से निम्न-लिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

(१) जो हमारा वध करे उसको तू मार दंड दे।

(२) जिसको हम विनाश करते हैं उसको तू नाश कर।

स्वामी जी का कथन है कि हे पर-मात्मा हमारे शत्रुओं का नाशकर इत्यादि प्रार्थनायें व्यर्थ हैं और न इसको ईश्वर स्वीकार ही करता है वेद में यह प्रार्थना करने का उपदेश है "कि धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।" अब स्वामी जी तथा वेद वाक्यों की कैसे संगति मिलाई जावे? तथा किस वाक्य को मानें?

समाधान

श्री स्वामी जी महाराज का सत्यार्थ प्रकाश का कथन और वेदमन्त्र का अर्थ भिन्न २ प्रसंगों से सम्बन्ध रखते हैं इस-लिये परस्पर विरुद्ध नहीं। स्वामी जी उस प्रथा का खण्डन करते हैं जिसमें मारन, मोहन, उच्चाटन आदि जादू टोने की क्रियाओं द्वारा ईश्वर से प्रार्थना की जाती है कि शत्रु का नाश कर दे। वेद मन्त्र उन क्षत्रियों से सम्बन्ध रखता है जो अपने शत्रुओं का नाश करने के लिये युद्ध में जाते हैं और अपने इस कार्य्य में ईश्वर की सहायता के याचक होते हैं। जो धर्म युक्त कार्य हैं उनके लिये उद्योग और उस उद्योग की सफलता के लिये ईश्वर से सहायता मांगना बुरा नहीं।

[२]

शंका

"९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल भेज दें।" स० प्र० पृ० १९॥

स्वामी जी जन्म से किसी पुरुष का ब्राह्मण क्षत्रियादि कोई वर्ण नहीं मानते तब क्यों ऐसा कहते हैं कि शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना ही विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें। क्योंकि जन्म से तो सभी मनुष्य शूद्र होते हैं। स्वामी जी स० प्र० पृ० ५४ में लिखते हैं, "जैसा मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्य जाति

उत्तम ब्राह्मण कहाता है।" श्री स्वामी जी के कथनानुसार यदि शूद्र गुरुकुल में जाकर पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त हो जाय तो वह अवश्य ब्राह्मण वर्ण में गिना जाना चाहिये और बिना उपनयन संस्कार के किसी मनुष्य की द्विजाति में संज्ञा नहीं हो सकती तो फिर उसका उपनयन संस्कार कब होगा ?

समाधान

शूद्र अपनी सन्तान का यज्ञोपवीत घर में नहीं करता। हां गुरुकुल में परीक्षा लेने पर अधिकारी सिद्ध हो तो उसका यज्ञोपवीत वहां हो सकता है। द्विजों की सन्तान से स्वभावतः आशा रक्खी जाती है कि उनमें विद्योपार्जन का सामर्थ्य होगा। शूद्र की सन्तान के लिये परीक्षा की आवश्यकता होगी। शूद्र की घर की परिस्थिति ऐसी नहीं होती कि घर में यज्ञोपवीत हो सके। परन्तु आगे चलकर इस परिस्थिति के प्रभाव को बदला जा सकता है।

[३]

शंका

"द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी २ पाठशाला में भेज दें।" स० प्र० पृ० २१॥

यह बतलाने की कृपा करें कि कन्याओं का यथायोग्य संस्कार कौन सा है।

समाधान

यहाँ केवल वाक्य के पेचीदा हो जाने से सन्देह हो जाता है। यथायोग्य संस्कार से तात्पर्य 'यज्ञोपवीत' का ही है। इसके अतिरिक्त और कोई संस्कार अभीष्ट नहीं।

[४]

शंका

"जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र संहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे।" स० प्र० पृ० २६॥

क्या जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र न हो तो उसको न पढ़ाया जाय ? बहुत सम्भव है कि वह विद्या प्राप्त करने पर शुभ लक्षणयुक्त हो जाय ? तो क्या फिर इस उत्तम गुणों से अलंकृत करनेवाले मार्ग से उसे वञ्चित रक्खा जाय ? वेद तो यह कहता है कि:—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय।

यजु० अ० २६। मं० २॥

पर स्वामी जी सुश्रुत से यह प्रमाण देते हैं कि शूद्रमपि कुलगुण सम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके॥

इन दोनों में से कौन सी बात मानी जाय ?

समाधान

यहाँ स्वामी जी ने अपना मत नहीं दिया किन्तु अन्य आचार्य के संस्कृत वाक्य का अनुवाद कर दिया। इस में तो सन्देह ही नहीं कि भारतवर्ष में एक समय अवश्य ऐसा हो गया है जब शूद्रों के लिये वेद पढ़ना वर्जित था। परन्तु स्वामी जी का निज मत यह है कि वेद सब के लिये है। यह मन्त्र अन्यत्र स्पष्ट रीति से दिया हुआ है।

[५]

शंका

"योऽनूधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु० २।१६८॥

जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है वह अपने पुत्र पौत्र सहित शूद्र भाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है॥"
॥स० प्र० पृ० ३०॥

शंका—जो जैसा करता है वह वैसा पाता है इस बात को सभी धर्म और मत मतान्तर वाले मानते हैं। यदि मैं कोई कुकर्म करता हूं तो उसका फल मुझको मिलना चाहिये न कि मेरे साथ कोई अन्य भी पीसा जाय। यदि कोई पुरुष वेदाध्ययन नहीं करता तो यथार्थ में उसको शूद्र भाव को प्राप्त होना चाहिये पर यह कहां का न्याय है कि उसके साथ उसके पुत्र पौत्र भी शूद्र हो जावें और यह संभव भी नहीं हो सकता क्योंकि बहुत संभव है कि उसके पुत्र या पौत्र अद्वितीय वेद के पंडित हों॥

समाधान

यह भी मनु के एक श्लोक का अनुवाद मात्र है। स्वामी जी का मत नहीं। हां इसको एक प्रकार से मान सकते हैं। अर्थात् जब एक पुरुष शूद्र हो गया तो वह अपने कर्मों का जो सिलसिला जारी रखता वह टूट जायगा और साधारण तया उसके पुत्र पौत्र शूद्र ही होंगे। अर्थात् उन को द्विजत्व की शिक्षा न मिलेगी। हां यदि वह अधिक परिश्रम करें तो परिस्थिति के प्रतिकूल होते हुये भी फिर द्विज बन सकते हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण के पुत्र पौत्र को ब्राह्मण बनने के लिये जो सुविधायें हैं वह शूद्र के पुत्र पौत्र का नहीं। असाधारण परिश्रम अवश्य शूद्र के लड़के को ब्राह्मण बना सकता है।

[६]

शङ्का

नक्षत्र वृक्ष नदी अन्त्य पर्वत पक्षी सर्प प्रेष्य और भीषण नामवाली कन्याओं के साथ विवाह न करना चाहिये।

उक्त नामों वाली कन्याओं से विवाह न होना चाहिये, यह समझ में नहीं आता कि क्यों न होना चाहिये। यदि इन नामों में से कोई नाम वाली कन्या बिदुषी तथा सुशीला है तो क्या केवल नाम मात्र से ही उसका व्याह न होना चाहिये ?

समाधान

यह भी मनु के एक श्लोक का अनुवाद मात्र है। सब दशाओं में तो यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। किसी स्त्री का विवाह केवल उसके नाम के कारण न हो। परन्तु इसका एक लाभ अवश्य होगा। अर्थात् कुत्सित नाम रखने की प्रथा न रहेगी। और स्त्रियों के नाम तो बदले ही जा सकते हैं। कोई स्त्री यह क्यों ज़िद करे कि मैं अपना भीषण नाम न छोड़ूँगी तब भी मेरा विवाह हो ही जाय। अच्छे और शिक्षाप्रद नाम रखने का विशेष लाभ है। वह पुकारने में अच्छा लगता है। उससे कहने और सुननेवालों के मन पर अच्छा संस्कार पड़ता है। यदि कोई विदुषी और सुशीला है तो वह अच्छा नाम ही क्यों न रखले ? समस्त समस्या हल हो जाय।

[७]

शङ्का

"प्रजापति अर्थात् परमेश्वर कीप्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्न को छोड़... संन्यासी हो जावे।" स० प्र० पृ० ८॥

हवन वायु के शुद्ध करने के निमित्त किया जाता है। उसमें शिखादी छोड़ने से तो दुर्गंधि उत्पन्न होगी। तो फिर हवन के तात्पर्य के विरुद्ध स्वामी जी यह क्यों आज्ञा देते है ?

समाधान

"उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़ने का अर्थ यह है कि यज्ञ के समय इन चिह्नों को छोड़ दो इसका यह तात्पर्य नहीं कि हवन कुण्ड में इनको जला दे।

[८]

शङ्का

"पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्नि होत्र और यज्ञेष्टि आदि सब राज घर के कर्म किया करें। आप सर्वदा राज कार्य में तत्पर रहें अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है जो रात दिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना।" स० प्र० पृ० ९५॥

क्या राजा को राजकार्य में प्रवृत्त रहने के अतिरिक्त अग्निहोत्र सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म आवश्यक नहीं है ? श्री स्वामी जी स० प्र० पृ० ६२ में लिखते हैं, "और जो ये दोनों काम सायं और प्रातः काल में न करे उसको

सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें।" क्या स्वामी जी के ये दोनों लेख परस्पर विरुद्ध नहीं हैं? यदि नहीं हैं तो इसकी एक दूसरे से कैसे संगति मिलाई जाय? क्या वह राजा जो सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नहीं करता शूद्रवत् द्विजों के कर्म से बहिष्काय नहीं हैं? कौन सी बात मानी जावे?

समाधान

इसका अर्थ यह नहीं कि सन्ध्योपासनादि कर्म कर्तव्य नहीं केवल तात्पर्य यह है कि राजा को ऐसा नहीं करना चाहिये कि पूजा पाठ में लगा रहे और प्रबन्ध छोड़ दे। राज्य का प्रबन्ध अन्य सब बातों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। कल्पना कीजिये कि सन्ध्योपासन के लिये जाने के समय ही राजा पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया। तो उस समय आक्रमण का प्रतीकार करे, सन्ध्या छोड़ दे। आशय को लेना चाहिये केवल शब्दों पर नहीं जाना चाहिये।

[९]

शङ्का

मन को "नाभिप्रदेश में वा हृदय, नेत्र, कण्ठ, शिखा अथवा पीठ के मध्यहाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवें।" स० प्र० पृ० ११८॥

जब श्री स्वामी जी शिखादि में मन लगाने का परामर्श देते हैं तो क्या हम मूर्ती में मन लगाने से कोई अधर्म करते हैं? जैसे शिखादि में मन लगाना वैसे मूर्ती में मन लगाना, कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिखा भी जड़ है और मूर्ती भी जड़ है। तो फिर स्वामी जी मूर्ती पूजा का क्यों खडन करते हैं?

समाधान

मन का प्राण से सम्बन्ध है। जहाँ प्राण रुकेगा वहीं मन भी रुक जायगा। अतः मन को स्थिर करने से तात्पर्य यह है कि अमुक अमुक भाग में प्राणों को रोकना चाहिये। प्राणों को रोकने से मन भी स्थिर हो ही जायगा। यह बात मूर्ति में संभव नहीं। शिखा का अर्थ है शिखा का मूल स्थान न कि बाल।

[१०]

शङ्का

"जब महा प्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादिक्रम अर्थात जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है अग्न्यादि क्रम से, और विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है अर्थात् जिस जिस प्रलय में जहां जहां तक प्रलय होता है, वहां वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।" स० प्र० पृ० १४१॥

स्वामी जी लिखते हैं कि परमेश्वर के काम बिना भूल चूक के होने से सदा एक से रहते हैं (स० प्र० पृ० ४०) पर ऊपर का लेख तो उसके सर्वथा विरुद्ध है। कभी कहीं तक प्रलय होता है कभी कहीं तक, कभी कहीं से सृष्टि होती है कभी कहीं से। क्या यह ईश्वरीय नियम का बदलना नहीं है ? मेरी समझ में तो यह है कि यदि प्रकृति के किसी भी कार्य अस्तित्व है तो वह प्रलय ही नहीं है।

समाधान

इसमें भूल चूक का प्रश्न नहीं उठता। हमारे शरीर में भी प्रलय सदा होती रही है। कभी किसी अङ्ग की कभी किसी अङ्ग की। बच्चों के दूध के दांत गिर कर फिर निकल आते हैं। बुड्ढों के नहीं निकलते। अर्थात् शरीर में भी सम्पूर्ण मृत्यु और आंशिक मृत्यु हुआ करती है। इसी प्रकार कभी प्रलय और कभी महा प्रलय।

[११]

शङ्का

"जैसे राई के सामने पहाड़ घूमें तो बहुत देर लगती है और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता।"

स० प्र० पृ० १४७॥

यह दृष्टान्त मेरी समझ में नहीं आता कृपया और स्पष्ट कीजिये।

समाधान

कहना यह है कि छोटी वस्तु को बड़ी के चारों ओर घुमाना तो बुद्धिमत्ता है और बड़ी चीज़ को छोटी के चारों ओर घुमाना बुद्धिमत्ता नहीं। राई तो पहाड़ के चारों ओर घूम सकती है परन्तु पहाड़ राई के चारों ओर नहीं घूम सकता। जब सूरज बड़ा है और पृथ्वी को ही सूरज के गिर्द घूमना चाहिये, न कि सूरज को पृथ्वी के गिर्द।

[१२]

शंका

"(प्रश्न) सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु है और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं ? (उत्तर) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं।"

स० प्र० पृ० १४८॥

सूर्य तो आग का गोला है, इसमें मनुष्यादि सृष्टि कैसे हो सकती है।

समाधान

यों तो पृथ्वी भी आग का गोला है। परन्तु जिस प्रकार पृथ्वी के गर्म और ठंडे दोनों प्रदेशों में भिन्न भिन्न प्रकृति के प्राणी रहते हैं। उसी प्रकार सूरज में रहने वालों की प्रकृति पृथ्वी के प्राणियों की प्रकृति से भिन्न होगी।

[१३]

शंका

"विना अपराध शाप भी नहीं लग सकता।" ॥ स० प्र० पृ० २१७॥

क्या थोड़े अपराध पर बहुत बड़ा शाप लग सकता है ? क्या शाप का सिद्धान्त ठीक है ? यदि किसी ने अपराध किया है तो ईश्वर उसे अवश्य ही दण्ड देगा। तब क्या किसी के शाप से ईश्वर उसे उसके अपराध से अधिक दण्ड दे देगा? यदि ऐसा करे तो अन्यायी हो जाय।

समाधान

शाप का केवल यह अर्थ है कि दूसरे का बुरा चाहना! केवल हमारे बुरा चाहने से किसी का बुरा नहीं हो जाता। यदि हमने शाप दिया और उसके भी ऐसे खोटे कर्म थे कि जिनके अनुसार उसको बुरा फल मिलता तो अकस्मात् हमारा शाप ठीक हो जायगा। अर्थात् यद्यपि उसको बुरा फल उसके ही अपराध के कारण मिलेगा और उस फल में हमारे शाप के कारण किंचित् भी घट बढ़ नहीं सकता तथापि इन दोनों घटनाओं का आकस्मिक संयोग हो सकता है बस इतना ही, अधिक नहीं।

[१४]

शंका

[प्रेषक—सुन्दरसिंह राठौर, बसरा]

संसार भर के मनुष्यों की कुल संख्या करीब १॥ अर्ब है। चौपाये, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, चीटियां, तथा बरसाती और खलिहानी कीड़े मनुष्यों से करोड़ों गुना अधिक होंगे। दूसरी ओर मुट्ठी भर वायु को लो उसमें असंख्य प्राणी हैं। फिर समस्त संसार की वायु पर विचार करो। एक बूँद रक्त में देखो अगण्य जीव हैं फिर सब शरीर के रक्त और सारी दुनियां के मनुष्यों तथा प्राणी मात्र के रक्त का अन्दाज़ा लगाओ। कीचड़ या पानी की एक छोटी सी बूंद में देखो कितनी बस्तियां हैं फिर सारी सृष्टि के तालाबों, नदियों तथा बड़े बड़े महासागरों में गोते लगाओ क्या कोई ऐसा गणित है जिससे वहां के जीवों की गणना हो सके। एक गज़ ज़मीन में देखो कितनी संख्या में वृक्ष, वनस्पति तथा घास है फिर समस्त भूमंडल के अचल जीवों पर मस्तिष्क भिड़ाओ। (जे० सी० बोस की तहकीकात पत्थरों तथा दूसरी धातुओं में जीवन की विद्यमानता छोड़ दीजिये)

आवागमन के गोरखधंधे के अनुसार उपरोक्त समस्त प्राणी एक न एक दिन अपनी भोग योनि समाप्त करके मनुष्य योनि (कर्म योनि) में आवेंगे। भला विचारिये वह मनुष्य योनि जिसकी ज़्यादा से ज़्यादा तादाद १॥ या दो अर्ब हो सकती है कितने कल्पांत में सब जीवों को अपने अन्दर से गुज़ार सकती है, साथ ही वह जत्था जिसकी बारी सबसे पीछे होगी उसने कौन से विचित्र कर्म किये होंगे ?

बहुधा आवागमन के रचयिता यह प्रमाण उपस्थित करते हैं कि ईश्वर न्यायकारी है उसने किसी को अमीर किसी को गरीब, किसी को ब्राह्मण किसी को शूद्र, किसी को विद्वान् किसी को मूर्ख, किसी को बाबू किसी को मजूर, किसी को रोगी, किसी को निरोगी इत्यादि क्यों बनाया।

आवागमनियों को विचारना चाहिये कि धनी निर्धन, सेठ मजूर, ब्राह्मण, शूद्र का होना, ईश्वर की दयालुता या कर्मफल हैं। अथवा सोसाइटी के संगीन शिकंजे हैं, मनुष्यों का वह भाग जिसने आरम्भ में या वर्तमान में दंभ या छल से शक्ति प्राप्त कर ली है वह दूसरों की शक्तियां विकसित होने का अवसर ही नहीं देता। आवागमन मुख्यतया इसी शक्तिशाली भाग का इलहाम है। थोड़ा रूस की तरफ देखो वहां कोई गरीब अमीर, ब्राह्मण, शूद्र, सेठ, मजूर नहीं है क्या वहां आवागमन नहीं होता, थोड़ा बहुत बुद्धि में फर्क जो होता है उसका भी कारण परिस्थिति है। बहुधा एक वकील का लड़का वकील एक डाक्टर का लड़का डाक्टर तथा एक मजूर किसान का लड़का मजूर किसान ही पाया जाता है। इसका यह कारण नहीं कि एक वकील मरकर वकील और किसान मर कर किसान के यहां पैदा होता है यह परिस्थिति है जो ऐसा बना देती है। यदि दुनिया में सामान्यता का व्यवहार हो जाये तो अमीरी, गरीबी, मजूरी, वकालत ब्राह्मण शूद्र में जो कर्मफल की विद्यमानता है उसका सवाल ही न उठे?

एक और बड़ी दलील जो सबसे पहिले शायद स्वामी दयानन्द पर उतरी है यह है कि बच्चा पैदा होते ही दूध कैसे पीने लगता है यह पूर्व जन्म का संस्कार है (इसी को लेकर पं० चमूपति अपनी पुस्तक जवाहर जावेद में लिखते हैं कि मुसलमानों से आज तक इसका जवाब नहीं आया "वाकई दलील भी कुछ ऐसी ही अकाट्य है।")

"१—मुसलमान 'हरकिशक आरद काफिर गर्दद के कायल हैं' वह कुरान के बाहर नहीं जा सकते, हिन्दू किसी ऐसे वाक्य के कायल नहीं हैं जो तर्क या युक्ति शून्य हो उनका उचित शंका उठाना ही हिन्दू धर्म की विशालता का प्रमाण है और उसका समाधान करना धर्माचार्यों का कर्त्तव्य है।"

२—मनुष्य का बच्चा पैदा होते वक्त थन में दूध पीता है फिर जीवन पर्यंत यानी ७०-८० वर्ष तक थन में दूध नहीं पीता बाद मर कर फिर पैदा होने पर ७०-८० वर्ष के कबल की घटना जीव को बराबर याद आ जाती है परन्तु नौ

दस महीना के पूर्व की उसको कोई घटना याद नहीं रहती ।

महात्मा नारायण स्वामी जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मृत्यु और परलोक" में विविध युक्तियों से यह बात सिद्ध की है कि मनुष्य के मरने तथा गर्भ में आने का जो समय होता है वह इतना थोड़ा होता है कि मिनटों सेकिंडों से भी कम होता है। (देखो मृत्यु और परलोक पृ० ५५)

यहां यह सवाल उठता है कि, एक विद्यार्थी २४-२५ वर्ष की आयु में बी० ए० या शास्त्री परीक्षा पास करता है, कारणवश उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है, सेकिंडों के अन्दर वह गर्भ में आ जाता है। पैदा होने पर फिर उसे नीची कक्षा से शुरू करके क्रम अनुसार बी० ए० तक पहुंचना पड़ता है। पं० चमूपति की दूधवाली व हंसनेवाली नजीर एक अक्षर की भी मदद नहीं देती।

मनुस्मृति में लिखा है कि मनुष्य अमुक पाप करने से गाय की योनि में जाता है अमुक पाप करने से बैल, घोड़ा, सुअर का चोला प्राप्त करता है इसी तरह जंगम स्थावर होने का विधान है, दूसरी तरफ स्वामी दयानन्द अपनी पुस्तक आर्य्याभिविनय में पचासों वेद मन्त्रों द्वारा ईश्वर की प्रार्थना बताते लिखते हैं प्रभू हमको धन धान्य, पशु, गाय, घोड़े इत्यादिक सब मंगलकारी पदार्थ देने की कृपा करो।

यदि वास्तव में आवागमन का चक्कर सही है तो ईश्वर बगैर पाप किये किसको गाय, घोड़ा, सुअर, आम, कटहल सब्जी दाल घास की योनि में भेज दे ईश्वर से जब कोई किसी चीज़ की प्रार्थना करता होगा तब वह हंसता होगा और कहता होगा भाई वास्तव में तुमको इन चीजों की आवश्यकता है तो तुम क्यों नहीं मनुस्मृति के अनुसार लोगों से पाप कराते जिससे ज्यादा से ज्यादा तादाद में गाय, घोड़ा, सब्जी, दाल की योनि में लोग दाखिल हों "मैं (ईश्वर) आवागमन के बंधन से मजबूर हूँ।"

(शेष फिर)

समाधान

यहां शंका करने वाले महाशय ने एक ही साथ अनेक समस्याओं को उलझा दिया है और बिना अपना सिद्धान्त स्थापित किये मखौल उड़ाया है, नियम तो यह होना चाहिये कि जब किसी सिद्धान्त की सत्यता की मीमांसा करना चाहें तो उसको और उसके विरोधी सिद्धान्त को साथ साथ रख कर उन पर तुलनात्मक विचार करें। यदि ऐसा न करेंगे तो वितण्डा हो जायगा। वितण्डा का लक्षण ही यह है कि अपने मत की स्थापना किये बिना ही दूसरे के

मत का खण्डन किया जाय। आपकी शंका से दो बातें ज्ञात होती हैं—

(१) आपको विश्वास नहीं है कि ईश्वर कर्मों के अनुकूल सुख दुख देता है।

(२) प्राणियों के सभी वर्तमान भेद परिस्थिति के कारण से हैं। अर्थात् चूंकि भिन्न २ प्राणी भिन्न २ परिस्थिति में हैं अतः उनकी दशा भी भिन्न२ है।

यदि आप कर्म-फल के जाल से छुटकारा पाना चाहते हैं तो चलिये छुट्टी हुई। फिर तो आप समस्त मानवी प्रगतियों के लिये कोई प्रेरक शक्ति ही नहीं छोड़ते। 'धर्म' अधर्म' या आप पुण्य शब्दों से अप्रसन्न हैं। अच्छा "उचित अनुचित" ही सही। कहिये उचित, अनुचित का कोई भाव आप के या आपके अनुकूल दूसरों के मन में है या नहीं। अगर है तो उसकी आधार शिला क्या है? क्यों मनुष्य चाहता है कि मैं उचित करूं और अनुचित न करूं। या दूसरे लोग उस के साथ उचित करें अनुचित न करें।

आप भिन्न२ प्राणियों की भिन्नता का कारण परिस्थिति को बताते हैं। परन्तु यह नहीं सोचते कि परिस्थिति भी तो भिन्नता के अङ्गों में से एक है। परिस्थिति की भिन्नता भी तो एक भिन्नता है जिसका कारण बताना चाहिये। एक अवयव को कारण बताना ठीक नहीं। आप का शायद यह विचार है कि मनुष्यों ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है जिसके कारण लोगों को सुख या दुख हो रहा है। अच्छा उन प्राणियों के सुख या दुख के विषय में क्या कहेंगे जो मनुष्यों की उत्पन्न की हुई परिस्थिति से सर्वथा बाहर हैं और किसी प्रकार भी उससे प्रभावित नहीं हो सकते। जैसे प्रशान्त महासागर के नीचे की मछलियां। वस्तुतः परिस्थिति कुछ अंशों तक प्रभाव डालती है सर्वांश में नहीं। इसका मोटा सा प्रमाण यह है कि यदि परिस्थिति ही सब कुछ हो और यदि प्रत्येक प्राणी परिस्थिति का सर्वांश में दास हो तो उस परिस्थिति का परिवर्तन ही कभी न हो सके। आप रूस का दृष्टांत देते हैं। यदि परिस्थिति ही सब कुछ होती तो लैनिन आदि वहां उत्पन्न ही न हो सकते। जिस परिस्थिति में अन्य रूसी थे उसी में टालस्टाय भी था। इसलिये परिस्थिति को केवल एक अङ्ग ही मानना चाहिये' वस्तुतः यदि परिस्थिति के भावका विश्लेषण किया जाय तो यह सब अवस्थाओं का एक जाति वाचक या सामूहिक नाम ही सिद्ध होगा। परिस्थिति क्या चीज है? यही न कि हमारा घर, हमारा, समाज, हमारा शरीर, हमारा देश, हमारी अन्य बातें अमुक प्रकार की हैं। यह सब अमुक

प्रकार की क्यों हैं ? इसका क्या उत्तर है ? आप कह सकते हैं कि अमुक पुरुष राजा है और अमुक दरिद्र। क्योंकि दोनों की परिस्थितियां एक सी नहीं हैं। परन्तु आप यह नहीं सोचते कि इन परिस्थितियों की भिन्नता का नाम ही तो राजपन और दरिद्रपन है। 'परिस्थिति' शब्द ने समस्या को हल नहीं किया। केवल समस्या को एक और रूप दे दिया है।

आप ने पुनर्जन्म विषय पर कुछ आपत्तियां उठाई हैं—पहिली आपत्ति तो प्राणियों की संख्या है 'परंतु प्राणी वस्तुतः इतनी संख्या में नहीं हैं जितना आप समझते हैं। जब तक आप एक नगर के कीट पतंगों को गिन कर दूसरे नगर को चलेंगे उस समय तक यह कीट पतंगे मर कर दूसरे नगर को चल पड़ेंगे और आपकी पुनर्गणना में शामिल हो जायंगे। कितने प्राणी हैं जो दिन में कई बार जीवन बदल देते हैं। फिर आप प्राणि-गणना ही कैसे कर सकेंगे। जब तक आप ठीक ठीक गणना न करें उस समय तक आपकी आपत्ति भी निराधार ही रहेगी आपने यह तो हिसाब लगा दिया कि जितनी आयु मनुष्य की है उतनी आयु कितने अन्य प्राणियों की है और वह बहुसंख्य हैं या अल्पसंख्य। जब तक यह निश्चित नहीं हो सकता, शंका के खड़े होने के लिये स्थान नहीं है। न तो समस्त विश्व के प्राणियों का हमको ज्ञान है। न एकही स्थान के एक दिन के सब प्राणियों का। फिर हिसाब किस आधार पर लगाते हैं। हाँ इस सम्बन्ध में एक बात कह दूं। वह यह कि यदि सर बोस महोदय सभी जड़ पदार्थों में जीव मानने लग जाय तो उनके जीव के लक्षण भी कुछ और ही होंगे और अपने सिद्धांत के वे स्वयं ही उत्तर दाता हो सकते हैं। हम तो जड़ और चेतन जगत में भेद मानते हैं।

बच्चे के दूध पीने की दलील आप स्वामी दयानन्द पर उतरी हुई बताते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द से सैकड़ों बर्ष पूर्व गोतम ने अपने न्याय दर्शन में इसी दलील को दो सूत्रों में लिख दिया था:—

(१) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्ष-भय-शोक सम्प्रतिपत्तेः। (न्या० ३।१।१९)

(२) प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ (न्य० ३।१।२२

अर्थात् नवजात बच्चे में हर्ष-भय-शोक तथा भोजन की अभिलाषा पूर्वजन्म के अभ्यास तथा स्मृति का फल है।

जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसको हर्ष-शोक और भय होता है। यह हर्ष, शोक, या भय शारीरिक दृश्य नहीं है किन्तु आत्मिक हैं। बच्चे का मोटा, पतला, रूपवान या कुरूप होना और बात है और बच्चे का दुखित या हर्षित होना, रोना, हँसना और बात है। यदि आपके

विचार में यह पूर्व जन्म के अभ्यास का फल नहीं तो किस बात का फल है। श्री चमूपति जी ने ठीक ही लिखा होगा कि इसका किसी के पास उत्तर नहीं। आप इसका उत्तर दीजिये तब ही जांच हो सकती है।

आप पूछते हैं कि एक बी० ए० पास आदमी मर कर जब फिर जब जन्म लेता है ता उसे २५ वर्ष पहिली दूध पीने की बात क्यों याद रहती और २ वर्ष पहले का बी० ए० का कोर्स क्यों नहीं याद रहता। परन्तु इसका उत्तर तो आप की स्मृति और विस्मृति अर्थात् याद और भूल के मनोविज्ञान सम्बन्धी कारणों की विवेचना से ही ज्ञात हो जाता। आप दूर क्यों जाते हैं? इसी जन्म को लीजिये। पूर्व या अगले जन्म विवादास्पद हों भी। यह जन्म तो निर्विवाद ही सिद्ध है। क्या आपने कभी अनुभव किया है कि आपकी बीस वर्ष की बात क्यों याद आ गई और दिन पहले की क्यों याद न आई? जो कारण इसका है वही उसका भी है। एक माता अपने बच्चे को पुस्तक भी पढ़ाती है और मिठाई देने का बचन भी देती है। बच्चे को पाठ तो याद नहीं रहता लेकिन मिठाई का वायदा याद रहता है। क्यों?

आपने एक मोटी बात पर विचार नहीं किया। न्याय के सूत्र में 'अभ्यस्त' शब्द पड़ा है। हर्ष, शोक, भय और भोजन का तो आपको प्रत्येक दिन का अभ्यास रहता है लेकिन बी० ए० के कोर्स का नहीं। क्या आप कह सकते हैं कि आपने पाठ्य पुस्तकों का इतना ही अभ्यास किया है जितना हर्ष-शोक या भोजन की इच्छा का। जिसको आप २५ वर्ष पहली बात कहते हैं वह मृत्यु के क्षण भर पहले भी विद्यमान थी। इसके बी० ए० के कोर्स की तुलना करना ठीक नहीं। एक बात याद रखिये। बच्चे की "दूध पीने की इच्छा" "भोजन लेने की इच्छा" का पर्य्याय है।

एक आपत्ति आपने यह उठाई है कि वेद मन्त्रों में मंगलकारी पशुओं की प्राप्ति की प्रार्थना क्यों है। वस्तुतः हम यह तो प्रार्थना करते नहीं कि ईश्वर हमारी इच्छा पूर्ण करने के लिये लोगों को पशु योनि में भेज दे। हम तो यह प्रार्थना करते हैं कि जो जीव अपने कर्मों द्वारा पशु योनि में आये उनसे हम को कल्याण पहुंचे। इससे उनका आवागमन क्यों खण्डित हो गया? ईश्वर ने भिन्न भिन्न योनियां बनाई ही दो प्रयोजनों से हैं। एक तो उनके द्वारा उन उन जीवों के कर्मों का फल मिलता है। दूसरे उनके द्वारा दूसरे जीवों के कार्यों की सिद्धि होती है। यही तो ईश्वर की सृष्टि का मितव्यय (Economy) है।

ऊपर के फेर में

श्री चिन्तामणि "मणि"

"सात दिन बीत गया, पर अभी तक हला भला नहीं किया। भला देखो बहन! यह भी देवी देवतों का कर्म है।"

"नहीं, किन्तु मेरे विचार में एक बात आती है कि संभवतः तुमसे कोई कार्य बिगड़ तो नहीं पड़ा जिसके कारण-वश वह इस प्रकार रुष्ट हैं।"

"बहन! यद्यपि ऐसी बात तो नहीं है किन्तु संभवतः मेरी अनभिज्ञता में यदि मुझसे कोई कार्य बिगड़ पड़ा हो तो उसे चाहिए कि वह क्षमा कर दे। साथ ही उसे हमारी उस भूल को प्रकट तो करना चाहिये।"

"तुमने पूछा था।"

"आप भी पूछने को कहती हैं। आज तीन दिन से तो मैं हजार हजार प्रार्थनायें नित्य-प्रति किया करती हूँ, उसे मनाने की सैकड़ों कोशिशें करती हूँ। उसके पैरों पड़ती हूँ। उसको मुंह मांगा वस्तु देने का वचन देती हूँ, किन्तु··· इस कठोर-हृदया देवी का हृदय नहीं पसीजता। मेरा नन्हा बच्चा कैसी घोर पीड़ा सह रहा है। दर्द के मारे भयानक आर्तनाद कर उठता है। जिससे मेरा हृदय टूक टूक हो जाता है। परन्तु हा! यह निर्दया दया का नाम नहीं जानती।"

"देखो बहन! देवी देवता की बात ठहरी, मना चुना कर अपना कार्य निकालो इनसे झगड़ना, या अकड़ना अच्छा नहीं। तुम जितनी प्रार्थनायें करोगी उतना ही तुम्हारे लिये लाभकारी होगा। हमको प्रतीत होता है तुमसे अवश्य कोई कार्य नहीं बन पड़ा है। जिसके कारणवश वह रुष्ट है। अन्यथा आज यह समस्या न उपस्थित हुई होती। देखो, बहुत मनाने पर भी उसके मुँह नहीं सीधे होते।"

"क्या कहूँ बहन मुझसे कुछ कहा नहीं जाता। जैसा आप कहती हैं यदि मुझसे कोई अपराध हो ही पड़ा हो तो क्या वह उसे क्षमा करना नहीं जानती। क्षमा तो सज्जनों का भूषण है बहन!"

"तुम्हारा कहना सत्य है।"

"फिर वह मेरे अपराध यदि भूल में हो पड़े हों तो उसे क्षमा क्यों नहीं करती।"

"देखो बहन स्वाभिमान देवी देवतों की मर्यादा है। यही उनकी एक मात्र शक्ति है। यदि वे अपनी मर्यादा के लिये इस प्रकार का शस्त्र न रक्खें तो उनकी सुने ही कौन?"

"बहन! दीनों से तो अभिमान न करना चाहिये।"

'हां, परन्तु दीनता तो तुममें अब है।'

"संभवता आपका यह कहना मिथ्या है।"

"नहीं, अक्षर अक्षर सत्य है।"

"आप जैसा अनुभव करती हों।"

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा अनुभव सत्य है।"

"जो हो, परन्तु यदि मैं पहिले दीन नहीं थी तो अब दीन हूँ और अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती हुई उसके प्रायश्चित के लिये तैयार हूं। वह मेरे अपराध को क्षमा करती हुई मेरे प्राणरूपी पुत्र को मुक्त करें।"

उपर्युक्त बातें दो औरतों के बीच बस्ती के दूसरी ओर पर एक कच्चे मकान के दरवाज़े पर हो रही थी। इस मकान के भीतर एक छोटा सा बच्चा चारपाई पर पड़ा हुआ बेचैनी से कराह रहा था। उसको देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि वह बच्चा भयङ्कर रोग से ग्रसित है। उसके सम्पूर्ण शरीर में फफोले पड़े हुए थे। संभवतः यह गर्मी की अत्यधिकता का परिणाम था। परन्तु उसके मूर्ख माता पिता के मस्तिष्क में यह बात न आती थी कि यह एक भयंकर रोग है। उस नन्हें बालक की पीड़ा निरन्तर बढ़ रही थी। वह बीच बीच में भयंकर चीत्कार करता, माता हज़ारों मानतायें मनाती हुई अश्रुधारा प्रवाहित करती, पिता ऊपर के फेर में चक्कर काटता।

"ऊपर के फेर" जैसे शब्द से महानुभाव बहुत कम परिचित होंगे अतएव उसका सूक्ष्म विवेचन हम आप लोगों के समक्ष रक्खे देते हैं।

साधारण जनता ही नहीं, पढ़े लिखे लोग भी रोगी को चिकित्सक के पास नहीं ले जाते प्रत्युत तान्त्रिकों के फेर में पड़े रहते हैं और उनकी अन्तरात्मा में ईश्वर से अतिरिक्त शक्तियों का भाव ही नहीं वरन् उनका उनपर दृढ़ विश्वास रहता है। भूत, प्रेत, जादू, मन्तर तथा बहुदेवतावाद आदि सब उनकी दृष्टि में सत्य हैं। ऐसे लोगों का कथन है कि जिस प्रकार एक राजा के लिये सेना, सवार, पुलिस पैदल आदि बाह्य शक्तियों की व्यवस्था है उसी प्रकार ईश्वर ने अपने लिये भूत, प्रेत, देवी, देवता आदि को रख छोड़ा है। परन्तु उन महानुभावों को यह विदित नहीं कि बाह्य शक्तियों की आवश्यकता एकदेशी को है सर्वदेशी को नहीं। ईश्वर तो घटघट व्यापी है। यदि यह कहा जाय कि नहीं उसे आवश्यकता ही है तो उसकी सर्वव्यापकता में दोष आ जाता है।

रोगी को औषधि चाहिये। जिससे रोग की शक्ति क्षीण हो। परन्तु ऐसे लोग रोगी को औषधि न देकर मिथ्या प्रपंचों में पड़ते हैं। जिससे रोगी भयंकर रोगग्रस्त हो अधिक कष्ट सहता है। इस प्रकार बहुत बार कष्ट सहने पर भी लोग नहीं सोचते कि यह हमारी कैसी भयंकर भूल है। इसी बहुदेवतावाद या तन्त्र मंत्र को "ऊपर का फेर" कहते हैं।

[२]

जब सान्ध्य सूर्य की कनक किरणें दिगन्त से अपनी आभा समेट चुकी थीं।

जब नभचर किल्लोलें करते हुए आकाश मार्ग से अपने अपने पर्णकुटियों को लौट रहे थे। मनुष्यजन अपने अपने घरों के दरवाज़ों पर छिड़काव के साथ पलंग पर श्रमजीवी हो रहे थे। तब चन्द्रदेव उदयाचल मार्ग से धीरे धीरे क्षितिज पर चढ़ते दिखाई दिये। तब तारागण मन्द मन्द मुस्कराहट के साथ हँसने लगे। तब पवनदेव प्रशान्त वदन हो विश्राम कर रहे थे। तब बस्ती के एक गृह से एक व्यक्ति अपने नन्हें बच्चे को कलेजे से लगाये हुए निकला और एक ओर जूतों से टपाटप आवाज़ करता हुआ चल पड़ा। उसका मन शुष्क था। उसके मुख पर चिन्ता की ज्वाला भभक रही थी। उसका बदन पसीने से शराबोर था। वह जल्दी जल्दी चलकर एक गृह के दरवाज़े पर रुका। यह सत्य है कि उसके नेत्रों में अश्रुबिन्दु भी झलक जाते थे।

उस गृह के अन्दर रोशनी के प्रकाश में तीन व्यक्ति बैठे दिखाई दिये। उन तीनों के हाथ में मिट्टी के करवे थे। सामने एक बोतल रक्खी हुई थी। आगन्तुक को देखते ही उनमें से एक व्यक्ति उठा और बाहर आकर उसने एक चारपाई बिछा दी। वह व्यक्ति उस पर बैठ गया।

कुछ क्षण तक वह व्यक्ति वहीं बैठा रहा। तत्पश्चात उसको भी अन्दर बुलाया गया। वह बच्चे को लेकर अन्दर गया और एक ओर जा बैठा।

अन्दर जाकर उसने देखा एक ओर फूल का ढेर लगा हुआ है। जहाँ फूल रक्खा हुआ है, वह ज़मीन शुद्ध और स्वच्छ है अतएव वहां पर पहले बैठे हुए उन तीनों व्यक्तियों में से एक ने उन फूलों में से फूलों का एक हार निकाला और उस शुद्ध और स्वच्छ ज़मीन पर एक धूह पर चढ़ा दिया। इस धूह को देवी की चौरी कहते हैं। तत्पश्चात् आग मंगवाई और उसी चौरी के पास रख कर उस पर कुछ सुगंधित पदार्थ डाला। समस्त गृह सुगंधमय हो गया।

सुगंधित पदार्थ के फैलते ही वहां एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया। पहले बैठे हुए तीन व्यक्तियों में से एक व्यक्ति उठकर नाचने कूदने और गाने लगा।

इस तरह वह लगभग एक घंटे तक बराबर गाता रहा परन्तु उसका गाना समाप्त न हुआ। अतः वहां पर बैठे हुए दूसरे व्यक्ति ने चाहा कि रोकें क्योंकि जिस कार्य के निमित्त हम लोग यहां एकत्र हुए हैं उसका आरम्भ नहीं हुआ है। परन्तु तीसरे बैठे हुए व्यक्ति ने उसे क्षण भर और ठहर जाने को कहा।

लगभग आध घंटे के पश्चात् वह पुनः उठा और हाथ जोड़ कर बोला—"माता, हम लोग तेरी सेवा में बड़ी देर से बैठे हैं। पर तूने अभी तक अपने शरण में स्थान नहीं दिया है।"

उसने इसकी बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया और अपने गाने की धुन में मस्त रहा।

अब आगन्तुक बोला, "माता, आज आठ दिन व्यतीत हो गया, क्या कारण है कि हम पर कृपादृष्टि नहीं हो रही है।"

अब उसने अपनी रागिनी बन्द की और कहा, "तेरी प्रार्थना तो मैं सुनना ही नहीं चाहती थी, परन्तु मेरे भक्तों की प्रबल इच्छा देख मुझे विवश होना पड़ रहा है।"

व्यक्ति ने पूछा, "माता हमसे कौन सा अपराध बन पड़ा, जो हमारी प्रार्थना सुननी आपको स्वीकार नहीं है।"

"अरे, अपराध ! अपराध तो तूने और तेरी उस लक्ष्मी ने ऐसा किया है कि जिससे मेरी अन्तरात्मा अति प्रसन्न है। मेरी इच्छा नहीं होती कि मैं तुम लोगों की ओर फूटी आंख देखूँ। भले ही किया जैसा किया वैसा आप ही भोग रही है और तुझे भी मालूम हो गया होगा। अब देखूंगी मैं कि तेरे बच्चे की कौन रक्षा करता है।"

"माता, अच्छा यदि हम लोगों से अपराध बन पड़ा है तो उसे क्षमा करें। हम लोग तो आपके अबोध बच्चे हैं। बच्चों से अपराध होना तो स्वाभाविक है। बच्चों की रक्षा का भार तो माता के हाथों में ही रहता है।"

"अरे यह संसार का नियम है रे, जब मुसीबत पड़ी तब बच्चे बन जाते हैं, अन्यथा अभिमान में मदोन्मत्त होकर किसी की परवाह ही नहीं करते। वही दशा आज तेरी है।"

"माता आपका कहना वस्तुतः सत्य है, किन्तु साथ ही इसके यह भी सत्य है कि बच्चे मां के बल पर ही अभिमान करते तथा मदोन्मत्त होते हैं। बस, अब मां रहम करो और मेरे इस नन्हें बच्चे का क्लेश हरो।"

"अच्छा, जा दुःख दूर हो जायगा।"

[२]

प्रातःकाल का समय था। निशादेवी का साम्राज्य पृथ्वीतल से विलुप्त हो चुका था। सूर्यदेव उदयाचल मार्ग में चमक चुके थे। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। प्राणीजन अपने नित्य नैमित्तिक कार्य में निरत हो रहे थे। ऐसे समय ही एक भीषण आर्त्तनाद सुनाई पड़ा। भयानक कोलाहल मच गया।

कुछ क्षण तक विकट चीत्कार मचता रहा। तत्पश्चात धीमे धीमे स्वर में परन्तु रोमांचकारी रोदन होने लगा। लगभग कई घण्टे तक यही समस्या उपस्थित रही।

लाला दयाल शंकर के कई पुत्रों में से एकमात्र यही पुत्र बच रहा था। आज वह भी उनसे सदैव के लिये विलग हो गया। बेचारे पुत्रहीन हो गये।

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय ३ ब्राह्मण १

(१)

अनुवाद

८—स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेदेवं तत्तस्मात्प्रतप्य—प्रतप्य प्रयच्छति ।

८—वह मांज मांज कर और तपा तपा कर (अध्वर्यु को) देता जाता है। जैसे वर्तनों को पहले छूकर (पकड़ कर) मांजते हैं और बिना छुये (बिना पकड़े) धोते हैं उसी प्रकार वह तपा तपा कर देता जाता है।

९—स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि। अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्माद्यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक—इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एत्यनूच्य इतरास्तस्मात्स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टंयथेतराः स्रुचः ।

९—वह पहले स्रुवों को मांजता है फिर स्रुकों को। 'स्रुक्' स्त्रीलिङ्ग है और 'स्रुव' 'पुलिङ्ग'। इसलिये यद्यपि कई स्त्रियां साथ साथ चलती हैं तब भी यदि उनमें चाहे एक बच्चा भी पुरुष हो तो वह आगे चलता है। और शेष सब पीछे चलती हैं। इसलिये वह स्रुव को पहले मांजता है और स्रुकों को पीछे।

१०—स वै तथैव सम्मृज्यात्। यथाग्निं नाभिव्युक्षं यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेदेवं तत्तस्मादु तथैव सम्मृज्याद्यथाग्निं नाभिव्युक्षेत प्राङिवैवोत्क्रम्य ।

१०—वह इस प्रकार मांजे कि कुछ आग में न पड़ जाय। क्योंकि जिसको भोजन ले जायगा (अर्थात् अग्नि को) उस पर पात्र की अशुद्धि का अंश पड़ जायगा। इसलिये वह बर्तनों को इस प्रकार मांजे कि अग्नि में कुछ न पड़े। अर्थात् पूर्व की ओर हट कर।

११—तद्धैके। स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति वेदस्याहाभूवन्त्स्रुच एभिः सममार्जिषुरिदं वै किञ्चिद्यज्ञस्य नेदिदं बहिर्धा यज्ञाद्भवदिति तदु तथा न कुर्याद्यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तं पात्रनिर्णेजनं पाययेदेवं तत्तस्मादु परास्येदेवैतानि ।

११—कुछ लोग स्रुकों के मांजने की घास को (आहवनीय) अग्नि में डाल देते हैं। उनका कहना यह है। "यह

वेद (यज्ञ) के थे, इनसे स्रुक मांजे गये। जो कुछ यज्ञ का है वह उससे बाहर न जाय।" परन्तु उसको ऐसा करना नहीं चाहिये। क्योंकि इससे वह जिसके लिये भोजन ले जायगा (अर्थात् अग्नि के लिये) उसको बर्तनों का मैल पिलायेगा इसलिये उसको दूर फेंक देना चाहिये।

१२—अथ पत्नीᳬ सन्नह्यति। जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतद्युक्ता मे यज्ञमन्वासाताऽइति।

१२—अब वह (यजमान की) पत्नी की (कमर में मूंज की रस्सी) बांधता है (मौंजी बन्धन कृत्य करता है)। यह जो पत्नी है वह यज्ञ का पिछला अर्द्ध-भाग है। "यह यज्ञ मेरे सामने बढ़ता ही जाय।" ऐसा वह विचार करती है जब मौंजी बन्धन किया जाता है और (अग्नीध्र मौंजी बन्धन के समय) विचार करता है कि "यह मेरे यज्ञ के पास कटि-बद्ध होकर बैठे।"

१३—योक्त्रेण सन्नह्यति। योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्त्यमेध्यं वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेनाज्यमवेक्षते तस्मात्पत्नीᳬ सन्नह्यति।

१३—मौञ्जी बन्धन योक्त्र* (एक रस्सी होती है) से किया जाता है। योक्त्र से ही योग्य (अर्थात् गाड़ी के बैल) को बांधते हैं। पत्नी का वह भाग जो टुण्डी के नीचे है अपवित्र है। इससे ही वह घृत की ओर देखती हुई बैठेगी। इस-लिये वह उसके उस भाग को रस्सी से छिपा देता है जिससे वह ऊपर के पवित्र भाग से ही वह घृत को देखे। इसीलिये वह गृह पत्नी का मौंजी बन्धन करता है।

१४—स वाऽअभिवासः सन्नह्यति। ओषधयो वै वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासःसन्नह्यति।

१४—वह कपड़े के ऊपर मौंजीबन्धन करता है। कपड़ा ही औषधियां का (अर्थात् कपास के वृक्षका प्रतिनिधि) है। और (मौंजी) वरुण की रस्सी है। इस प्रकार वह औषधि को उसके और रस्सी के बीच में रख देता है। इस प्रकार उस (पत्नी) को वरुण की रस्सी सताती नहीं। इसलिये कपड़े के ऊपर बांधता है।

*मूंज की रस्सी का नाम योक्त्र है और बैल का नाम "योग्य" है। 'योग्य' का अर्थ है (जुतने योग्य)।

———

क्या वेदोदय को बन्द करना पड़ेगा ?

इस समय वेदोदय बड़े आर्थिक संकट में है। इतने बड़े आर्थिक संकट में कि उसका चलना सम्भव नहीं मालूम होता। वेदोदय पर अब तक हम ढाई हजार रुपये का घाटा उठा चुके हैं। अगर यही स्थिति रही तो शायद साल के अन्त होते होते कई हजार घाटे की नौबत आ जावेगी।

वेदोदय से हम कभी लाभ की आशा नहीं करते। न हमने व्यापार के लिये इस पत्र को निकालना आरम्भ किया है। सेवा—केवल सेवा ही इसका एक मात्र उद्देश्य है और रहेगा। पर इतने बड़े घाटे का सहना सरल नहीं।

क्या आप हमारी सहायता न करेंगे

क्या हम आप से सहायता की आशा नहीं रख सकते ? पर आप किस तरह हमारी सहायता कर सकते हैं:—

(१) वेदोदय के स्वयं ग्राहक बने रहने से।

(२) अपनी समाज को इसका ग्राहक बनाकर।

(३) आपके नगर में यदि कोई पुस्तकालय हो तो उससे हमारा परिचय करादे।

(४) थोड़े से ग्राहक बना देने से।

शर्म की बात नहीं ?

क्या आर्य्यसमाज के लिये यह शर्म की बात नहीं है कि वह एक पत्र को आर्थिक संकटों से मुक्त न करसका। यदि समाज में कुछ जीवन होगा तो इसका अन्दाजा इसी बात से लग जायगा।

निराश नहीं

इतना होते हुये भी हम निराश नहीं हैं। हमारे मित्रों ने हमारी मदद की है और उनकी सहायता के सहारे अब भी यह कार्य्य जारी रखते हैं। यदि आपकी सहायता रही तो हमारी दशा उन्नत हो जावेगी।

Printed & Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.

वेदोदय का 'आर्य्यसमाज अंक'

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

एक साल का ३) श्री विश्वप्रकाश, बी० ए० एल-एल० बी० इस अंक का मूल्य ॥)

विषय सूची

१—दयानन्द आओ (कविता)—श्री विद्याभूषण जी 'विभु' १

२—गौरव-गान (कविता)—आर्य-समाज के प्रसिद्ध कवि "कर्ण" महोदय २

३—ऋषि के गुरु का गौरव—श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, डिङ्गा, पञ्जाब ३

४—विद्वत् समाज का भावी धर्म क्या होगा ?—श्री राज्यरत्न मास्टर आत्माराम जी, बड़ौदा ६

५—नवयुग का विधाता—श्री प्रो० शङ्करदेव विद्यालङ्कार, गुरुकुल विद्यामन्दिर, सूपा ११

६—सुख-दुःख—श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज १६

७—विलक्षण-विज्ञान (कविता)—कविवर, श्री हरिशरण जी श्रीवास्तव "मराल" बी० ए०, एल-एल० बी० मेरठ १७

८—आर्य-समाज के बलिदान की कहानी—श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी० २१

९—श्री १०८ स्वामी दयानन्द और योग—श्री पण्डित ठाकुरदत्त जी शर्मा वैद्य (अमृतधारा), लाहौर ३२

१०—आर्य-समाज और उसके दस नियम—श्री पण्डित गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ३५

११—वैदिक वाटिका—श्री पण्डित विश्वबन्धु जी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० आचार्य, दयानन्द ब्रह्म-महाविद्यालय लाहौर ४५

१२—आर्य्य-समाज का विद्या-प्रचार सम्बन्धी कार्य—श्री विश्वप्रकाश जी बी० ए०, एल-एल० बी० ५०

१३—विचारने की बातें (कविता)—श्री पण्डित राजाराम जी पाण्डेय 'मधुप' ६६

१४—वैदिक-धर्म—श्री राजकुमार रणञ्जयसिंह जी, अमेठी राज्य, अवध ६७

१५—कृत्रिम-जाति—श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ६८

१६—आर्य्य-समाज की अग्नि (कविता)—काव्य मनीषी श्री पण्डित सूर्यदेव जी शर्मा, साहित्यालङ्कार, एम० ए०, एल० टी० ६७

१७—आर्य्य समाज की मुख्य तिथियां ७१

१८—आर्य्य प्रतिनिधि सभायें ७२

१९—सम्पादकीय ७४

———

चित्र-सूची

(१)	श्री स्वामी विरजानन्द जी	मुख पृष्ठ
(२)	स्वामी दयानन्द जी	"
(३)	पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय	११ के सामने
(४)	प० गुरुदत्त एम० ए०	"
(५)	महात्मा हंसराज जी	"
(६)	प० लेखराम जी की मृत्यु-शय्या	२० "
(७)	स्वामी श्रद्धानन्द की मृत्यु-शय्या	२१ "
(८)	धर्मवीर म० रामचन्द्र की मृत्यु-शय्या	२८
(९)	स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज	२९
(१०)	डा० केशवदेव शास्त्री एम० डी०	३७ के सामने
(११)	त्याग मूर्त्ति म० हंसराज जी	५१
(१२)	महात्मा मुन्शीराम जी	५४
(१३)	श्री आचार्य्य रामदेव जी	५५
(१४)	श्री महात्मा नारायण स्वामी जी	५६
(१५)	लाला देवराज जी	५७
(१६)	कन्या महा विद्यालय जालन्धर के भवनों का दृश्य	५८
(१७)	कन्या महा विद्यालय जालन्धर की कन्यायें वाटिका में कार्य्य कर रही हैं	५९
(१८)	कन्या महा विद्यालय के भवन का दृश्य	६०
(१९)	गुरुकुल वृन्दावन की यज्ञशाला	६१
(२०)	गुरुकुल वृन्दावन का भवन	६२
(२१)	श्री राजकुमार रणञ्जयसिंह	६३
(२२)	आर्य्य समाज के प्रसिद्ध कवि "कर्ण" महोदय	६४
(२३)	राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी	६४

चमचम पर सम्मतियां

श्री० प्रो० व्रजराज जी M. A., B. Sc., LL.B. प्रधान मन्त्री, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, "चमचम को मैंने पढ़ा। इस बच्चों के पत्र का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। पत्र सुन्दर है और बच्चों को अवश्य प्रिय होगा। मैं श्री विश्वप्रकाश जी को इस उद्योग पर बधाई देता हूँ। विश्वास है इस पत्र का यथेष्ठ होगा।"

रायबहादुर बा० हीरालाल जी बी० ए०, एम० आर० ए०एस० रिटायर्ड डिप्टी कमिश्नर "हर्ष है कि बालकों के विनोदार्थ अब उनके पढ़ने योग्य पत्रिकाएं निकलने लगी हैं उनमें से 'चमचम' भी है इसके लेख बालकों के चित्त को आकृष्ट करेंगे और अपनी चमचमाहट से प्रफुल्लित कर देंगे।"

कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठी सम्पादक "वानर" "मनोहर चित्र, सुन्दर छपाई, बढ़िया काग़ज़ और बच्चों की रुचि को उकसाने वाले सरल और मजेदार भाषा में लिखे हुये लेखों को देखते हुये 'चमचम' अपनी श्रेणी के पत्रों में सब से अधिक चमकदार है।"

श्री ठाकुर श्रीनाथसिंह, बालसखा-सम्पादक—चमचम मुझे ख़ूब पसन्द आया। इसमें मुझे बहुत सी ऐसी बातें मिलीं जो बच्चों के दूसरे पत्रों में नहीं हैं। मेरे घर में चमचम के साथ ही दो छोटे बच्चे पहुंचे, और उसके लेने के लिये झपटे। अगर बीच में मैं अपना मज़बूत हाथ न डाल देता तो यह सुन्दर चीज़ देखने से मैं भी महरूम रह जाता।

आर्य-मित्र—ऐसे बाल-विनोद साहित्य की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता है, हर्ष है कि उसकी पूर्ति की ओर पण्डित गङ्गाप्रसाद उपाध्याय जैसे विद्वानों का ध्यान गया है जो सफल और सिद्धहस्त अध्यापक होने के कारण बाल-मनोवृत्ति से भली प्रकार परिचित है। अगर माता-पिता अपने बालकों को निरर्थक खिलौने न दिखा कर यह सार्थक खिलौना खरीद दें तो बड़ा ही लाभ हो।"

The Leader writes.

The illustrations, articles and poems have been selectecd carefully and make the joumal one of absorbing interest for the little children for whom it is intended."

अर्द्ध साप्ताहिक 'भारत' लिखता है—हमारा तो विश्वास है कि बाल-बालिकाएं इस साहित्यिक "चमचम" पर उसी प्रकार टूट पड़ेंगे जिस प्रकार कि वे सुप्रसिद्ध बङ्गला मिठाई 'चमचम' पर टूटते हैं।

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी०

गुरु और शिष्य

परिव्राजकाचार्य
श्री स्वामी विरजानन्द जी प्रज्ञाचक्षु
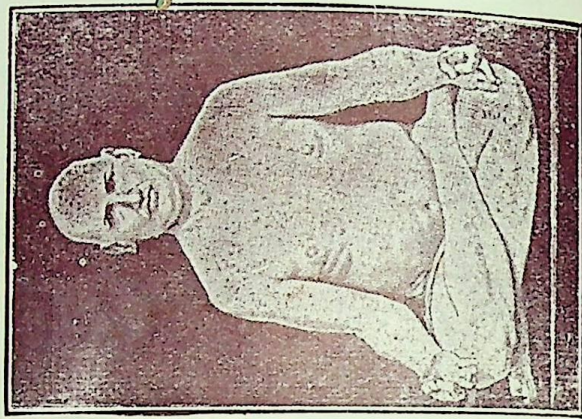
आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक
महर्षि दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

वेदोदय

का

आर्य्यसमाज अंक
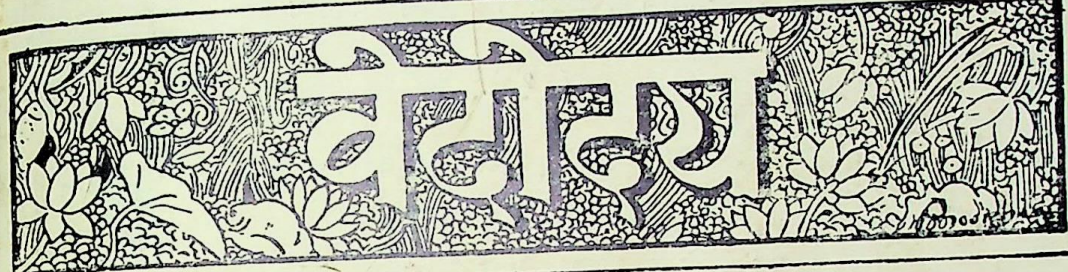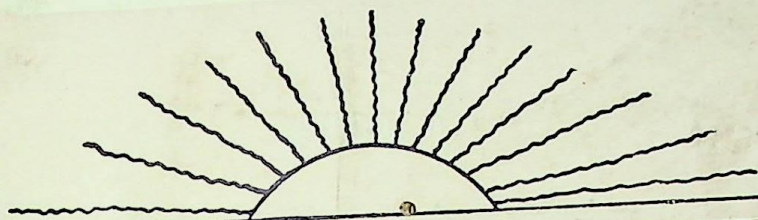
भाग ६ | दीपावली १९३२, दयानन्दाब्द १०८ | संख्या ३२

दयानन्द आओ आओ

[श्री पं० विद्याभूषण 'विभु']

प्रति-ध्वनि नित यह गूँज रही है, "दयानन्द आओ आओ"।
आओ मधुर ऋचाएँ गाते।
श्रुतियों का शुभ स्रोत बहाते।
वेदोदय हो गया विश्व में, देव सत्ययुग अब लाओ।
रजनी सजा आरती लाई।
घर घर दीपावली मनाई।
प्रकृति समोद प्रतीक्षा करती श्रीप्रकाश फिर फैलाओ।
वसुधा को वसुरूप बनाओ।
'विभु' की सत्ता को फैलाओ।
आओ आओ दयानन्द मुनि भारत स्वर्ग बना जाओ।

गौरव-गान

[आर्य्य-समाज के प्रसिद्ध कवि "कर्ण" महोदय]

(१)

किन शब्दों में याद करें हम, तुझको **दयानन्द** यतिवर !
तूने गौरव दिया देश को, सच्चा पथ दर्शक होकर ॥
पुनरपि आर्य्य जाति को जीवन, प्राप्त हुआ तेरे द्वारा ।
जो कुछ जागृति हुई-हो रही, इसका हेतु तुही सारा ॥

(२)

कर विशुद्ध **वेदोदय** तूने, वैदिक धर्म्म प्रचार किया ।
है वह तू जिसने जीवन भर, सच्चा पर उपकार किया ॥
दे दे कर उपदेश निरन्तर, तूने सर्व सुधार किया ।
कहते हैं सब, तूने ही तो, भारत का उद्धार किया ॥

(३)

नैया डूब चली [illegible] पनी, उसको तूने बचा लिया ।
प्राण [illegible] को थे, फिर से तूने जन्म दिया ॥
करन [illegible] न तू अपने, साथ नया जीवन लाया ॥
अथवा तू सङ्गठित रूप में, हमें देखने को आया ॥

(४)

सचमुच यदि देखा जावे तो, तेरे जैसा पुरुष प्रवर ।
जन्म लिया करते न वस्तुतः, बार-बार अवनी तल पर ॥
है वह तू जो मत-पन्थों की, जड़ को आकर हिला गया ।
अथवा **आर्य्य समाज** कमल-वन, को तू आकर खिला गया ॥

ऋषि के गुरु का गौरव
और
ऋषि का त्याग

[श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, डिङ्गा, पंजाब]

बहुत पुरातन काल की बात है—उस समय की, जिसे आज के लोग Pre-historic (इतिहासातीत युग) कहते हैं। उस समय इस देश में स्थान स्थान पर ऋषियों और मुनियों के आश्रम थे, जहां गृहस्थाश्रम के विषयों को निःसार समझने वाले लोग अपने परलोक सुधारने के साधनों में तत्पर रहते थे। जहां पर सुकुमार बालकों को ब्रह्मचर्य्य की कठोर भट्टी में तपा कर विमल निर्दोष कुन्दन की भांति देदीप्यमान करके निकाला जाता था। जहां सायं-प्रातः यज्ञ, हवन, शिल्पसाधन के साथ आत्मा-परमात्मादि गहन तत्वों का विवेचन होता था। उस पुनीत समय में एक आश्रम के कुलपति थे महर्षि वरतन्तु। महात्मा वरतन्तु विद्या के सूर्य्य थे, साक्षात् तप थे। उनकी कीर्त्ति दूर दूर तक फैली थी। देश देशान्तर से बड़े बड़े विद्वान्, निष्ठावान् उनके पास तप और विद्या की दीक्षा लेने आते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सब वर्णों के लोग अपनी सन्तानों को उनके पास विद्याग्रहणार्थ भेजकर अपने को धन्य मानते थे। ऋषि का आश्रम नाना देशों के तथा भिन्न २ स्वभाव के विद्यार्थियों, वानप्रस्थों आदि से सदा संकुल रहता था। ब्रह्मचारियों, जिज्ञासुओं के भोजन वस्त्र का प्रबन्ध ऋषि के अखुट भण्डारे से होता था। प्रतिवर्ष अनेकों वटु कृतविद्य होकर अपने अपने देश को लौट जाते थे। दक्षिणा में ऋषि प्रणामञ्जलि ही स्वीकार करते थे, किसी ने बहुत आग्रह किया, तो उसे किसी कर्त्तव्य विशेष का आग्रह करते थे। एक बा[illegible] के समय एक ब्राह्मण [illegible] आग्रह किया, [illegible] थे। [illegible] कि [illegible] जी लें। वह ब[illegible] की जी जान से सेव[illegible] उसकी सेवा से मुग्ध थ[illegible]मने जो निष्कपट सेवा की [illegible] दक्षिणा है।' किन्तु ब्रह्मचारी ने [illegible] ने बहुत हठ किया। उसके हठ से गु[illegible]जी को आवेश आया। आज्ञा की [illegible]च्छा, दक्षिणा देने की लालसा है [illegible]चारी विद्या का मूल्य आंकते हो। ज[illegible]म्हें हमने चौदह विद्याएं पढ़ाई हैं, इ[illegible]वास्ते चौदह करोड़ मोहरें (सोने की) द[illegible]णा लाओ।" बेचारा कौत्स (इतिहास में

वरतन्तु जी के शिष्य को इसी नाम से स्मरण किया गया है) घबरा सा गया, लेकिन किसी न किसी प्रकार दक्षिणा ला ही दी।

इधर आप आज से कोई सत्तर वर्ष के एक समावर्त्तन संस्कार का दृश्य देखिए। बन्दरों और पण्डों से संकुल मथुरा नगरी में अपने आप को ले चलिए। वहां एक बाजार में एक मंजिले मकान में एक अपूर्व दृश्य नयनगोचर होता है। एक आसन पर ८०-९० वर्ष का अत्यन्त जरठ पुरुष विराजमान है। शरीर क्या है ? मानों एक कंकाल है, अस्थि-पंजर ही है। [illegible] कद लंबा है। आँखें नहीं हैं, [illegible] सकी मुख छवि की [illegible] कर सकतीं। [illegible] सिष्ठ विश्वामि[illegible] महात्माओं की स्मृ[illegible] भूषा से यह मनस्वी [illegible] जंचते हैं। उनके सामने [illegible] बैठे हैं। जिनका शरीर [illegible] तप से कठिन है। वयस् नवीन [illegible] है। देखने से बहुत प्रवीण कि[illegible]त्य की मूर्त्ति भासते हैं। उनके हा[illegible] लौंगों की एक थाली है। दोनों में [illegible] आलाप हो रहा है। आओ सुनें।

[illegible]वान संन्यासी—महाराज गुरु जी, कृपा कर विनीत की तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए और शिष्य को जाने की आज्ञा दीजिए।

संन्यासी—दयानन्द जी ! हमारी विद्या का बदला क्या थोड़े से लौंग ही हैं ? [बाप रे बाप ! यह तो वरतन्तु से कठोर प्रतीत होते हैं।]

दयानन्द—गुरु जी ! मेरे पास आप को देने के लिए कुछ भी नहीं। आपके विद्या दान का बदला कौन चुका सकता है। मेरे हृदय की तो गांठें आपने खोल दी हैं। गुरु जी यह लौंग भी मैं मांग कर ही लाया हूं।

गुरु—क्या तुम समझते हो विरजानन्द तुमसे वह वस्तु मांगता है, जो तुम दे न सको। वत्स ! यह भूल है।

दयानन्द—महाराज ! यह शरीर आपके चरणों में है। तन-मन आपके अर्पण है। [तन देना आसान है, यह तो यो संयमी है, जो मन भी दिए डालता है।]

विरजानन्द—वत्स, जाओ ! संसार में अविद्यान्धकार फैल रहा है। वेदादि सत्यशास्त्रों का लोप हो गया, लोप हो रहा है। संसार में फिर से वैदिकधर्म का प्रचार कर अपनी विद्या को सफल करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। [बड़ा विचित्र संन्यासी है। सचमुच का संन्यासी है। अपनी कोई भी कामना

नहीं। इतिहास में ऐसे किसी गुरु का नाम नहीं है।]

दयानन्द—महाराज! आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है। आपका आदेश पूरा करने में दयानन्द अपने प्राणों तक का होम कर देगा। [यह कहकर सिर चरणों में धर दिया।]

विराजानन्द—जाओ वत्स! जाओ। 'शिवास्ते पन्थानः'। प्रभु तुम्हें सफलता प्रदान करे।

पाठक! इतना कह कर वह संन्यासी प्रणाम कर, गुरु की पद-रज माथे से लगा पुलकित हृदय कुटिया से बाहर आया।

किस प्रकार उसने गुरु की आज्ञा को निबाहा। उसके लिए १३ बार विष खाया, अन्त को प्राण तक दे दिए। ये सारे वृत्तान्त आबालवृद्ध प्रसिद्ध हैं।

विरजानन्द का गौरव है, दक्षिणा मांगते समय अपने आपको सर्वथा विस्मरण करना। दयानन्द की महत्ता है-गुरु के आदेश में ननुनच न करके समाधि सुख को भी त्याग देना। कितना बड़ा त्याग है। दयानन्द को गुरु के आदेश-पालन में कभी भी ग्लानि नहीं हुई; इसका एक ही प्रमाण देना पर्याप्त है। पूना में ऋषिराज का जुलूस निकाला गया। कई सज्जनों को यह न रुचा। उन्होंने ऋषि पर ईंट, पत्थर और कीचड़ फेंका। दयानन्द के एक भक्त बलदेव को क्रोध जो आया, उसने अपना दण्ड उठाया। ऋषि बलदेव के रक्तनयन, तप्त छवि देख कर क्या फ़रमाते हैं—[illegible]लदेव! क्रोध किन पर! अरे [illegible] हित-चिन्तन करते [illegible]

क्या [illegible] बल[illegible]राध्य का जोड़ा पैदा न [illegible]
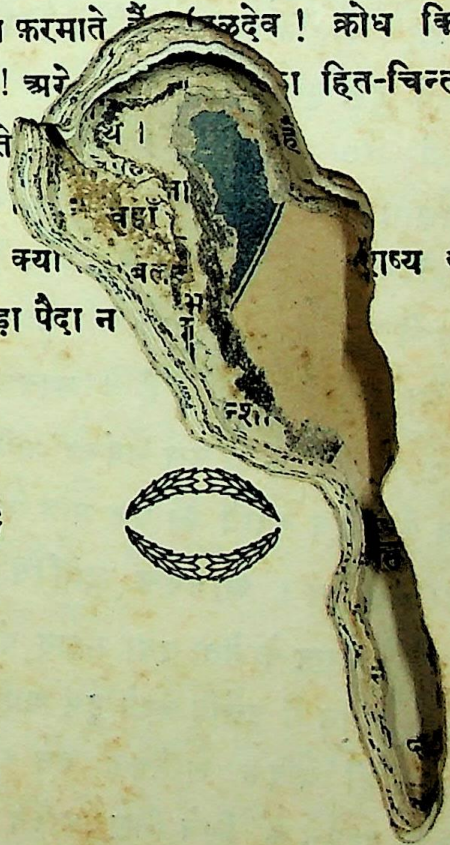
विद्वत् समाज का भावी धर्म क्या होगा ?

[आर्य्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान्, तपस्वी राज्यरत्न मास्टर आत्माराम जी, अमृतसरी. बड़ौदा]

स्वदेशीय तथा विदेशीय विद्वान् या विज्ञानी समाज का भावी धर्म क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर देने से पूर्व हमें यूरोप, अमेरिका के नामी विज्ञानी वा विद्वत् समाज पर ध्यान देना होगा। उक्त समाज आज से ५० वर्ष पूर्व नास्तिक था इसको सिद्ध करने की यहाँ जरूरत नहीं। दस वर्ष हुए तो लाहौर के देव समाज का एक अंगरेजी मासिक-पत्र बड़ौदा के एक दीवान साहेब के नाम आया। उन्होंने पृ... सब, ...के दे दिया— उसके मुख पृष्ठ ... groun-ded Reli... ...र्थात् 'विज्ञान नैया डूब चली ... समाज लाहौर— प्राम... ...वा है ? उसको ... करन ... ...sm वा भाषा में ना... अथवा ... हैं। सायंस वा विज्ञान ... उस भयंकर नास्तिक मत के ...व बढ़ाने का एक मात्र साधन भार... ा। आजकल अमेरिका में वि... ...गत के नेता तथा महान् पंडित स्व... ...ान में उन्नति करते हुए आस्तिक नह... ...हीं वैदिक आस्तिक बन रहे हैं इसको दर्शाने के लिये निम्न वाक्य देख लीजिये :—

"Science tells us that there is Law every where in the Universe, so if God is anything, He must be Law; when you search for laws in Nature, in man's mind and in the world of human affairs, you search for God ; when you obey physical, intellectual, moral and spiritual laws, you obey God. He is the eternal substratum of every thing. He is every where. His revelation is perpetually operative, manifest more or less according to the nature of the medium of revelation."

"*The Cultural world*" *California—America* (*June 1932*)

इसके साथ तुलना में आप निम्न दो वेद मंत्रों के भाव सोचें।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्
तपसोऽध्यजायत।
(ऋग्वेद)

अर्थ—(अभीद्धात), ज्ञानयुक्त (तपसः) ईक्षण वा कर्म से (ऋत) नियम (सत्य) सृष्टि हुई।

उक्त अंगरेजी लेख किस उत्तमता से उक्त अघमर्षण मंत्र का तत्व दर्शा रहा है वह पाठक सोच लेवें ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

(गायत्री मंत्र)

अर्थ—वह ईश्वर हमारी बुद्धियों में प्रेरणा करे वा करता है ।

His revelation is perpetually operative.

उक्त शब्द गायत्री मंत्र के उक्त भाव की पुष्टि किन निर्विवाद उत्तम शब्दों में कर रहे हैं यह पाठक जान सकते हैं ।

जो नास्तिक कहा करते थे कि ईश्वर सृष्टि बना कर सो रहा है । उनका खंडन विज्ञानी जगत जो कर रहा है वही तो गायत्री मंत्र कहता चला आ रहा है ।

महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ-प्रकाश में एक स्थल पर कुछ ऐसा लिखा है कि जब मनुष्य शुभ कर्म करने लगता है तो उसके मन में जो उत्साह रूपी भावना उत्पन्न होती है वही ईश्वरीय प्रेरणा है । इसके अतिरिक्त जिस समय मनुष्य कुकर्म करने लगता है तो भय शङ्का लज्जा के रूप में मानों Radium के बेतार की तरह ईश्वरीय प्रेरणा उसको रोकने के लिये काम करती है, यह भाव भी उक्त ग्रन्थ में है । इसलिये हम बल-पूर्वक कह सकते हैं कि विद्वत् समाज का जो भावी मुख्य सिद्धान्त वा धार्मिक तत्व होगा वह निसंदेह आस्तिकपन ही होगा ।

इसके अतिरिक्त दूसरा सिद्धान्त क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे ।

आजकल देश में मानसिक स्वतन्त्रता की चर्चा सब पत्रों में हम रात दिन पढ़ा करते हैं । आर्य्य समाज ईश्वर और वेद के सिद्धान्त लेकर जन्मा है । ईश्वर की सत्ता जो इस समय विज्ञानी जगत् मान गया उस [illegible] —अब हमें वेद के [illegible] र्थ । [illegible] करना होगा ।

[illegible] पनी पुस्तक Phys[illegible] द शब्द का अर्थ " [illegible] वा ज्ञान करते हैं । इस [illegible] उनको दोष नहीं देता । [illegible] भारत के वेदों को Encycloped[illegible] Rishika कहते हैं—इन शब्दों पर [illegible] सी को कष्ट नहीं ।

आर्य्य समाज के त[illegible] नियम में ऋषि दयानन्द जी ने वेद [illegible] "सत्य विद्या पुस्तक" लिख दिया [illegible] पर कोई अधिक चर्चा नहीं उठाई जाती ।

आक्षेपकर्ता—वादी कहता है कि इस समय जो वेद को 'अपौरुषेय' तुम कहो तो हम यह कहेंगे कि—

"वेद और कुरान इल्हामी पुस्तकों के वर्ग के होने से भयङ्कर मानवी मानसिक गुलामी के जनक हैं इसलिये कुरान और वेद को छोड़ कर ही हम मन से स्वतन्त्र हो सकेंगे।"

इसके उत्तर में हम कहेंगे कि एक मनुष्य खरा सोना लेने के लिये दो दूकानों पर जाता है। एक का नाम है "कुरान शरीफ़ की दुकान" और दूसरी का नाम है "वेद की दुकान" पहिली दूकान के सर्राफ़ मौ[illegible] साहेब ग्राहक को कहते हैं [illegible]मिनजानब अल्लाह है'। इ[illegible] सोने को ले स[illegible]क्या मैं कसौटी [illegible] इसकी परीक्षा क[illegible]।

मौ[illegible] [illegible]के शक आरद काफ़िर [illegible] दलील वा संवाद नहीं कर[illegible]त। लेना है तो ले लो नहीं घर जाओ[illegible]

[illegible] जिज्ञासु वेद की दुकान पर अब[illegible] है। यहाँ एक आर्य्य उपदेशक पाता[illegible]। यह भी कहता है कि वेद अपौरुषेय अर्थात मनुष्य कृत नहीं हैं ले लो।

जिज्ञासु—मैं वेद की एक एक बात को तर्क की कसौटी या संवाद वा शास्त्रार्थ वा प्रश्नोत्तर की आग पर परीक्षा करना चाहता हूं। यदि वह तर्क वा संवाद से सत्य सिद्ध हो जावे तब तो इस खरे सोने को ले सकता हूँ।

आर्य्य उपदेशक—निसंदेह तुम ऐसा कर सकते हो। कारण कि स्वयं वेद कह रहा है कि—

संगच्छध्वम् संवदध्वम्

(ऋग्वेद मं० १०)

अर्थ—हे मनुष्यो तुम मिल कर सभा भरो और तर्क से संवाद परस्पर किया करो।

इस दृष्टान्त से वेद जब स्वयं संवाद करके सत्य प्राप्ति का आदेश दे रहा है तो सज्जन आक्षेपकर्ता-वादी की यह शंका कि वेद भी कुरान शरीफ़ की तरह मानसिक गुलामी का जनक है, निर्मूल सिद्ध हो गई।

ऋषि दयानन्द के भाष्य की उत्तमता को पण्डित तथा योगीवर श्री अरविंद घोष जी ने भी स्वीकार किया है। उसने उक्त भाष्य की महिमा को चार चाँद लगा दिये हैं।

भारत रत्न कवि शिरोमणि रवीन्द्रनाथ टैगोर जी ने अपने The Sadhus नामी अंगरेजी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में भारत के वैदिक ऋषियों सम्बन्धी जो मत दर्शाये हैं उसका

सार यह है कि यह ऋषि "परम विद्वान, परमयोगी, परम सत्यवक्ता, परम आस्तिक तथा परम त्यागी थे"।

रवीन्द्र बाबू के समान Rigveda Culture नामी ग्रन्थ में वही मत दर्शाते हुए इन ऋषियों को A. C. Das साहेब जी ने Discoverers and inventors भी लिखा है।

अब महात्मा श्री टी. एल. वास्वानी जी का एक सारगर्भित अंगरेजी उत्तम लेख देहली के अंगरेजी पत्र "The Rajasthan" (Sep. 19. 1932) से देकर इस लेख को समाप्त करेंगे।

उक्त लेख का भाव यह है कि हमें पुराने ऋषियों के समान बिना तलवार के "वैदिक Culture" फैला कर विश्व शान्ति स्थापन करनी चाहिये।

"To day the nations need the message of Rishis. Who were the Rishis? The Rishis were recluses. Rightly was ancient India honoured as a guru of the nations. And she too went upon a career of conquest. Not a military conquest of countries and races............... She went upon onquests of Culture. Hinduism was honoured in China and Japan."......

"So we read that the Rishis stood in the very fore-front of our progress, the Rishis became the builders and guardians of a great Civilisation. The Rishis, we read further, saw the Mantras what are they? Vibrations, pulsations from the heart of the Eternal. The Rishis received them at first hand. we talk and argue; the Rishis were men of direct knowledge; their soul were in tune with vibrations of the world mind; They wer[illegible] of the Spiritual Realm, [illegible] learned men of [illegible] culture; and [illegible] feet to lear[illegible] But a mere sc[illegible]hi. A Rishi is he [illegible] faculties have [illegible]lded— one whose 'Thi[illegible] been opened. Science is bui[illegible] Laws of nature, Psychology [illegible] built on laws. And Singers [illegible]edas have been named Ri[illegible] e. Seers because they s[illegible]nto some of the laws of th[illegible]irit and Civilisation. These l[illegible]s, I
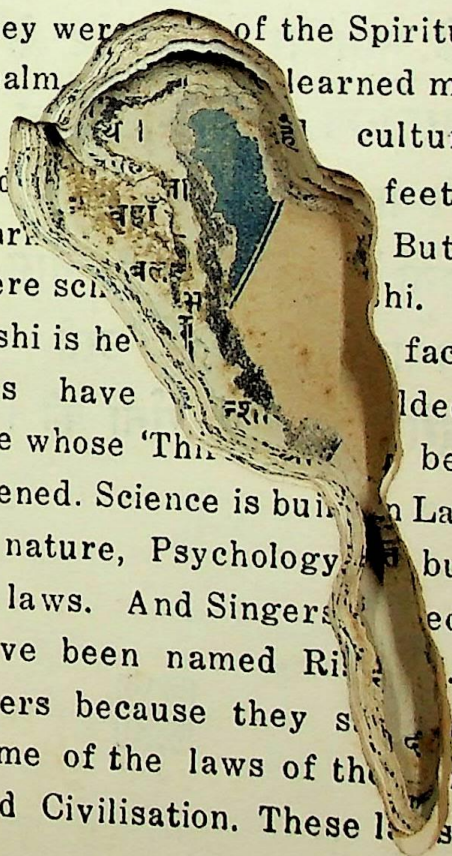
submit, are hinted at in the Vedas.

हमने इस लेख के आरम्भ में यह चर्चा की थी कि आर्य्य समाज का मुख्य आधार आस्तिकता और वेद पर ही है। वेद से ऋषियों को हम पृथक नहीं कर सकते ऋषि मंत्र-द्रष्टा होते हैं इस गूढ़ तत्व का प्रचार आर्य्य समाज ५० वर्ष से कर रहा है। श्री महात्मा वास्वानी जी का उक्त उत्तम लेख इसी तत्व की पुष्टि कर रहा है।

"दयानन्द जिसके अन्दर एक ऋषि की आत्मा थी, इस भारत के लिये और सच्चाई के लिये मूर्ति-भञ्जक बना ! ईश्वर के नाम पर ह[illegible] सब, [illegible]द्ध के उपकरण धारण किये और उसी परमात्मा [illegible]ने अज्ञान और असत्य के विरुद्ध संग्राम किया [illegible] पर यह सन्यासी एक योद्धा क्षत्रिय बना [illegible]नाम पर उसने पतितों को अपने भाई के समा[illegible] उसी प्रभु के नाम उसने महाराज और पुरो[illegible]र्सना की ।"

—साधु टी० एल० वास्वानी

तीन सहपाठी जिन्होंने ऋषि का नाम अमर कर दिया
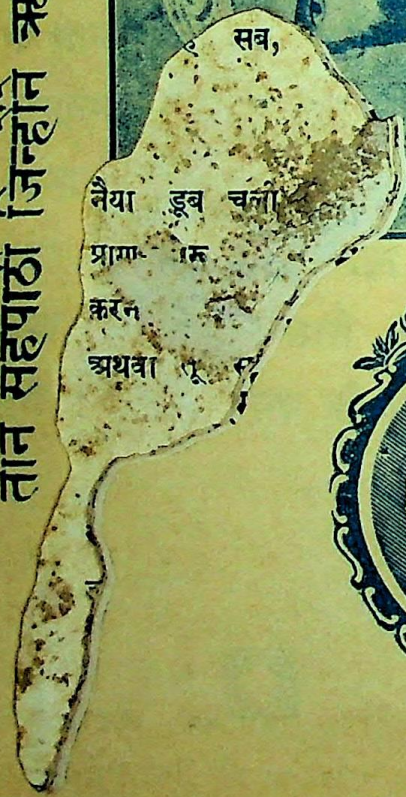
पंजाब केसरी
लाला लाजपतराय जी

मुनिवर
पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी, एम० ए०

त्यागमूर्ति
महात्मा हंसराज जी

नवयुग का विधाता

[श्री प्रो० शंकरदेव जी विद्यालंकार, गुरुकुल विद्यामंदिर, सूपा]

विद्वानों का कथन है कि महापुरुष भविष्य-दर्शी होते हैं। वे आने वाले युग की बातों को पहिले से ही जान लेते हैं, इसलिए उनको युगद्रष्टा कहते हैं। आर्य संस्कृति के उपासक, सत्य मार्ग के यात्री, अमर कीर्ति महर्षि दयानन्द एक ऐसे ही युग-द्रष्टा थे। १९ वीं सदी के उत्तरार्ध काल में जब कि भारत में नूतन युग का कोई भी कार्य-क्रम प्रारम्भ नहीं हुआ था, महर्षि ने नूतन भारत का एक स्वप्न देखा। उन्होंने देखा कि नूतन भारत का निर्माण तब तक संभव नहीं जब तक उसको धार्मिक अन्ध-श्रद्धा, सामाजिक कुरीतियों एवं मानसिक दासत्व की श्रृङ्खलाओं से मुक्त न कर दिया जाय।

आज भारत-तरुण-समाज, हिन्दू महासभा के संचालक, कांग्रेस के नेता-गण और सामाजिक क्रान्ति के पुरस्कर्ता लोग जिन कार्यों का श्रीगणेश कर रहे हैं उन सब कार्यों को महर्षि ने आधी शताब्दी पूर्व ही प्रारम्भ करने का सिंह-नाद किया था। आज से ५० वर्ष पूर्व ही इन कार्यों की आवश्यकता का ऋषि ने भली भांति अनुभव किया था।

बहुत से लोग कहने लगे हैं कि अब आर्य-समाज की क्या आवश्यकता है। आर्य समाज के प्रायः सारे कार्य अब हिन्दू सभा करने लगी है। दलितोद्धार, विधवा-विवाह, बाल-विवाह निषेध आदि कार्यों को आज लोग स्वीकार करने लगे हैं। परन्तु हमारी सम्मति में वे भूल में हैं। सामाजिक दासता अभी भारतवासियों को जकड़े हुये है। इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना शेष है। सच पूछा जाय तो हमारी राजनैतिक पराधीनता का कारण हमारी सामाजिक दासता ही है। स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी ने अपने [illegible] पुस्तक "दुखी भारत" [illegible] है—

"[illegible] थे। [illegible] on is the puni[illegible] s and natio[illegible]

पुनश्च [illegible] कार्य्य केवल धार्मिक [illegible] ाजिक कुरीतियों को ही [illegible] देना नहीं है। वह एक [illegible] उच्च आदर्श का भी उपासक है [illegible] समस्त विश्व में आर्य्य धर्म, आर्य सं[illegible] और वैदिक विश्व-बन्धुत्व के वह स्व[illegible] करता है। आर्य समाज तो [illegible] "यत्र विश्वं भवत्येक नीडम् [illegible] उदात्त आदर्श को भी मानता है [illegible] साथ ही कहता है—

अयं निजः परो वेति
गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु
वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दू सभा के कई विचार-शील नेतागण भी अब हिन्दू सभा के ध्येय को इसी तरफ लाने का प्रयास कर रहे हैं और उसको हिन्दू संस्कृति का विस्तार करने वाली संस्था बनाना चाहते हैं। श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, अध्यापक कालिदास नाग प्रभृति कई विद्वान् इसी दृष्टि से हिन्दू महासभा को अपनाते हैं। [illegible] सब,

यहां पर [illegible] अप्रासंगिक न [illegible] विश्व-बन्धुत्व नैया डूब चली [illegible] वों का जो प्र[illegible] रवीन्द्रनाथ ठाकुर करने [illegible] ने किया है, उसको अथवा [illegible] आदर की दृष्टि से दे[illegible] यद्यपि व्यवहार रूप में आर्य [illegible]ाज यही मानता है कि पहिले हमें [illegible]त को ही जागृत, सचेष्ट और [illegible]ल बनाना है। उसके बाद [illegible] संसार की कुछ सुध लेनी है। एक ब[illegible] बात है, महर्षि दयानन्द से किसी स[illegible]न ने कहा कि स्वामी जी, आप अपने सुन्दर सिद्धांतों का प्रचार विदेशों में क्यों नहीं करते ? वहां के लोग आप की बातों को शीघ्र ही स्वीकार कर लेंगे। उस समय स्वामीजी ने बहुत अच्छा उत्तर दिया था कि भाई, पहिले इस मुर्दा भारत को तो जगाने दो, फिर संसार की बात देखी जायगी। जो स्वयं भूखा है वह भला दूसरे की क्षुधा-निवृत्ति क्या करेगा। तथापि आर्य समाज ने बृहत्तर भारत—अफ्रिका, फिजी, मारीशस, न्यू गायना आदि में पर्याप्त रूप से आर्य धर्म का प्रचार किया है और कर रहा है।

अब राजनीतिक क्षेत्र को लीजिए। जिस समय सर्व-सामान्य लोग कांग्रेस को एक अंग्रेजी-दां बाबुओं की संस्था समझते थे, और जिस समय उसके नेता भारतवर्ष इङ्गलैण्ड के सम्बन्ध को दैवी बताया करते थे, "स्वराज्य" यह शब्द भी केवल संस्कृत कोष का विषय बना हुआ था, उस समय सबसे पूर्व महर्षि दयानन्द ने सामान्य जनता को स्वराज्य का भाव समझाया था। इसी प्रकार जिस असहयोग को चले हुये अभी १०-१२ वर्ष हुए हैं, उस असहयोग और पंच वहिष्कार का कार्य आर्य समाज पिछले ५० वर्षों से कर रहा है। राष्ट्रीय शिक्षण क्या है ? उसका क्या रूप होना चाहिये इत्यादि प्रश्नों पर जब अभी विचार ही हो रहे थे तब आज से तीस वर्ष

पहिले अमर कीर्ति स्वा० श्रद्धानन्द जी ने भागीरथी के तीर पर हिमाद्रि की वन छाया में काँगड़ी में भारत के सर्व प्रथम राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। भारत में राष्ट्रीय शिक्षण का सफल प्रयास करने का श्रेय आर्य्य समाज को ही है। इसके साथ ही सामान्य जन-समाज में प्रचार द्वारा आर्य्य समाज ने लोक-शिक्षण का कार्य किया है। इस दृष्टि से भारत में अन्य किसी भी धार्मिक संस्था ने लोकशिक्षण का कार्य नहीं किया है। ईसाइयों के धर्म प्रचार और ज्ञान प्रचार के कार्य्य, उनकी आर्थिक सुसंपन्नता है। अतः उनका परिगणन इस क्षेत्र में नहीं किया गया है।

आज भारत का तरुण-समाज सामाजिक दासता जात-पाँत के बन्धनों एवं पाखण्डियों के कृत्यों पर बौखला उठा है, और उसने क्रान्ति की तूरी बजाई है। परन्तु जिन दिनों में विधवा विवाह और जात पाँत तोड़ने की चर्चा करना भी जोखम और साहस का काम माना जाता था, उन दिनों में पुण्यश्लोक स्वामी श्रद्धानन्द जी, आचार्य्य रामदेव जी आदि आर्य्य समाज के मान्य नेताओं ने बिरादरी और लोक समूह की धमकियों की परवाह न करके सामाजिक सुधार का क्रियात्मक प्रचार किया था। आज तो जमाना बदल गया है। लोकमत भी अनुकूल होता जा रहा है। परन्तु जिस समय सारी जनता विरोध के लिये तैयार रहती थी, और सुधारकों के प्राण भी संशय में रहते थे, उस समय सामाजिक सुधारणा का कार्य करने वालों के मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ आई होंगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

शोक तो इस बात पर है कि आर्य्य समाज की समीक्षा करने वाले महानुभावों में से अनेकों ने आर्य्य समाज और आर्य धर्म को ठीक समझा ही नहीं है। कई लोग समझते हैं कि आर्य समाज एक धर्म है। कुछ मानते हैं कि यह शुद्धि करने वाली [illegible] है। कई समझते हैं कि [illegible] स्लिम आन्दोलन है। [illegible] यह एक विधवा विव[illegible] वहाँ [illegible] की सभा। ऋषियों [illegible] बल [illegible]

"बिभेत्यल्प [illegible] मामयं प्रहरिष्यति।" [illegible]

लोगों का कहना [illegible] र्य समाज अन्य धर्मों का खण्डन बहु[illegible] करता है। पर वे खण्डन की महिमा [illegible] जानते। कल्पना कीजिये कि मेरे पै[illegible] काँच का टुकड़ा घुस गया है [illegible] ने पैर को क्षत-विक्षत कर दिया है। [illegible] समय डाक्टर पहला कार्य यह करेगा [illegible] क लगे

काँच को पैर से निकाल देगा, फिर उस जख़्म पर योग्य औषधि लगा देगा। बिना गन्द के निकाले शुद्धि सम्भव नहीं। इसी प्रकार आर्य्य समाज उन धर्मों का खण्डन करता है जिनमें असत्य, दम्भ और पाखण्ड विद्यमान है—जिसके कारण मानव समूह पतित और पराधीन बन रहा है। असत्य को दूर करना तो आर्य्य समाज का मुद्रा लेख है। इसी सत्य की दूरबीन लगा कर आप महर्षि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों को पढ़ जाइए, आपको प्रकाश मिलेगा और खरे खोटे का ज्ञान हो जायगा। सच जानिये ऊपर की टीपटाप से या राज-नैतिक पैक्टों द्वारा [illegible] सब, [illegible] रू व सामा-जिक एकता हो [illegible] र्म एक शाश्वत एवं [illegible] मय पर उसमें नैया डूब चली [illegible] आ जाती है, प्राण [illegible] रू [illegible] रने के लिए क्रान्तिका [illegible] करन [illegible] पुजारी महा-पुरुषों [illegible] अथवा [illegible] ता है।

आर [illegible] ाज के खण्डन कार्य और शास्त्रार्थ [illegible] यह भला हुआ है कि विधर्मी लोग [illegible] धर्म पुस्तकों की टीकाओं को [illegible] ते जा रहे हैं और नई व्या [illegible] को बताते जा रहे हैं।

[illegible] समाज चौमुखी क्रान्ति का अग्रदूत है। उसने धार्मिक, सामाजिक राजनीतिक तथा शिक्षा विषयक क्षेत्र में कमाल का परिवर्तन किया है। जिस समय अभी कांग्रेस स्थापित करने का विचार भी लोगों के मनों में नहीं आया था उस समय महर्षि ने देश की जागृति के लिए सन् १८७५ में आर्य समाज के रूप में एक महान् प्रोग्राम देश के सामने उपस्थित किया। एक विद्वान् ने ठीक लिखा है—"सोते हुये हिन्दुत्व ने जब जागृति की पहली करवट ली तो उसका नाम आर्य-समाज पड़ा।"

वेद शास्त्र और धर्म ग्रन्थ धर्माध्यक्षों की अप्रतिहत एकाधिकारिता रूपी क़ैद में पड़े हुये थे। सर्व सामान्य उनको पढ़ नहीं सकता था। महर्षि ने उनको मनुष्य मात्र के लिये खोल कर रख दिया। वेदों की सच्ची महिमा लोगों को समझाई। योगिवर बाबू अरविन्द घोष "महर्षि दयानन्द की अन्तर दृष्टि कैसी थी?" इस पर अपने लेख में लिखते हैं—

Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age-long misunderstanding his was the eye of direct vision, that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountains.

"कई लोग इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि महर्षि ने अंगरेजी का एक अक्षर भी न जानते हुए आर्य समाज जैसी एक पूर्ण लोकसत्तात्मक (Democratic) संस्था को कैसे बनाया। उन्हें क्या मालूम कि महर्षि ने संस्कृत भाषा के प्राचीन राजनीति विषयक ग्रन्थों का अवगाहन करके समाज के नियम आदि बनाए थे। राजपूताना के अनेक नरेशों को स्वामी जी ने महाभारत और शुक्रनीति के राज धर्म का उपदेश किया था।

महर्षि के मिशन को अमेरिका के एक तत्वज्ञानी श्री एण्ड्र्यू जेक्सन डेविस ने अच्छी तरह समझा था। महर्षि के कार्य को उसने क्या ही सुन्दर शब्दों में लिखा है।

"I behold a fire that is universal, the fire of infinite love, which burneth to destroy all hate, which dissolveth all things to their purification."

सारांश यह है कि आज भारत के अन्दर जो सामाजिक जागृति धार्मिक परिवर्तन और शिक्षण विषयक ऋषि के भाव जागृत हो रहे हैं, महर्षि दयानन्द ने उन्हें आज से आधी शताब्दी पूर्व ही प्रतिपादित किया, केवल वचन द्वारा नहीं अपितु क्रिया द्वारा। इस दृष्टि से महर्षि दयानन्द वर्तमान युग में भारत के सांस्कृतिक पुनर्विधान के आदि आचार्य हैं। जागृति के महान् स्वप्न को देखने वाले, भारत [illegible] तेजस्वी पुत्र, वैदिक विश्व [illegible] गान गानेवाले [illegible] थे। [illegible] कोटि कोटि उस [illegible] वन्दन [illegible] वहाँ [illegible]
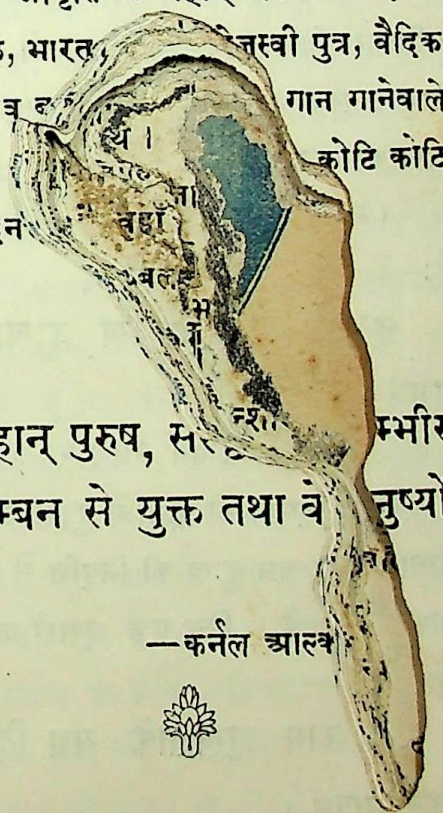
"निःसन्देह स्वामी जी एक महान् पुरुष, स[illegible] म्भीर विद्वान् उत्कृष्ट साहस और स्वावलम्बन से युक्त तथा वे [illegible] नुष्यों के नेता थे।"

—कर्नल आल्क[illegible]

सुख दुःख

[आर्य्य समाज के प्राण श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज]

सुख दुःख में एक ही सत्तावान है या दोनों अपनी पृथक् पृथक् हस्ती रखते हैं अर्थात् दुःख का अभाव सुख या सुख का अभाव दुःख है या सुख दुःख दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इस प्रश्न को विद्वानों ने पृथक् २ दृष्टि रखते हुये ही देखा है।

(१) भर्तृहरि ने लिखा है कि:—

"प्रतिकारोव्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।"

अर्थात् भूख प्यास अन्य विषयों की इच्छा आदि किसी भी व्याधि या दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया [illegible] सब, [illegible]सी को लोग भ्रम से सुख क[illegible] भर्तृहरि सुख की स्व[illegible]

(२ नैया डूब चली [illegible] लिखा है:— प्राग[illegible]रू

तृष्करन [illegible]खं दुःखार्त्ति प्रभवं [illegible] अथवा [illegible]

[illegible]त पर्व २५। २२)

अ[illegible] तृष्णा की पीड़ा से दुःख उत्पन्न होता [illegible]र उस दुःख की निवृत्ति से सुख उत्प[illegible]ता है। फिर एक दूसरी जगह लि[illegible]—

[illegible] काम सुखंलोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।

तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महाभारत शा० १७४। ४८)

अर्थात् जो कुछ विषयेच्छा से संसार में सुख होता है और जो स्वर्गीय दिव्य सुख है ये दोनों तृष्णा के क्षय से जो सुख होता है उसका सोलहवाँ भाग भी नहीं होते।

महाभारत के ये उद्धरण भर्तृहरि के प्रकट किये हुये मन्तव्य ही की पुष्टि करते हैं।

(३) दार्शनिकों के विचारानुसार

"अनुकूल वेदनीयं सुखं प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्॥"

अर्थात् वेदन = वह ज्ञान जिससे सुख दुःख जाना जाता है, यदि वह अनुकूल हो तो सुख यदि प्रतिकूल हो तो दुःख कहा जाता है। तात्पर्य्य इसका यह है कि दार्शनिक सुख दुःख को स्वतन्त्र मानते हैं।

(४) पराशर गीता में बतलाया गया है कि—

"यदिष्टं तत्सुखं आहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते॥"

अर्थात् जिसकी मनुष्य को चाह हो वह सुख और जिससे घृणा हो वह दुःख है—यह मत दार्शनिकों का पक्ष-पोषक है।

(५) भगवद्‌गीता का पक्ष भी उस सम्बन्ध में दार्शनिकों का पोषक है—गीता में कहा गया है :—

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।"

—गीता ३।३४

अर्थात् इन्द्रियों और उनके विषय शब्द स्पर्शादि में राग द्वेष है और वह पहले ही से व्यवस्थित है अर्थात् दोनों स्वतन्त्र हैं। बुरी खबर सुनने से दुःख होता है परन्तु अच्छा सन्देश तथा रागादि सुनने से प्रसन्नता होती है। स्पष्ट है कि ये दुःख और सुख दोनों स्वतन्त्र हैं।

(६) न्याय दर्शन में जीवात्मा का लक्षण वर्णन करते हुये ज्ञान और प्रयत्न के सिवा इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख, कारण और कार्य रूप से वर्णित हुये हैं। स्पष्ट है कि इच्छा का फल सुख और द्वेष का फल दुःख है अर्थात् सुख दुःख दो पृथक् पृथक् कारणों के कार्य हैं और इसलिये दोनों स्वतन्त्र हैं, एक दूसरे का अभाव नहीं।

(७) महाभारत में जहाँ तृष्णा का क्षय सुख कहा गया है (देखो सं० २) उस पर विचार करने से प्रकट होता है। कि जिसे तृष्णा का क्षय सुख कहा गया है, उस सुख की सत्ता तृष्णा से पहले मौजूद थी। तृष्णा किसे कहते हैं ? किसी देखी सुनी वस्तु की उपलब्धि की इच्छा का नाम काम है। यही इच्छा जब उस वस्तु के भोगने या प्राप्ति के समय के लम्बे हो जाने से अत्यन्त वेगवती हो जाती है तब उस इच्छा का नाम तृष्णा हो जाता है। इस तृष्णा के क्षय के दो संभव अर्थ हो सकते हैं (१) तृष्णा की पूर्ति से तृष्णा का बाक़ी न रहना (२) तृष्णा की पूर्ति से पूर्व ही नष्ट हो जाना। ऊपर कहा गया है कि तृष्णा की पूर्ति से तृष्णा जा[illegible] ययाति के कथनानुस[illegible]थे। [illegible] जैसे अग्नि की उत्त[illegible]ार भोग से तृष्णा [illegible] बढ़[illegible] है (देखो महाभारत [illegible]बल[illegible] लिये महाभारत के उ[illegible]णा क्षय का दूसरा अर्थ [illegible] है, ऐसा प्रतीत होता है, अर्थात् [illegible] पूर्ति से पहले ही नष्ट हो जाना। [illegible] तृष्णा के नष्ट हो जाने से जो तृष्[illegible] सुख कहा गया है उस सुख को [illegible]य रूप कारण का कार्य नहीं कह स[illegible]योंकि इस सुख की सत्ता, तृष्णा की [illegible]त से पहले भी मौजूद थी इसलिये उस[illegible]हले से

मौजूद किन्तु तृष्णा की उत्पत्ति से तिरोहित सुख को तृष्णा-क्षय सुख कहना वाक्-छल-मात्र है - निष्कर्ष यह है कि महाभारत के उपर्युक्त वाक्य में जिसे तृष्णा-क्षय सुख कहा गया है वह वास्तव में तृष्णा-रूपी दुःख का अभाव नहीं है। यह विचार दार्शनिकों के पक्ष का समर्थक है।

(८) छांदोग्योपनिषद् में कहा गया है कि—

"यो वै भूमा तत् सुखम्।"

(छा० ७।२३।१)

अर्थात् भूमा = ईश्वर ही सुख है—यदि ईश्वर ही सुख और ईश्वर प्राप्ति ही से सुख = आनन्द प्राप्त होता है तो उसको दुःखाभाव नहीं कह [illegible] सब, [illegible] ऊपर जो पक्ष और विपक्ष उप[illegible] है उससे जो परिणाम [illegible] कि सुख और [illegible] या डूब चली [illegible] एक [illegible] रू [illegible] रन [illegible] र [illegible] अथवा [illegible]

दूसरे का अभाव नहीं। अस्तु, अब देखना यह है कि इनकी प्राप्ति का कारण और निवृत्ति का उपाय क्या है? संस्कृत भाषा की शब्द रचना को यहाँ मुक्त कंठ से प्रशंसा करनी पड़ती है कि इन सुख और दुःख शब्दों ही में सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का साधन निहित है। सु+ख शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है सुख इनमें से 'सु' अच्छे को कहते हैं और 'ख' नाम इन्द्रिय का है भाव इसका यह है कि इन्द्रियों को अच्छा और संयत बना लेने से मनुष्य सुखी हुआ करता है। इसी प्रकार इन्द्रियों को बुरा और असंयत बना लेने से दुखी बना करता है। अर्थात् सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के साधन हमारे शरीर ही में मौजूद हैं—इनसे काम लेना न लेना हमारे ही अधिकार में है।

"[illegible] दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे वह अ[illegible] को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण [illegible]र सुख का धर्माचरण मूल कारण है।"

—स्वामी दयानन्द

विलक्षण-विधान

[कविवर श्री हरिशरण जी श्रीवास्तव 'मराल' बी. ए., एल-एल. बी., मेरठ]

(१)

वैभव विपुल बीच जन्म जागरूक मिला,
छोड़ के विलास फिरा जग के जगाने को।
बन्धन-विवाह-वर-बेड़ी पड़ने के काल,
त्याग घर बार चला फिर के न आने को।
शैव-जड़-साधना सु-दृढ़ करने के हेतु,
व्रत काम आया जड़ उलटी जमाने को।
शङ्कर की मूल खोद डाली मूल-शङ्कर ने,
चेतना-विहीन भोले भोला को भगाने को॥

(२)

भूखे भरपूर भोज पाते जिसके थे यहाँ,
उसको अनेक दिनों मिलत [illegible] थे।
श्वेत दुग्ध-फेन सी धवल पर्य्यङ्क [illegible]
कण्टक मयी दी भूमि [illegible] वहाँ
मंजुल महल, बहु करने टहल वाले [illegible]
फिरता अकेला धार साधुओं के [illegible]
विधिना! विचित्र बुद्धि तेरी, बलिहारी देव! [illegible]
इतने असह्य दुःख दीन के दिवाने को [illegible]

(३)

सहज सजीव स्वत्व छोड़ अपने जो सारे,
आया अधिकार चारों वर्ण का दिलाने को।
लोक, परलोक में सुखी हों बन्धु इससे ही,
वेद वाणी विद्या की विभूति बरसाने को।
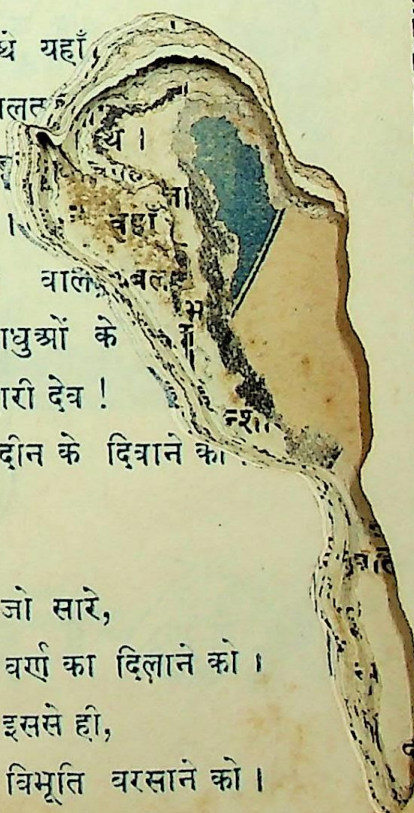
मिथ्या मतवाद को मिला के धूल में जो बढ़ा,
सत्य-सूर्य्य-तेज से अबोध-दुर्ग ढाने को।
ऐसे उपकारक महर्षि को निदान मिला,
कुटिल कृतघ्नों द्वारा कूट विष खाने को॥

(४)

ममता की मूर्त्ति निज माता का स्नेह छोड़,
प्रण उर धारा मातृ भूमि के उठाने को।
अन्ध की परम्परा से, दुष्ट भाव भावना से,
आया था समस्त भारतीयों के छुड़ाने को।
वैदिक-दिवाकर का आज अवसान हुआ,
शेष रही आर्य्य-जाति दीपक जलाने को।
काली सी कराली, हाय ! कैसी तू दिवाली आई,
थोप घन-कालिमा कुरूप के दिखाने को॥
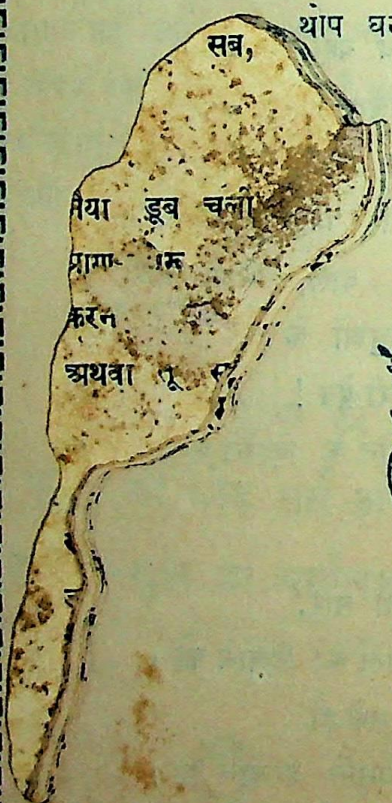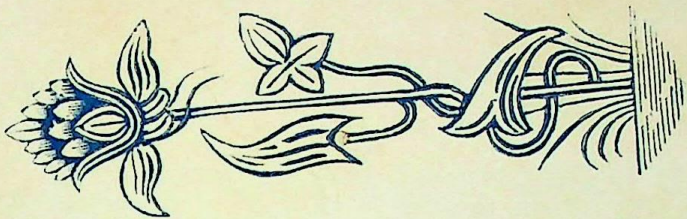
धर्मवीर पं० लेखराम जी आर्य-मुसाफिर
बलिदान दिवस ६ मार्च १८९७ ई०
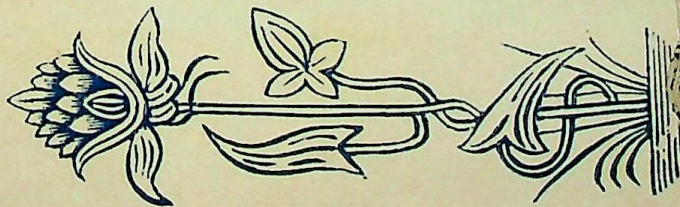
स्वामी श्रद्धानन्द जी की मृत्यु शय्या
बलिदान दिवस
२६ दिसम्बर १९२६ ई०

आर्य्य समाज के बलिदान की कहानी

[श्री विश्वप्रकाश जी बी० ए०, एल-एल० बी०]

साधारण जनता किसी उथल-पुथल को पसन्द नहीं करती। किन्हीं अंशों में वह सुधार का भी विरोध करती है। यदि उसके धर्म पर कटाक्ष होते हैं तो वह अपनी फूटी आंखों से भी यह देखने की चेष्टा नहीं करती कि यदि आलोचना में लेश मात्र भी सत्य है तो उसको दूर करे। वह उस पुरुष से द्वेष करने लगती है। द्वेष आग का रूप धारण कर लेता है। और शीघ्र ही उस पुरुष के प्राण संकट में पड़ जाते हैं।

लोगों का यह विचार है कि दो चार पुरुषों की जान ले लेने से कोई आंदोलन ठण्डा पड़ जायगा। पर इतिहास इस बात की साक्षी नहीं देता। एक समय था जब कि इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार आरम्भ हुआ। इसका ईसाई-धर्म में वही स्थान था जो वैदिक-धर्म में आर्य समाज का। राजा कैथोलिक थे और उन्होंने दमन आरम्भ किया। न जाने कितने प्राणियों के प्राण हरण किये गये। बच्चों ने अपने हाथ दीप-शिखा पर जला डाले पर आह न की। अन्त में हुआ वही, दमन करने वाला नष्ट हो गया और प्रोटेस्टेंट धर्म फूलने फलने लगा।

आर्य समाज के बलिदान में भी यही बात देखी जाती है। ऋषि दयानन्द, पं० लेखराम, पं० तुलसीराम, म० रामचन्द्र श्रद्धानन्द, राजपाल तथा कई और बलिदान हुये। आर्यसमाज बराबर छलांगे मारता गया। ज्यों-ज्यों रक्त सिंचन हुआ जड़ें और भी अधिक पुष्ट होती गईं।

❀ ❀ ❀

संस्थापक का पहला बलिदान

स्वामी दयानन्द

आर्य्य समाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द को [illegible] आपत्तियों का सामना [illegible] बार उनके जीव[illegible] में उनकी मृत्यु [illegible] वहां [illegible]

२० म[illegible] [illegible]मी जी कर्णवास गये [illegible] का मेला था। बरेली के र[illegible] जी का स्वामी जी की बातें बहु[illegible] ीं। वे खंडन सहन न कर सके [illegible] बोले—"तुम्हारे ऐसे लोग रंगाचार्य [illegible] क्या शास्त्रार्थ कर सकते हैं। तुम्हा[illegible] साधु जूतियां फटकारते फिरते हैं। [illegible] जा गालियां मुंह से निकलीं देते [illegible] और ताव में आकर अपनी तलवार क[illegible] मुट्ठी पर हाथ रक्खा।

स्वामी जी ने कहा—" राव साहब ! तलवार पर क्यों बार २ हाथ ले जाते हैं। अगर शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो अपने गुरु को ले आइये और यदि युद्ध करने की इच्छा हो तो जयपुर, जोधपुर नरेश से जा भिड़िये।" राव साहब ने तलवार उठाई। स्वामी जी ने तलवार छीन ली और टुकड़े २ कर दिये। बोले "क्या तुम चाहते हो कि मैं तुमसे बदला लूँ। मैं सन्यासी हूँ, किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहता।" राव साहब का मुंह पीला पड़ गया।

मूर्ति-पूजा के खंडन से क्रोधित हो कर एक ब्राह्मण ने [illegible] जी को पान के साथ विष खि[illegible] [illegible]ी जी को विष का पता [illegible] वस्ति तथा न्यौ[illegible] कर दिया। [illegible] लगा कि अ[illegible] दयानन्द को विष [illegible] उस आदमी को पकड़ [illegible] जी ने तहसीलदार से कहा [illegible] मैंने सुना है कि आपने किसी पुरुष [illegible] मेरे कारण कैद कर लिया है। मैं [illegible] में पुरुषों को बँधवाने नहीं [illegible] न से छुड़वाने आया हूँ।" यह [illegible] कर तहसीलदार से उस आदमी को [illegible] ा दिया।

[illegible] बई में स्वामी जी ने गोसांइयों की पोल खोली। उन्होंने स्वामी जी के रसोइये बलदेव सिंह को १०००) का रुक्का लिख दिया अगर वह स्वामी जी को विष दे दे। स्वामी जी को इस बात का पता चल गया। उन्होंने बलदेव से बातें पूंछी। उसने सब बतला दीं। स्वामी जी ने उस रुक्के को फाड़ डाला, अगर चाहते तो उन लोगों को पकड़वा सकते थे।

अमृतसर नगर में स्वामी जी से शास्त्रार्थ होता रहा। लोगों ने गड़बड़ मचा दी और उन पर पत्थर फेंके। पर स्वामी जी ने कहा, यह तो पुष्प-वर्षा है।

एकबार एक सर्प-पूजक ने स्वामी जी पर एक सर्प फेंक दिया और कहा, "आप खंडन करते फिरते हैं, लो ! महादेव स्वयं निश्चय कर देंगे कि तुम सचाई पर हो या मैं।" स्वामी जी ने सर्प को एड़ी से कुचल दिया और कहा, "तेरे देवता ने बहुत देर लगाई और मैंने फैसला कर दिया, जाओ, लोगों से बताना कि झूठे देवताओं का इसी तरह नाश किया जाता है।"

सन् १८८३ ई० में श्री स्वामी जी महाराज जोधपुर पधारे। एक दिन स्वामी जी नरेश से मिलने गये। नन्हीं-जान नामक वेश्या उस समय उनके पास थी। इसको छिपाने के लिये नरेश ने

नन्हीं-जान को विदा किया और जल्दी में अपना हाथ भी पालकी से लगा दिया। स्वामी जी ने देख लिया और कहा—"राजन्! राजा सिंह समान होते हैं, धिक्कार है यदि वे कुतिया सदृश वेश्याओं के पीछे दौड़ें।" नन्हीं-जान को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने जगन्नाथ रसोइये को मिला लिया।

महर्षि दुग्धपान करके सोये। रात्रि को पेट में कुछ पीड़ा हुई। तीन बार वमन किया। शूल वेदना बढ़ती गई और अतीसार होने लगे। औषधि आरम्भ की गई पर उसका कुछ भी लाभ न हुआ। जब स्वामी जी को पता चला कि जगन्नाथ ने विश्वासघात किया तो उसको बुलाया और कहा—"यह थैली लो और नैपाल को भाग जाओ। अगर लोगों को पता चल गया तो तुम्हारा अंत ही कर देंगे।" स्वामी ने अपने प्राण-घातक को सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया।

जोधपुर से स्वामी जी आबू आये और आबू से अजमेर ले जाये गये। अनेकों औषधियां दी गईं पर कुछ लाभ न हुआ। भारतवर्ष भर में यह सूचना फैल गई। लाहौर से ला० जीवनदास जी और पं० गुरुदत्त जी आये। ३० अक्तूबर १८८३ ई० को मंगलवार का दिन आया। यह दिवाली का पवित्र दिवस था। भारत-वर्ष भर में लोग दिये जला रहे थे। अजमेर नगर में वीर संन्यासी यह कहते हुये 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' लाखों आर्य समाजियों को विलखता छोड़ कर चला गया।

❀ ❀ ❀

दूसरा बलिदान

धर्मवीर पं० लेखराम आर्य्य मुसाफ़िर

धर्मवीर पं० लेखराम का जन्म संवत १९१५ वि० को सय्यदपुर ग्राम (झेलम प्रान्त) में हुआ था। बचपन से आपको अरबी फ़ारसी का बड़ा शौक था और युक्ति इतनी प्रबल थी कि बड़े २ मौलवियों को निरुत्तर कर देते थे। संवत् १९३२ (२१ दिस[illegible]) को आप पुलीस में भ[illegible] थे।

[illegible] से आप में धार्मिक [illegible] वहाँ [illegible] आप कृष्ण की उपासना [illegible] यहाँ तक बात बढ़ी कि [illegible]र व्रज-भूमि के लिये त[illegible] आपने विवाह तक न किया। मु[illegible]हैयालाल अलखधारी की पुस्तकें जो [illegible]ने पढ़ी तो विचार एकदम बदल गये [illegible] अपने चार मित्रों के साथ पेशावर [illegible] आर्य्य-समाज खोल दी। नौकरी से [illegible]ठकर आप ५ मई १८८० को ऋषि [illegible] दर्शनों के लिये चल दिये और १६ मई को आपने

ऋषि के दर्शन किये। अजमेर से लौटने पर उन्होंने "धर्मोपदेश" पत्र निकाला।

इस समय तक पं० जी बराबर सरकारी नौकरी करते रहे पर प्रचार-कार्य में इसको बाधक समझ कर २४ सितम्बर १८८४ ई० को आपने त्याग-पत्र दे दिया। आप मुसलमान मौलवियों से भिड़ने लगे। सन् १८८७ में आप आर्य्य-गजट के सम्पादक बना दिये गये। आपकी स्त्री लक्ष्मीदेवी जी त्याग की सच्ची मूर्ति थीं। पं० जी रात-दिन प्रचार कार्य में लगे रहते थे। आपको आर्य-प्रतिनिधि-सभा की ओर से २५) मासिक सहायता मिलती थी। जब स्वामी श्रद्धानन्द को यह पता चला कि पण्डित जी ने [illegible] सब, [illegible]न का बीमा कराया है तो ५[illegible]कर दी। इस सहायता[illegible]माज का कार्य [illegible]या डूब चली[illegible]

२६ [illegible] की घटना बड़ी ही [illegible] करन [illegible] अथवा [illegible] आपका एकमात्र प्य[illegible]व बीमार पड़ा। इधर पुत्र[illegible]र था, उधर प्रचार-कार्य के लिये [illegible]का बाहर जाना अनिवार्य था। [illegible]र पुत्र-प्रेम खींच रहा था और [illegible] ओर कर्त्तव्य। रेशम का तागा [illegible] ओर से खिंचता था। शेरेदिल [illegible]राम ने अपने पुत्र की परवाह न की [illegible]र चल दिये। उनके पीछे उनके मित्रों ने बहुत चेष्टा की। पण्डित जी जब लौट कर आये तो पुत्र की दशा भयंकर हो गई थी। २८ अगस्त को बेटा चल बसा। पर लेखराम पुत्र-विछोह को बड़ी वीरता से सहन कर गये। दो दिन बाद ही उस बहादुर को हम मैदान में दहाड़ते हुए पाते हैं।

शाहाबाद (जिला अम्बाला) से सूचना मिली कि कुछ हिन्दू मुसलमान होने वाले हैं। इस समय पं० जी के पैरों में फोड़ा निकला हुआ था। महात्मा मुन्शीराम (स्वा० श्रद्धानन्द जी) ने कहा—"पं० जी आप निश्चिन्त रहिये। कोई न कोई प्रबन्ध कर दूंगा। यह लोग बड़े निर्दयी हैं। हर समय तंग करते रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि हर समय मनुष्य के पास इतनी छुट्टी कहां।" पं० जी चले आये और आध घण्टे के बाद महात्मा जी के पास पहुंचे, बोले, "कहिये साहब! किसको भेजने का प्रबन्ध किया है।" महात्मा जी ने उत्तर दिया, "क्या बताऊं, किसको भेजूँ। यह लोग बड़े लापरवाह है। यदि कोई स्थानीय बात है तो उस स्थान के लोग क्यों नहीं निपट लेते।" धर्मवीर ने कहा, "अरे भाई! वह ग़रीब और क्या कर सकते हैं। कुछ इन्तज़ाम तो करना ही पड़ेगा।" कहो, "क्या लालमणि को

भेज दूँ ?" धर्मवीर ने कहा, "लाला जी आपकी बातों से मैं कायल हो गया। आज रात की गाड़ी से चला जाऊँगा।"

२९ अगस्त १८९५ को धर्मशाला से निमन्त्रण आया। महात्मा मुन्शीराम जी ने पण्डित लेखराम जी से जाने को कहा। पण्डित जी ने कहा, "यह देखिये, लगातार सफ़र में सारे कपड़े मैले हो गये हैं, कहीं धुलाने का समय नहीं मिला। फिर शिमला से आते हुये उन मैले कपड़ों में से एक भी सूखा नहीं बचा। मुझे परसों से ज्वर आता है और जुकाम साथ है। बतलाइये मैं जाने की अवस्था में हूँ।" महात्मा जी ने मना कर दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल पंडित लेखराम पहुंचे और बोले—"बीस रुपया मार्ग-व्यय के लिये और अपने दो कुरते दे दीजिये।"

महात्मा जी—"क्या घर से कोई तार आया है ?" धर्मवीर ने कहा—"घर की मुझे कम परवाह रहती है। वहीं धर्मशाला जाता हूँ। क्या किया जाय जाना ही पड़ेगा ?"

ऋषि की जीवनी के संग्रह का कार्य्य धर्मवीर को सौंपा गया था। अनेकों बर्ष तक एक एक स्थान में घूम कर धर्मवीर ने सामग्री इकट्ठी की थी। अब उसको लिख रहे थे। १८९७ ई० के फर्वरी मास में एक काला यम-स्वरूप, गंठे बदन का मुसल्मान युवक दयानन्द कालिज में धर्मवीर का पता पूछ रहा था। वह पूछते-पूछते घर पहुंचा। लोगों ने धर्मवीर से अनेक बार कहा था कि इस आदमी से कृपया सावधान रहें। ४ मार्च को ईद का दिन था। वह मुसल्मान दिन भर धर्मवीर की खोज में रहा। पर धर्मवीर न मिले। ६ मार्च को धर्मवीर प्रातःकाल दफ़्तर में मिल गये। उस समय वह बहुत थूक रहा था। वह कम्बल ओढ़े था और उसके अन्दर कटार छिपी थी। वह कांप रहा था। अपने भेद को छिपाने के लिये उसने कहा, "मेरी छाती में दर्द है।" धर्मवीर उसको डाक्टर साहब के पास ले गये। [illegible] साहब ने छाती पर ब्लिस्टर [illegible] दवा जो कपड़े पर [illegible] थे। [illegible] ने को कहा— पर [illegible] वहाँ [illegible] भेद खुल जाता। [illegible] बल [illegible] पीने की दवा दीजिये [illegible] भी उसकी सिफ़ारिश की। [illegible] लवाकर पण्डित जी उसको [illegible] आये। खाट के पास उसको कुर[illegible] पर बैठा दिया।

धर्मवीर ऋषि की जीव[illegible] रहे थे। यह समय कितना मर्म-[illegible] था। ऋषि की मृत्यु का चित्र खीं[illegible] द[illegible] थे। इस समय माता ने कहा, "बेटा, आज

तेल नहीं है। रात हो रही है।" तीन बातें थीं। ऋषि के जीवन का अन्त था, घर में चिराग़ के लिये तेल नहीं था और पण्डित लेखराम का भी अन्त होने वाला था। पण्डित लेखराम नहीं जानते थे कि ऋषि की जीवनी के अन्तिम दृश्य को खींचते ही उनका भी अन्त आ पहुँचेगा। खाट से उठे, अँगड़ाई ली, और छुरा उनकी छाती के अन्दर था। आंतें निकल आईं। धर्मवीर ने एक हाथ में आंतें दबाई और दूसरे से उसको पकड़ा। माता ने झपट कर उसको पकड़ना चाहा, पर उसने एक बेलना उनके सिर में मारा।

वह दुष्ट भाग [illegible] सब, [illegible]। धर्मवीर अस्पताल पहुंचा[illegible] जी को देखा तो हा[illegible] मस्ते लाला जी[illegible]या डूब च[illegible]।"

धर्म[illegible] अन्तिम आदेश [illegible]

"[illegible] अथवा [illegible] का काम बन्द न[illegible]।"

❀ ❀ ❀

[illegible]सरा बलिदान

[illegible] पं० तुलसीराम जी

[illegible] प्रान्त में फ़रीद कोट नामक एक [illegible]त है। धर्मवीर पण्डित तुलसीराम [illegible]इसी स्थान के रहने वाले थे। आप [illegible]० डब्ल्यू रेलवे में स्टेशन मास्टर थे। ऋषि पर अटूट भक्ति थी और आर्य-समाज की सेवा में उनका समय कटता था। प्रचार की आपको बड़ी लगन थी। जैनियों से अक्सर आपका शास्त्रार्थ हुआ करता था। पण्डित जी जैन मत की पोल खोला करते थे। यह बात जैनियों को बहुत बुरी लगी और वे सोचने लगे कि किसी तरह धर्मवीर को कष्ट पहुंचाया जाय।

"अहिंसा" जैनियों का सर्व-श्रेष्ठ सिद्धान्त है। जैनी मांस खाना तो दूर रहा किसी प्राणी को कष्ट देना पाप समझते हैं। कितने जैनी ऐसे मिलेंगे जो मुंह पर पट्टी बांधे रहते हैं जिससे उनकी सांस से कीड़े न मरें। कितने जैनी ऐसे मिलेंगे जो दाँतों की सफ़ाई नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से उनके दाँतों में उत्पन्न हुये कीड़े मर जायेंगे। ऐसे अहिंसा-वादियों ने जो काम किया वह कसाई से कम नहीं है।

पं० जी सड़क पर जा रहे थे कि कुछ जैनियों ने उनको घेर लिया। बालू में मिरचा पहले से मिला लिया गया था। एक आदमी ने उनकी आंखों में वह बालू फेंकी। पण्डित जी अपनी आँखों को संभालने में लगे थे कि लोगों ने उन पर डण्डे बरसाने आरम्भ कर दिये। लाठियों के आघात उनके शरीर पर

होने लगे। पर उन क्रूर यम के दूतों को ज़रा सी भी दया न आई। पण्डित जी चोटों से घायल होकर पृथ्वी पर गिर गये। सारे शरीर पर चोट के निशान थे। वह प्राणी भाग गये और पण्डित जी उसी एकान्त स्थान में पड़े रहे।

पुलीस तथा आर्य सामाजिक सज्जनों को इसकी सूचना मिली। उन्होंने जाकर देखा कि तुलसीराम—आर्य-समाज का प्यारा तुलसीराम—चोटों से घायल पड़ा हुआ है। उस समय लोगों के नेत्रों से अश्रु बह रहे थे। धर्मवीर अस्पताल लाये गये। बेहोशी उनको घेरे हुये थी। उनकी मूक वाणी शान्त थी। धर्मवीर की सेवा की गई पर चोट इतनी अधिक थी कि प्राण निकलना ही शेष था। बेहोशी दूर हुई, लोग यह जानने को उत्सुक थे कि वह कौन है जिसने यह कृत्य किया है। बेहोशी दूर हुई। आँखें खुलीं। लोग चारों ओर से खड़े हो गये, आशा बंध गई। पण्डित जी ने केवल यह कहा—"भाई! जैनियों के दया-धर्म और अहिंसा परमोधर्म की ही मुझ पर कृपा है।"

औषधि ने असर न किया और पण्डित जी चल बसे।

❀ ❀ ❀

चौथा बलिदान

धर्मवीर म० रामचन्द्र जी

सम्वत् १९५२ में धर्मवीर का जन्म हुआ। आप जम्बू-प्रान्त के रहने वाले थे और पिता एक धनी पुरुष थे। आप भी तहसील में खजांची के पद पर काम करते थे। वैदिक धर्म के प्रचार में आपकी बड़ी लगन थी। अछूतों की दशा आपसे देखी नहीं जाती थी। हिन्दू-जाति अपने भाइयों के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार करती थी। सन् १९२३ ई० में आपका तबादला अखनूर को हो गया। यहाँ पर एक अछूत जाति है जिसको मेघ के नाम से पुकारते हैं [illegible] भी अधिक है। कुछ [illegible] थे। [illegible]ज ने मेघोद्धार का [illegible] महाशय रामच[illegible] साथ इस कार्य्य में य[illegible] दिया।

आर्य्य भा[illegible] अन्न-जल ग्रहण करने [illegible] पाण के लिये एक पाठशाला की [illegible]जना हो गई। यह बात उस स्थान [illegible]राजपूतों को बहुत बुरी लगी। मेघों [illegible]थ में उच्च-जाति का यह व्यवहार उन[illegible] न था। उन्होंने सोचा कि यह [illegible] दूर करना चाहिए। राजपूत युद्ध-[illegible] होते ही हैं, उन्होंने सोचा कि दो चार आर्य्यों

को चोट लगा देने से वे इस कार्य्य से हट जायेंगे। इसके लिये म० रामचन्द्र जी ही सामने पड़े। राजपूतों ने इनको घेर लिया। इनकी आयु केवल २६ वर्ष की थी। जिसने कभी लाठियों से लड़ना नहीं जाना भला वह किस प्रकार से उन राजपूतों से अपनी रक्षा करता। आप राजपूतों के प्रहार का सामना न कर सके और अन्त में आपकी मृत्यु हो गई।

घातकों ने जिस बात को दूर करने के लिये महाशय रामचन्द्र के प्राण लिये थे वह पूरी न हुई। उसका असर [illegible] सब, बिल्कुल [illegible]या डूब चली ही रहा [illegible] राजपूतों [illegible] करन निगाहों [illegible] अथवा [illegible] रामचन[illegible] खटकते [illegible] अब आर्य्य-समाज के प्रेमी बन ग[illegible] उन राजपूतों ने स्वयं विद्यालय के लि[illegible] ज़मीन दे दी है। उस प्रान्त के २० [illegible]घों का उद्धार म० रामचन्द्र ने जी[illegible] आहुति देकर कर दिया। १५ आ[illegible] समाज भी उस स्थान पर स्थापित हो गये हैं।

वीर म० रामचन्द्र जी चोटों से मृत्युशय्या पर घायल पड़े हैं

पांचवां बलिदान

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

आपका जन्म संवत् १९१३ वि० को हुआ था। आपके पिता पुलीस में नौकर थे। संन्यास लेने से पहले आपका नाम मुन्शीराम था। बचपन और युवावस्था का जीवन दुराचार का जीवन था। बरेली में ऋषि दयानन्द प्रचार के लिये गये। उनके दर्शन से आपकी उन पर बड़ी भक्ति जम गई। पिता ने नायब तहसीलदार भी बनवा दिया पर आपने नौकरी छोड़ दी और वकालत करने लगे। वकालत अच्छी चलने लगी। एक दिन आपको यह धुन समाई कि "सत्यार्थप्रकाश" पढ़ें। आप आर्य्य-समाज बच्छोवाली में पहुंचे। वहाँ से पता चला कि लाला केशवराम जी से यह पुस्तक मिलेगी। उनके घर पहुंचे। पता चला कि वे तार घर गये हैं। तार घर गये तो पता चला
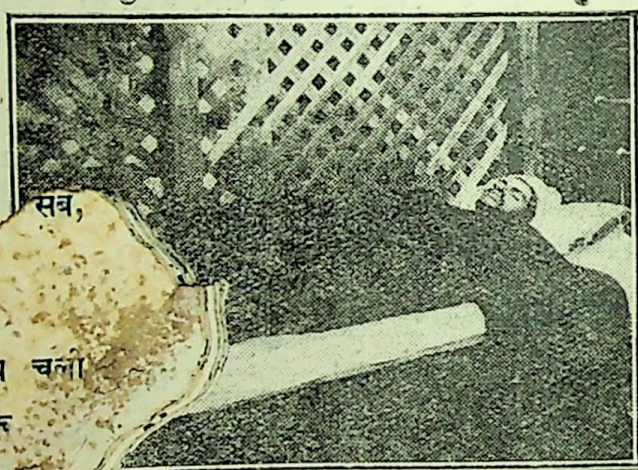
कि वे छुट्टी में घर गये हैं। घर पहुंचे तो पता चला कि वे तार घर चले आये हैं। पर वे धुन के पक्के थे। जब पुस्तक मिली तो दो दिन में ही आपने सब पढ़ डाली। मुन्शीराम जी आर्य्य-समाज के सभासद हो गये। लाला देवराज जी ने आर्य्य समाज का प्रधान पद महात्मा जी के लिये रिक्त कर दिया।

एक दिन आपकी पुत्री जो ईसाइयों के स्कूल में पढ़ती थी, गा रही थी "एक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल। ईसा मेरा राम रसिया। ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।" भोली भाली पुत्री के मुख से यह सुनकर महात्मा जी ने कन्या-महा-विद्यालय की स्थापना कर दी। यह विद्यालय उत्तरीय भारतवर्ष में अपने ढंग का सर्वोत्तम विद्यालय है।

३१ अगस्त १८९१ को आपकी स्त्री का देहान्त हो गया। आपने दूसरा विवाह नहीं किया। गुरुकुल की स्थापना करने का आपने निश्चय कर लिया और २६ अगस्त १८९९ को आपने प्रतिज्ञा की कि ३० हजार रुपया लेकर घर लौटूंगा। प्रतिज्ञा पूरी हुई। आपने सद्धर्म प्रचारक, तेज, लिबरेटर समाचार पत्रों को जन्म दिया। शुद्धि सभा में इतने जोर से काम किया कि लाखों मुसलमान शुद्ध हो गये। मुसलमानों में आपके विरुद्ध आन्दोलन होने लगा।
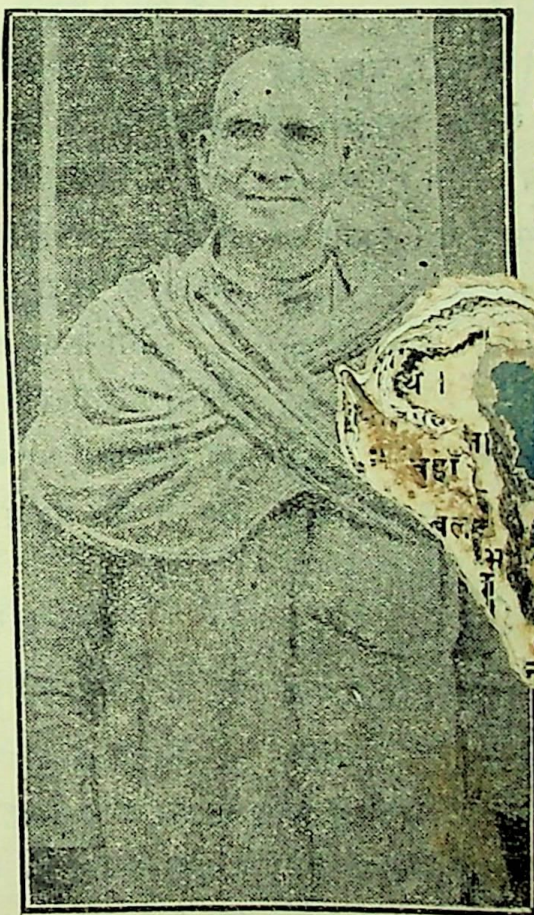
श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

देश तथा आर्य्य-समाज का कार्य्य करते हुये आपका स्वास्थ्य खराब हो गया। गुरुकुल इन्द्र-प्रस्थ आप किसी [illegible]र्य्य वश गये थे। [illegible] पर जुकाम [illegible] और उसने [illegible] का घोर [illegible] कर लिया, [illegible] बढ़ गई [illegible]य्या पर से नह[illegible]ठ सकते थे। आ[illegible] आभास हो ग[illegible] कि मृत्यु हो[illegible]ी है। मृत्यु से [illegible]त पूर्व पण्डित दीनदयाल शास्त्री आप[illegible] मिलने आये और कुशल पूछने लगे। आपने

कहा "अब इस शरीर से सेवा नहीं हो सकेगी। इच्छा है कि फिर इसी भारतवर्ष में उत्पन्न होकर देश की सेवा करूं।" गोली लगने के दो घण्टे पूर्व स्वामी चिदानन्द जी राजा सर रामपाल सिंह का तार लेकर आये। स्वामी चिदानन्द ने पूछा कि क्या उत्तर दिया जाय?" वीर सन्यासी ने कहा "फिर शरीर धारण कर शुद्धि के अधूरे काम को पूरा करूं यही इच्छा है।"

२६ दिसम्बर ११३२ को चार बजे का समय था। सेवक धर्मसिंह ने कमोड लाकर रख दिया। क्योंकि स्वामी जी उठ नहीं सकते थे। स्वामी जी शौच से निवृत्त हुये तब, [illegible] एक व्यक्ति ने आवाज़ दी। [illegible] "स्वामी जी बीमार हैं [illegible] कते। डाक्टर [illegible]या डूब च[illegible] [illegible] उस व्यक्ति ने [illegible] यम-स्वरूप आवाज़ें कर[illegible] [illegible] स्वामी जी ने उसको अथवा [illegible] नौकर से कहा, "आने [illegible] कहा "मैं आपसे इस्लाम [illegible] मुताल्लिक़ कुछ ग़ुफ़्तगू करना चाहता [illegible]" स्वामी जी ने कहा—"भाई, मैं बी[illegible]। तुम्हारी दुआ से राज़ी हो जाउ[illegible] बातचीत करूंगा।" उसने फिर [illegible]को पानी माँगा। धर्मसिंह उसको पानी [illegible]लाने ले गया। वह पानी पीकर दौड़ा आया और उसने स्वामी जी की छाती पर कई बार किये। स्वामी जी तकिये के सहारे बैठे हुये थे, इसलिये गोलियां उनकी छाती में घुस गईं। वीर संन्यासी तकिये पर गिर पड़ा और प्राण निकल गये। श्री धर्मपाल जी ने गोलियों की आवाज़ सुनी उन्होंने उस यवन को पकड़ लिया। धर्मसिंह की जांघ में भी गोली लगी थी। वह लंगड़ाता हुआ सीढ़ियों तक गया। पुलीस ने आकर किसी तरह उस दुष्ट के हाथ में से पिस्तौल रखवाई। इसका नाम अब्दुल रशीद था। लोगों ने उसे पागल बताया और लंदन की प्रिवी कौंसिल तक मुकद्दमा भेजा, पर उसको फांसी की सज़ा मिली।

लोगों ने यह समझा था कि शुद्धि का कार्य्य श्रद्धानन्द के प्राण ले लेने से खतम हो जायगा। पर बंद होना तो दूर रहा वह तो और बढ़ता ही गया।

❀ ❀ ❀

छठा बलिदान

महाशय राजपाल जी

अमृतसर के एक ग़रीब घराने में आपका जन्म हुआ था। बचपन से कुछ न कुछ लिखने की आपकी प्रकृति थी। १९०६ ई० में आप "सत्यधर्म प्रचारक" पत्र में क्लार्क होकर आये। इसके बाद जब कृष्ण जी ने "प्रकाश" नामक

पत्र निकाला तब आप उसमें कार्य्य करने के लिये आ गये। दिन-रात इसी में आप काम किया करते थे। आपका परिवार बड़ा था इसीलिये आपने सोचा कि पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ कर दें। उसी समय से आपने पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ कर दिया और आप आर्य्य-समाज के सबसे बड़े प्रकाशक बन गये।

एक पुस्तक आपने "रंगीला रसूल" नामक छपवाई। इस पर मुसलमान जनता में आग उठ खड़ी हुई। आपके खिलाफ़ मुकद्दमा चला दिया गया। भारतवर्ष भर में आपके विरुद्ध मुसलमानों ने आन्दोलन किया। मामला हाईकोर्ट तक गया। हाईकोर्ट के जस्टिस दलीपसिंह ने कहा कि पुस्तक अवश्य बुरी है पर जिस धारा के अनुसार राजपाल पर मुक़द्दमा चलाया गया है वह धारा इनकी पुस्तक पर नहीं लगती। राजपाल जीत गया। इस पर मुसलमान पत्रों ने बड़ा आन्दोलन मचाया और क्रान्ति मचाना चाहा। राजपाल ने आश्वासन दे दिया कि अब वे दुबारा इस पुस्तक को न छपवावेंगे क्योंकि मुसलमानों को इससे दुख हुआ है। पर लोग उनके ख़ून के प्यासे थे। २६ सितम्बर १९२७ को "खुदाबख्श" नामक एक मुसलमान ने आप पर हमला किया। छुरे से आपके छः ज़ख्म लगे, पर ईश्वर ने आपको बचा दिया। ९ अक्टूबर १९२७ को स्वामी सत्यानन्द जी आप की दूकान पर बैठे थे। "अब्दुल अजीज" ने वार किया। स्वामी जी बेतरह घायल हुये पर बच गये। ६ अप्रेल १९२९ ई० को आप दूकान में [illegible] कि "इलमदीन" ने [illegible] थे। [illegible] कर वार किया। छुरा [illegible] गा। आंते निकल [illegible] या। जिन लोगों ने ल[illegible] में आपके शव का साथ [illegible] था कि "राजपाल अम[illegible]

श्री १०८ स्वामी दयानन्द और योग

[श्री पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा, वैद्य (अमृतधारा), लाहौर]

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज पूर्ण योगी थे और समाधि के आनन्द को प्राप्त किये हुये थे तो भी संसार के उपकार के लिए आप कर्मयोगी बने।

श्री स्वामी जी घर से दो विचार लेकर निकले थे (१) आत्मा क्या है जो कि मृत्यु के समय बहिन या चचा के शरीर से निकल गया और (२) असली महादेव कौन सा है। बिना योग के आत्म-दर्शन नहीं। अतः उन्होंने इसी की खोज की और आपको नर्बदा किनारे जब योगी मिले तो उनका स[illegible]ब, [illegible]। स्वरचित जीवन-चरित्र में [illegible] उन्होंने मुझे निहाल क[illegible] जी महाराज [illegible]जी के पास पढ़ने [illegible] पूर्ण योगी हो चुके [illegible] भी पूर्ण करने के लिये [illegible] गुरु की आवश्यकता [illegible]

आप[illegible]लोगों को योग के सिखाने या सिद्धियां [illegible]ने में अपना समय नहीं लगाया [illegible] कि वह भारतवर्ष के लिये उस स[illegible] कुछ दूसरी बातें आवश्यक समझ[illegible]। फिर भी समय पर इसका बराबर [illegible]काश होता रहा है। कुछ घटनायें हम नीचे लिखते हैं।

(१) विद्या ग्रहण करते हुये एक बार यमुना में नहाती एक स्त्री से पांव छू गया तो आपने एकान्त में जाकर समाधि लगाई और तीसरे दिन गुरु के पास पहुँचे।

(२) प्रचार करते हुये एक बार जब आपको विष दिया गया तो गङ्गा में धोती वस्ति न्योली करके उसको निकाल दिया।

(३) वेद-भाष्य करते हुये जब कभी आपको किसी मन्त्र के अर्थ जानने होते तो एकान्त में जाकर प्राणायाम करके ध्यान को एक स्थान पर लगाते—उस समय कहते हैं ठण्ढक भी होती तो भी पसीने से भीग जाते और एक आदमी पंखा करता रहता। जब आप समाधि से उठते उसी समय मंत्र का अर्थ लिखा देते।

(४) आर्य्य-समाज लखनऊ के अधिकारियों ने एक विचित्र घटना लिखी थी कि जिन दिनों श्री स्वामी जी वहां रहते थे, एक सज्जन बड़े प्रेम से उनके लिये छाछ इत्यादि लाया करते थे। स्वामी जी जिस दिन चलने लगे कहा, कि आप बहुत प्रेम से छाछ दैनिक लाते रहे हैं। उसने कहा, "महाराज मेरे घर में मेरी भौजाई है, उसकी आंखें खराब हैं। वह बहुत श्रद्धा-भक्ति से भेजती रही है कि

महात्मा हैं, उनकी सेवा से स्यात् मेरा कल्याण हो जाये।

स्वामी जी ने कहा कि ऐसा नहीं करना चाहिये था परन्तु कहा चलो तुम्हारे घर चलें। जाते हुये उधर से गुज़र गये। उनकी भौजाई की ओर देख कर चले गये और कहते हैं कि केवल उनके दृष्टिपात से उसके नेत्रों का रोग दूर हो गया। वह सज्जन जब स्वामी जी को रेल पर छोड़ कर घर आये तो भौजाई को स्वस्थ [illegible]या।

(५) एक बार गङ्गा के किनारे भजन करते हुये कुछ धूर्तों ने आक्रमण करना चाहा। आपने पानी में डुबकी लगाई और उस समय तक पानी में ही रहे जब तक कि वह यहां से तंग होकर चले नहीं गये।

(६) मैडेम ब्लैवेट्सकी ने एक बार प्रश्न किया कि महाराज क्या यह सच है कि योगी एक शरीर से दूसरे में प्रवेश कर जाता है तो आपने कहा कि इतना तो हम भी कह सकते हैं कि सारे शरीर के प्राण खींच कर एक बिन्दु पर एकत्रित किये जायें। दूसरे शरीर में प्रवेश इससे एक पग ही आगे है।

(७) श्री स्वामी सर्वदानन्द जी ने एक अद्भुत घटना एक समय सुनाई थी। महाराज जोधपुर ने बार बार प्रार्थना की कि योग की कोई सिद्धि दिखाई जाय। तब एक दिन स्वामी जी ने बाग़ में पहरे का हुक्म दिया और बाग़ की कोठी में महाराज तथा स्वामी चले गये। माली ने कोई अचंभा जाना और वह सीढ़ियों के एक छिद्र से जिसका उसी को पता था कमरे में झांकता रहा। वही एक व्यक्ति बाग़ में था, नहीं तो इस घटना की किसी को ख़बर भी न होती। स्वामी जी एक चौकी से १ फुट ऊँचा हो गया और फिर इस प्रकार वायु में चारों ओर कमरे के घूमता हुआ उसी चौकी पर आकर टिक गया। आसन उत्थान ऊँचे योगी हो कर सकते हैं।

[illegible] थे।

([illegible] यहाँ [illegible] [illegible]ी जिन्हों-ने "योग [illegible] [illegible] पुस्तक लिखी थी उन्[illegible] [illegible] था कि प्राणायाम जो तो [illegible] [illegible]खा है उसमें बाह्य कुम्भक [illegible] [illegible]यान्तर कुम्भक तो समझ में आता [illegible] किन्तु बाह्याभ्यान्तर कुम्भक का पत[illegible] [illegible]लगता था। कई योगियों से पूछा [illegible] [illegible]लता न हुई। स्वामी जी से कहा [illegible] [illegible]होंने एकान्त में बुलाकर चन्द मिनटों [illegible] [illegible]ीक कर दिया।
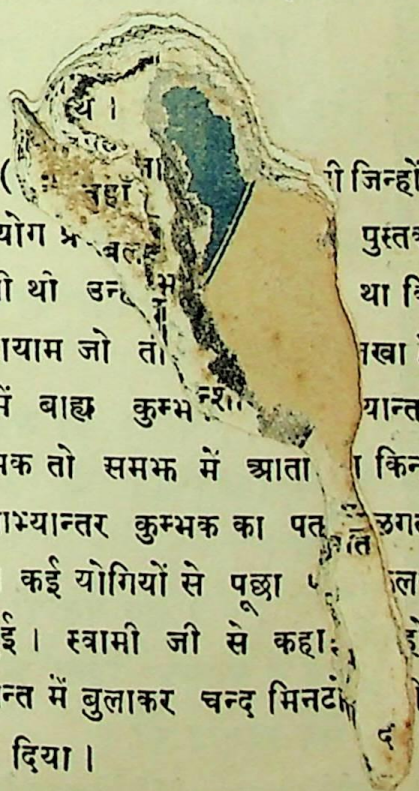
आर्य समाज के दस नियम

(१) सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य,पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । उसी की उपासना करना योग्य है ।

(३) वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है; वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

(४) सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये ।

(६ [illegible] का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है [illegible] आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

[illegible]या डूब च[illegible] [illegible]-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चा[illegible]

[illegible]करन[illegible] [illegible]द्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी [illegible] अथवा [illegible]

[illegible]) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना [illegible]ये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी [illegible]ये ।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम [illegible]ने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम [illegible] सब स्वतन्त्र रहें ।

आर्य्य समाज और उसके दस नियम

[श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०]

आर्य्य समाज के दस नियमों के विषय में अनेक भ्रम सामाजिकों तथा अन्य लोगों में पाये जाते हैं, अतः उनकी कुछ मीमांसा आवश्यक प्रतीत होती हैं।

इन दस नियमों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

१—पहले दो नियम ईश्वर-सम्बन्धी।

२—तीसरा ,, वेद सम्बन्धी।

३—चौथा ,, पांचवाँ ,, } वैयक्तिक आचार सम्बन्धी।

४—छठा, सातवां, आठवाँ } आचार सम्बन्धी

५—नवाँ, दसवाँ आर्य्य समाज के संगठन सम्बन्धी

१० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १

संगठन आचार वैयक्तिक आचार वेद ईश्वर
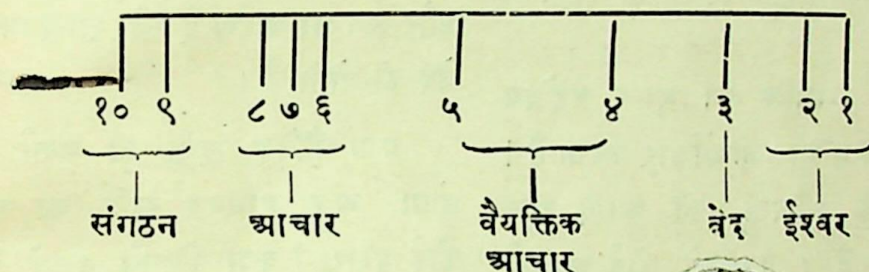
कुछ लोगों का कहना है कि इन नियमों में तर्क-शास्त्र सम्बन्धी क्रम नहीं है। यह बात कई अंशों में ठीक है। परन्तु यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय और इन नियमों के बनाने वाले की मनोवृति पर विचार किया जाय तो इन का मूल्य ठीक २ समझा जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक बात और याद रखना चाहिये। आर्य्य समाज किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है। यह एक सभा या सोसाइटी है जिसके संचालन के लिये यह दस नियम बनाये गये हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में इस बात को भली भाँति स्पष्ट कर दिया है। [illegible] कि यदि कोई हम से पूछे [illegible] थ। [illegible]? तो उत्तर दो कि "ह[illegible] हाँ [illegible] पूछे कि तुम्हारा म[illegible] कहो कि "हमारा धर्म वै[illegible] स्पष्ट हो गया कि आर्य्य [illegible] का नाम नहीं। किन्तु एक सभा [illegible]। यह सम्भव है कि कुछ वैदिक धर्मी लोग हों परन्तु वह आर्य्य समाज के [illegible] सद न हों। जो आर्य्य समाज के स[illegible] होंगे वही इन नियमों को मानेंगे। [illegible] यम आर्य्य समाज को संचालन करने [illegible] लिये बनाये गये हैं।

आर्य्य समाज उन लोगों की सभा

है जिनका मुख्य उद्देश्य वैदिक सभ्यता का प्रचार करना है। इसलिये इसके नियम विशेष कर दो कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो उद्देश्य अर्थात् वेद प्रचार, दूसरे वह नियम जिनसे आर्य्य समाज का संचालन सुचारु रूप से हो सके। पहले तीन नियम उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। शेष सात आर्य्य सामाजिकों के वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्देश करते हैं।

आर्य्य समाज का मुख्य उद्देश्य वैदिक सभ्यता का जीर्णोद्धार करना है। और वैदिक सभ्यता की आदि मूल आस्तिकता है। इसलिये कोई आश्चर्य की बात नहीं य[illegible]र्य समाज के पहले निय[illegible]उल्लेख कर दिया[illegible] डूब च[illegible]ता का भाव ही[illegible] जहाँ सूर्य, चन्द्र, [illegible]स्पति आदि की सृष्टि [illegible] ही साथ वेद का भी प्र[illegible]। सूर्य्य प्रातः काल ही निकल[illegible] हिरण्यगर्भ अर्थात् तेज की खान[illegible]श्वर का व्याख्यान करता है और[illegible] सृष्टि के प्रातः काल से ही उसी ज्ञा[illegible] भाण्डार जगदीश्वर का गीत गा[illegible]। सूर्य्य भौतिक जगत को देदीप्यमा[illegible]करता है और वेद मानसिक सृष्टि को ज्योतिर्मय कर देता है। परन्तु जिस प्रकार विना ईश्वर के सूर्य्य की सृष्टि असम्भव थी उसी प्रकार विना ईश्वर के वेद का प्रकाश भी अकल्पनीय था। इसलिये व्यास मुनि ने ब्रह्म के विषय में वेदान्त दर्शन के दूसरे और तीसरे सूत्रों में दो बातों का उल्लेख किया है :—

(१) जन्माद्यस्य यतः।

(२) शास्त्रयोनित्वात्॥

अर्थात् ब्रह्म सृष्टि के जन्म स्थिति और लय का कारण है और शास्त्र अर्थात् वेद की योनि है।

क्या भौतिक सृष्टि का कर्त्ता एक होता और ज्ञानमय सृष्टि का कर्त्ता कोई दूसरा? क्या जिसने हमारे हाथ पैर, नाक, कान बनाये उसी ने हमारा मन भी नहीं बनाया? क्या मन के लिये किसी और कर्त्ता की खोज होनी चाहिये? क्या हमारा शरीर उस इञ्जन के समान है जिसे बनाता कोई और है और जिसमें कोयला डाल कर चालू कोई और करता है? कभी नहीं। उपनिषद् क्या बताती है? :—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताभवन्ति।

(केन० उपनिषद्)

अमरीका देश में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचारक
श्री डाक्टर केशवदेव शास्त्री, एम० डी०

अर्थात् जो कान का कान और आंख का आँख है वही मन का भी मन है। जिसने भौतिक नियम बनाये हैं उसी ने मन के संचालन के लिये भी नियम बनाये हैं। इसलिये जिस ईश्वर ने आंख को देखने के लिये सूर्य दिया उसको मन को प्रकाश करने के लिये वेद भी तो देना ही चाहिये था। वेद में स्वयं आता है—

यस्मिनृचः साम यजूंषि
यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
य[illegible]स्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु ॥
(यजु० ३४।५)

अर्थात् जिस प्रकार भौतिक संसार में सूर्य चन्द्र आदि से प्रकाश आता है। इसी प्रकार मानसिक जगत् में ऋग्वेदादि-शास्त्र अपनी ज्योति फैलाते हैं।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को दो चीज़ों की योनि माना। एक संसार और दूसरे शास्त्र। एक पदार्थ और दूसरे विद्या। जिस बात को वेदान्त में 'योनि' शब्द से प्रकाशित किया गया है उसी को आर्यसमाज के पहले नियम में 'आदिमूल' शब्द से बताया गया है। "सब सत्य विद्याओं" का "आदिमूल परमेश्वर" है और जो "पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं" उनका भी "आदिमूल परमेश्वर" ही है।

यहाँ कुछ लोगों ने आपत्ति उठाई है। वे कहते हैं कि जब आर्यसमाज का मंतव्य है कि जीव और प्रकृति भी अनादि हैं तो इस पहले नियम में परमेश्वर को इनका भी आदि-मूल बता कर अपने ही मंतव्यों का खण्डन क्यों किया गया। इसके भिन्न २ महानुभावों ने अनेक समाधान किये हैं और अनेक विधि से बाल की खाल निकालने की कोशिश की गई है। मेरे विचार से तो प्रश्न-कर्त्ता भी बाल की खाल ही निकालते हैं और उत्तरदाताओं को तो स[illegible]रना ही पड़ता है। पहल[illegible]र्थ। [illegible] है कि मूल का तात्प[illegible] [illegible]कता है। मूल का प्रा[illegible] [illegible] है न कि निकास को [illegible] मूल का अर्थ 'आधार'। [illegible] ईश्वर के सर्वाधार मानने में [illegible]कार का संशय नहीं रहता। जो[illegible] आजकल मनुष्य मात्र की सम्पे[illegible] समझी जाती हैं उनका वास्तविक आ[illegible] मानवी मस्तिष्क नहीं, किन्तु ईश्वरीय [illegible]स्तिष्क अर्थात् ईश्वर ही है। उदाहरण[illegible] लिये गणित विद्या को लीजिये। इ[illegible] समय 'क' नाम का व्यक्ति बड़ा गणितज्ञ

समझा जाता है। इसने गणित के जिस जिस नियम का परिज्ञान प्राप्त किया वह वह नियम उसके ज्ञान में आने से पूर्व भी विद्यमान था। वस्तुतः जिस समय कोई भी मनुष्य इन नियमों से अभिज्ञ न था उस समय भी वे नियम सृष्टि में काम करते थे और ईश्वर ही उनका आधार था! संसार की प्रत्येक प्रगति नियमों के आधार पर अवलम्बित है। नियम वह माला है जिसमें यह प्रगतियें या घटनायें ओत-प्रोत हैं। यह घटनायें एक प्रकार से उस माला के दाने हैं। केवल एक विशेषता है? माला का धागा और चीज़ होता है और माला के दाने और चीज़। धाग[illegible] तो माला टूट जाती है और [illegible] हैं। परन्तु सृष्टि [illegible] डूब च[illegible] [illegible]ओं के साथ [illegible] केवल यह अंश [illegible] यदि नियम न रहे त[illegible] अथवा [illegible] माला न केवल छिन्न [illegible]ती है किन्तु इसके साथ ही [illegible]नायें भी जिनको हमने माला के [illegible]नों से उपमा दी है सर्वथा नष्ट [illegible]ाती हैं। यों कहना चाहिये कि य[illegible]नयमों का धागा ही इन दानों का [illegible] करता है और निर्माण करके उनमें [illegible]ोत-प्रोत हो जाता है। इन नियमों को विद्या या सत्य-विद्या और इन घटनाओं को पदार्थ कहते हैं। जहां माला का धागा रहेगा वहीं इसके दाने रहेंगे। जहां यह नियम रहेंगे वहीं घटनायें रहेंगीं। जहां विद्या रहेगी वहीं पदार्थ रहेंगे।

पाठकगण यह तो समझ गये होंगे कि नियमों का नाम ही विद्या है। इसी को शास्त्र या वेद कह सकते हैं और ईश्वर इनका आधार या आदि मूल है। परन्तु शायद यह बात भली भांति समझ में न आई हो [illegible] घटनाओं को पदार्थ कैसे कह दिया। इसे और स्पष्ट किये देता हूं। आप किसी पदार्थ को लीजिये। "मनुष्य" एक पदार्थ है। मनुष्य क्या वस्तु है? पदार्थ का अर्थ पद का अर्थ। पद नाम है शब्द का। "मनुष्य" शब्द एक 'पद' है। इसका अर्थ अर्थात् वाच्य क्या हुआ? वह वस्तु जिसमें मनन करने की शक्ति हो अर्थात् जो मनन करने के लिये निश्चित नियमों के अन्तर्गत घटनायें करता हो। इस प्रकार मनुष्य का समस्त जीवन उन घटनाओं का बण्डल मात्र है जो "मनन की कोटि" में आती हैं। इसलिये मनुष्य एक पदार्थ है। इसी प्रकार यदि नैरुक्तों की रीति के अनुसार आप विचार और मीमांसा करते जायें तो समझ में आ सकता है कि जो जो पदार्थ हैं वे सब

नियमों के बण्डल मात्र हैं। यदि घटनायें न होतीं तो पदार्थ भी न होते और नियम भी न होते। जितनी घटनायें होती हैं वे वैयक्तिक रूप से अन्य घटनाओं से अलग अलग नहीं हैं। वे सम्बद्ध हैं। परस्पर सम्बद्ध घटनाओं में एक नियम ओत-प्रोत होता है। पद, अर्थ और उसके संबन्ध का नाम ही विद्या है। इसलिये पहले नियम में ईश्वर को इन सब का आदि मूल माना गया है। यदि विचारपूर्वक देखा [illegible] तो इस [illegible] में आस्तिकवाद के मौलिक सिद्धान्तों को बीज रूप से रख दिया है। जिस प्रकार वट का वृक्ष वट के बीज में अव्यक्त रूप से पूरा विद्यमान रहता है उसी प्रकार समस्त आस्तिकवाद अव्यक्त रूप से इस नियम में विद्यमान है।

कुछ महानुभावों ने विद्या और सत्य विद्या में भेद किया है। परन्तु हमको तो इस भेद के करने की अवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जो विद्या है वही सत्य विद्या है। कभी कभी विद्या के साथ 'सत्य' विशेषण इसलिये लगा देते हैं कि कुछ लोग "अविद्या" अर्थात् 'भ्रम' को भी विद्या कह दिया करते हैं। हम आरम्भ में कह चुके हैं कि आर्य्यसमाज के नियमों को व्यावहारिक दृष्टि से देखना चाहिये। यह एक सुसायटी को चालू करने के नियम हैं। इसलिये अधिकतर उनकी भाषा भी वैसी ही है जिससे सर्व-साधारण की समझ में आ सके। यहां "पदार्थों" से आशय, "सृष्टि" से है न कि सृष्टि के मूल तत्वों से। यदि यहां परमेश्वर का उल्लेख किया गया तो केवल एक बात दिखलाने के लिये कि आर्य समाज का मुख्य सिद्धान्त जिसको अन्य सिद्धान्तों का आदि मूल या आधार शिला कहना चाहिये "आस्तिकवाद" है।

दूसरे नियम में "आस्तिकता" व्यक्त-रूप में दृष्टि-गोचर होती है। आर्य समाज के जन्म के समय भी मानवी जगत् का अधिकांश अपने को आस्तिक ही कहता था। [illegible] परमेश्वर के विषय में उनके [illegible] थे। आर्यसमाज का [illegible] कि उन विचारों को [illegible] का प्रचार करे। इस[illegible] विषय में उन्हीं बातों को [illegible]। हिन्दू जाति में साकार [illegible] धारण करने वाले ईश्वर [illegible] राज है और उस समय तो [illegible] ही। सीताराम, राधाकृष्ण जप[illegible] लोग अपने मस्तिष्कों में ईश्वर [illegible]षय में क्या मान रखते हैं इसकी [illegible] सी विवेचना ही बता सकती है [illegible] लोग ईश्वर को छोड़ कर उसकी जगह किस

को मान रहे हैं। बीसियों क्या सैंकड़ों और करोड़ों देवते हिन्दुओं के उपासक हो रहे हैं और जो हिन्दू नहीं हैं उनके उपास्यदेव 'एक' होते हुए भी उन्हीं सब विकारों से युक्त हैं जो किसी अवतार या मनुष्य में पाये जा सकते हों। जो अवतार नहीं मानते वह पैग़म्बरों को मानते हैं और समझते हैं कि विना पैग़म्बरों के साधन के ईश्वर तक पहुंच ही नहीं सकते। ऋषि को यह दिखलाना है कि आर्य्य समाजों का यह कर्त्तव्य है कि एक अजन्मा, न अवतार लेने वाले, आनन्द स्वरूप आदि आदि लक्षण वाले ईश्वर को उपासना का प्रचार करें जिससे ईश्वर और जीव के [illegible] का पर्दा दूर हो जाय। यह [illegible] [illegible]र गुरु इत्यादि इत्यादि [illegible] [illegible]विन्न साधनों क[illegible] [illegible]ईश्वर से अलग [illegible] [illegible]ूर हो जाने चाहिये। [illegible]

तीस[illegible] सम्बन्धी है। वेद के स[illegible] [illegible]कड़ों सूक्ष्म और स्थूल बातें क[illegible] सकती हैं। जिनमें से बहुतों [illegible] उल्लेख सत्यार्थ-प्रकाश और ऋग्वेद[illegible]भाष्य-भूमिका आदि ग्रन्थों में किया [illegible] चुका है। परन्तु यहां वेद को मोटे [illegible]रूप में रक्खा गया है। यहां दार्शनिक विवेचना अभीष्ट नहीं। यहां तो सभासदों के लिये एक 'पुस्तक' का निर्देश करना है जिसका वह नित्य-प्रति पाठ कर सकें और जब कोई भ्रम हो तो उसको देख सकें। इसीलिये इस नियम में वेद को "सत्य-विद्याओं का पुस्तक" कहा है। वस्तुतः काग़ज़ और स्याही का नाम वेद नहीं है। वेद तो ईश्वरीय ज्ञान का नाम है। परन्तु यहाँ पुस्तक-मात्र का उल्लेख किया गया है जिससे सर्व-साधारण दार्शनिक उलझनों में न पड़ें और बात बात पर वाद-विवाद खड़ा न हो। किसी समाज के संचालन के लिये नियमों का "सीमित" होना बड़ा आवश्यक होता है। यदि सीमित नियम न हों तो सभासदों में झगड़ा हो जाता है और भेद प्रभेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये यदि 'वेद' को 'पुस्तक' न लिखा जाता तो कोई वेद से कुछ तात्पर्य समझता और कोई कुछ। कोई कहता कि सायंस की किताबों में जिस ज्ञान का उल्लेख है वह वेद है। कोई ब्राह्मणों और उपनिषदों को वेद मानता। इन सबका निराकरण करने के लिये वेद को "पुस्तक" कह कर बताया गया है जिससे उन पुस्तकों के अतिरिक्त जो आज कल वेद नाम से पुकारे जाते हैं अन्य किसी का समावेश न हो सके।

चौथे नियम में सत्य के ग्रहण
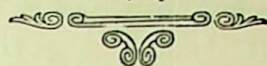
और असत्य के त्याग का उपदेश है। मनुष्य का जीवन ही सत्य की खोज के लिये है। जिसकी सत्य में प्रवृत्ति नहीं वह पशु से भी अधम है। बहुत से लोग इस पर शंका करते हैं कि यदि सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग अभीष्ट था तो पहले दो नियमों में ईश्वर का स्वरूप और तीसरे में वेद-पाठ का उपदेश क्यों किया गया। एक ओर वेद को मानने की परतंत्रता और दूसरी ओर सत्य की खोज की स्वतंत्रता। इन दोनों की संगति कैसी? परन्तु इन आक्षेप को करने वाले एक बात भूल जाते हैं। सत्य की खोज की स्वतंत्रता व्यक्ति-गत हो सकती है। किसी सभा या सोसायटी की नींव ऐसे अनिश्चित और असीमित नियम पर नहीं रक्खी जा सकती। यदि किसी सभा का यह नियम हो कि प्रत्येक सभासद जो अच्छा समझे उसे माने तो ऐसी सभा दो दिन भी न चल सकेगी। सभा तो सीमित नियमों के आधार पर ही चल सकती है। ऋषि दयानन्द के लिये तो वेद और सत्य में कोई भेद ही न था। उनके लिये जो कुछ वेदानुकूल था वही सत्य था और जो सत्य था वही वेदानुकूल था। यदि कोई ऐसा मनुष्य है जो वेद को सत्य नहीं समझता तो उसको चाहिये कि आर्य्यसमाज का सभासद न बने। क्योंकि उसका प्रोग्राम और एक आर्य्य-समाज का प्रोग्राम किसी प्रकार एक न हो सकेगा? फिर वह प्रचार ही किस बात का करेगा। बहुत से लोग 'सत्य' का बहाना लेकर समाज को चूंचूं का मुरब्बा बनाना चाहते हैं। स्व-तंत्रता का अर्थ नहीं समझते। उच्छृङ्खलता का नाम स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतंत्र शब्द भी 'स्व' और 'तंत्र' दो शब्दों से बना है। जिस प्रकार अराजकता स्वराज नहीं उसी प्रकार अतंत्रता स्वतंत्रता नहीं। स्वतंत्रता में भी तो "तंत्रता" सम्मिलित है। तंत्र कहते हीं नियम को हैं।

चौथे नियम में आर्य्यों की मनोवृत्ति का उल्लेख है। लोग अपने से विरोधी मत के मानने वा[illegible] अत्याचार करना अपना [illegible]थ। [illegible]वह आर्य्य-समाज के इ[illegible] करते हैं। इसमें और [illegible] के व्यक्ति-गत आचार [illegible]र्थात् सदा सचाई की तल[illegible] और हर एक से धर्म-पूर्वक [illegible]

छठे, सातवें और [illegible]नियम में आर्य्य-समाज का प्रोग्राम दि[illegible]आ है। अर्थात् आर्य्य-समाज उन स[illegible]स्थाओं का संचालन करेगा जिससे अ[illegible] दूर हो और विद्या का प्रकाश हो, जिस[illegible]नुष्य मात्र की शारीरिक, सामाजि[illegible] और आत्मिक अवस्था में उन्नति हो स[illegible] और

जिससे संसार की कलह दूर होकर प्रेम और शान्ति का राज्य हो। यह ऐसा प्रोग्राम है जिस पर अधिक टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। जो लोग आर्य-समाज के गत ५७ वर्षीय जीवन से अभिज्ञ हैं, वह भली भाँति जानते हैं कि आर्य्य-समाज ने इन सार्वजनिक कार्यों में कितना भाग लिया है। कालेज, स्कूल, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय, आश्रम यह सब इन नियमों की उपव्याख्या-मात्र हैं।

नवें और दसवें नियम में आर्य्यसमाज के संगठन का वर्णन है। कोई व्यक्ति किसी समाज का सभासद नहीं बन सकता जब तक उसकी इच्छा दूसरों का उपकार करने [illegible]माज में सम्मिलित होने [illegible] मंत्र ही यह [illegible]ति में संतुष्ट न[illegible]साइटी या समाज मे[illegible]ाई जाती हैं। बहुत से [illegible] हैं, जिनसे यद्यपि दूसरों [illegible] उपकार होता है तथापि हम उन[illegible] इरादा स्वार्थ-वश ही करते हैं। जै[illegible]दुकान खोलना या अन्य पेशे करना [illegible]म बहुत से ऐसे काम करते हैं जो प[illegible]कार के लिये किये जाते हैं परन्तु अपन[illegible]भी उपकार हो जाता है। जैसे किसी [illegible] दान दिया तो अपनी भी कीर्त्ति हो गई। पहले प्रकार के काम वैयक्तिक उन्नति के लिये हैं और वे किसी सार्वजनिक समाज के उद्देश्य नहीं होने चाहिये। उदाहरण के लिये "व्यापार मंडल" (Chambers of commerce) भी एक प्रकार के समाज हैं जिनसे दूसरों का उपकार होता है। व्यापार का कोई छोटे से छोटा विभाग भी ऐसा नहीं जिससे देश या जाति को लाभ न पहुँचता हो। परन्तु मानसिक वृत्ति में भेद है। व्यापार-मंडल का कार्य केवल इतना है कि अपने सभासदों की उन्नति हो। आर्यसमाज के सभासदों की मनोवृत्ति इससे इतर होनी चाहिये। प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है कि अपने जीवन के प्रोग्राम में दो भाग करे। एक तो अपनी उन्नति के लिये और दूसरा दूसरों की उन्नति के लिये। जिस मनुष्य के जीवन के दो प्रोग्राम नहीं हैं वह आर्य सिद्धान्तों को मानता हुआ भी आर्य-समाज की सभासदी का अधिकारी नहीं है। यह केवल सिद्धान्त सम्बन्धी बात नहीं है। इसका गहरा सम्बन्ध व्यवहार से है। जो अपने चौबीस घण्टों को अपनी ही उन्नति में लगा रहा है। चाहे वह उन्नति किसी प्रकार की क्यों न हो। और चाहे उसकी इस वैयक्तिक उन्नति से कितने ही लोगों का लाभ क्यों न

होता हो, वह कभी आर्य-समाज के नियमों का पालन नहीं कर रहा है। आर्य-समाज के सभासद को तो यह सोचना होगा कि मेरे जीवन का अमुक भाग अवश्य ही उन कामों में लगना चाहिये जिनका कोई सम्बन्ध उसके स्वार्थ से नहीं है और जो केवल दूसरों की उन्नति को दृष्टि में रख कर ही किये गये हों।

हम इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट कर दें। कल्पना कीजिये कि मैं अध्यापक हूं, मुझे कुछ वेतन मिलता है और उसके बदले मैं लड़कों को पढ़ाता हूँ। मैंने पढ़ाना इसलिये आरम्भ किया कि रुपये की आवश्यकता थी। मेरे इस कार्य से सैंकड़ों लड़कों का उपकार होता है, परन्तु यह उपकार इन नियम के अन्तर्गत नहीं आता। क्योंकि दूसरों की भलाई गौण है और अपनी भलाई मुख्य, यह तो संसार के सभी पेशों और व्यवसायों का हाल है।

आर्य-समाज का नवां नियम आर्य्य सभासदों का ध्यान एक ओर ही ओर आकर्षित करता है। यहाँ यह उपदेश है कि हमारा प्रत्येक सभासद कुछ न कुछ समय, न कुछ धन और कुछ न कुछ ध्यान ऐसे कार्यों की ओर अवश्य लगावे जो मुख्य करके दूसरों की उन्नति के लिये ही किये गये हैं और जिनका कोई भी स्वार्थ से सम्बन्ध नहीं है। यहाँ व्यापारिक दृष्टि नहीं किन्तु परार्थक दृष्टि है। दृष्टि-कोण का भेद हैं।

दसवाँ अर्थात् अन्तिम नियम तो संगठन की आत्मा है। प्रत्येक सभासद अपना व्यक्तित्व भी रखता है और समाज का सभासद भी है। उसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों का समावेश है। कभी कभी व्यक्तिगत कार्य्य समाज के कामों में बाधा डालते हैं और कभी कभी समाज के कार्य्य व्यक्तिगत कार्यों के बाधक होते हैं। सभासद को दोनों ही कार्य्य करने चाहिये। परन्तु एक भेद हो। वह यह कि व्यक्तिगत कार्य्य तो अपनी इच्छा के अनुसार करे और समाज के कार्य्य बहुमत की इच्छा से। अपनी इच्छा से दूसरों [illegible] थे। [illegible] अनुसार ढालना समष्टि [illegible] की इच्छा को अपनी [illegible] यहाँ [illegible] ना व्यष्टि। कल्पना कीजिये [illegible] कारखाना है जिसमें सौ [illegible] हैं। यह मेरा व्यक्तिगत का[illegible] इन सौ आदमियों को बाधित [illegible] वे मेरी इच्छा के अनुकूल कार्य्य करें [illegible] अध्यक्ष हूं, वे सेवक हैं। परन्तु समिति में मुझे अपनी इच्छा को दबाकर [illegible]त की इच्छा के अनुकूल बनाना प[illegible]। मैं प्रधान होते हुये भी स्वामी नहीं [illegible] मुझे उन्होंने प्रधान बनाया है तो मैं उनकी

इच्छा से और उन्हीं की इच्छा को पूरा करने के लिये प्रधान बनाया गया हूँ। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। यदि मैं ऐसा न करता तो मैं समाज की सभासदी के योग्य नहीं।

यहाँ बहुत से स्वतन्त्रता प्रिय लोग कहेंगे कि कोई आदमी अपनी स्वतन्त्रता को क्यों हाथ से जाने दे। ऐसे समाज में आने से क्या लाभ जहां मनुष्य गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाय। परन्तु यहां एक बात याद रखनी चाहिये। मनुष्य का अन्तिम ध्येय स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य संसार में अकेला नहीं आया और न अकेला कुछ कर सकता है। वह प्रत्येक बात में दूसरों का ऋणी है। वह स्वतन्त्र [illegible] कता है? क्या मैं कभी [illegible] योग्य हो सकता [illegible] डूब चली [illegible] ष पर निर्भर न [illegible] क्या फिर हम परत [illegible] बनाये गये हैं? यदि अथवा [illegible] है ता वेदों में "अदी [illegible] प्रार्थना ही व्यर्थ है।

मेर [illegible] स पुरुष को यह उत्तर है कि मनुष्य [illegible] तो स्वतन्त्र होने के लिये बना है और [illegible] तन्त्र होने के लिये। हमारा ध्येय है "[illegible] रतंत्रता" (Neither depen-de[illegible] nor independence but inte[illegible]dependence) सभ्यता का अर्थ ही यह है। आप सर्वथा स्वतन्त्र तो हो नहीं सकते। हाँ, उच्छृङ्खल हो सकते हैं। यदि ऐसा होगा तो आप दूसरों को दास बनायेंगे। सभा में कोई किसी का दास नहीं और न कोई सर्वथा स्वतन्त्र है। सब अदीन हैं। न मैं आपका दीन और न आप मेरे दीन। मेरे सामाजिक-कार्य आप पर और आपके सामाजिक कार्य मुझ पर निर्भर हैं। हम सब एक जंजीर की कड़ियां हैं जो सभी मुख्य हैं, कोई गौण नहीं। लोगों ने स्वतन्त्रता की उन्मत्तता में न जाने कितने लोगों को गुलाम बना डाला। जो स्वतन्त्र होने चलता है वह संसार में परतन्त्रता फैला देता है। इससे समाज के समाज नष्ट हो जाते हैं और आपाधापी का राज्य हो जाता है। समाजों में नित्य-प्रति जो झगड़े-बखेड़े उठा करते हैं वे सब इसी नियम के न समझने के कारण हैं। यदि हमारी समझ में आ जाय कि परस्परतन्त्रता (Inter-dependence) से ही समाज सुसंगठित रह सकता है तो हम दूसरों की राय का भी मान करना सीखें और हम सब की उन्नति हो सके।

यहां एक प्रश्न उठा करता है। क्या किसी समाज को अपने सभासदों के वैयक्तिक आचार का अन्वेषण करने का

(शेष पृष्ठ ४५ के नीचे देखिये)।

श्रीमती कलादेवी जी

अधिकार है। कल्पना कीजिये कि एक पुरुष का चाल चलन अच्छा नहीं है। कोई समाज उस पर आक्षेप करता है तो वह कहता है, "यह मेरा व्यक्तिगत मामला है। तुमको इस बात के पूछने से क्या, मतलब कि मेरे घर में एक स्त्री है या दो। मैं चोरी करके रुपया लाता हूं या ईमानदारी से, जब तक समाज का चन्दा नियमानुसार देता रहता हूं उस समय तक किसी को मेरी ओर उङ्गली उठाने का अधिकार नहीं।" इस विषय में मेरा वक्तव्य केवल इतना है कि किसी का चाल चलन [illegible] बातों में नहीं आता। चाल-चलन इतना ही व्यक्ति-सम्बन्धी है जितना समष्टि-सम्बन्धी, समाचार 'समाजिक सर्व हितकारी' भी है और "प्रत्येक हितकारी भी" इसी प्रकार दुराचार समाज और व्यक्ति दोनों के लिये हानिकारक है। परंतु उन सब बातों की सूची तैयार करना कठिन है जिन पर समाज में प्रश्न उठ सकता है या नहीं उठ सकता।

सुसंगठित समाज तो वही होगा जिसका कोई सभासद दुराचारी हो ही न सके। यदि दुराचारी मनुष्य उस समाज में आ जायं तो उनका दुराचार इसी प्रकार धुल जाय जैसे धूप में बर्फ पिघल जाती है या साबुन से मैल कट जाता है। जिस समाज में किसी दुराचारी सभासद के दुराचार पर घृणा प्रकट करने के लिये प्रस्तावों या वोटों की आवश्यकता पड़ गई उसमें अवश्य ही कुछ न कुछ सामाजिक दोष समझना चाहिये। यदि अधिकांश दुराचारी भर जायं तो कौन किस पर प्रस्ताव पास करे।

(शेष दूसरे कालम के नीचे देखिये)

वैदिक वाटिका

[श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री एम. ए., एम. ओ. एल., आचार्य, दयानन्द-ब्रह्म-विद्यालय, लाहौर]

अब जिस समय मुझे 'वेदोदय' के वर्त्तमान विशेषांक में 'एक सुन्दर' लेख के लिए लिखा गया है, मैं अपने आपको कई पूर्व-अङ्गीकृत कार्यों में इतना व्यग्र पाता हूं कि मेरे लिये कोई भी मौलिक, 'सुन्दर' का तो कहना ही क्या, विमर्शात्मक निबंध भेंट करना असम्भव सा है। इसलिये अपनी परिस्थिति से इस प्रकार बाधित होकर, मैंने एक ऐसा संकल्प ठाना है, जिससे मैं इस अवसर-प्राप्त सेवा से भी वंचित न रहूंगा और पाठक-वर्ग को एक सुन्दर उल्लेख भी पढ़ने को मिल जावेगा।

वस्तुतः यह मेरा लेख नहीं होगा। यह आर्य्य-व[illegible]ख्यान-सहित उल्लेख या [illegible]थे। [illegible] वैदिक-वाटिका में

[illegible] जहाँ [illegible]क मनुष्य नियमों के बल [illegible] भी ढूंढ़ ही लेते हैं। [illegible] संदेश में त्रुटियां होती है [illegible]ाज भी मानवी संस्था है। इस[illegible] नियमों पर शुद्ध विचार के साथ [illegible] किया जाय तो आर्य लोग स्वयम् अपने [illegible]ये तथा जगत् के लिये अवश्य ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। आर्य लोगों पर बड़ा भार है। उनके कंधे बड़े बोझिल हैं। ईश्वर उनको इस कर्तव्य के पालन और ऋषि-ऋण चुकाने का बल दें।

शंनो सत्यस्य पतयो भवन्तु ॥

सौभाग्य-वश भ्रमण करते हुए असंख्य सुन्दर २ पुष्पों के दर्शन होते रहते हैं। उन्हीं में से कुछ एक का यहां आपातिक संग्रह कर दिया जावेगा। वह निःसन्देह 'सुन्दर' होना चाहिये, क्योंकि धर्म-तत्त्वों के साक्षात्कारी, महामना महर्षियों के मुखारविन्द का वह मधुमय निःष्यन्द है। मेरा कोई भी उद्गार चाहे वह कितना भी हार्दिक क्यों न हो, इसकी तुलना नहीं कर सकता। और इस अवसर पर ऐसा ही करना कदाचित् अधिक उचित भी जंचेगा। जिस तापस-सम्राट के स्वर्गारोहण-पर्व के उपलक्ष्य में लेखक पाठक-वर्ग को परस्पर मिलने का यह साहित्यिक सुअवसर मिल रहा है, उसे आर्ष-वचनों का पाठ तथा विचार ही प्रियतम भासता था। अतः आओ, हम भी आज उस पुष्पलो[illegible] प्रवर्त्तक की पवित्र स्मृति [illegible] लिका द्वारा अपने हृद[illegible] प्रविष्ट तथा प्रति[illegible] करें, हमारे अ[illegible] उद्यान में निरन्तर [illegible] सकी महक से नित्य न[illegible] तथा चरितार्थ करते [illegible] स, सामर्थ्य तथा उत्साह [illegible] होता रहे।

प्रथम पुष्प

जरा वै देवहितमायुस्तावती हि समा जीवति।

[काठक संहिता ९ । २]

(वै) निश्चय करके (जरा) बुढ़ापा (देवहितम्) देवताओं द्वारा नियत (आयुः) आयु [समझना चाहिये] (हि) क्योंकि (तावती) उतने बरस [मनुष्य] (जीवति) जीता है।

व्याख्या—जीवन की प्राप्ति, उसका संरक्षण तथा परि-वर्धन परम-धर्म है। प्रत्येक नर-नारी का यह दिव्य-प्रसाद के रूप में जन्म-सिद्ध-अधिकार समझना चाहिये कि वह सौ वर्ष तक अवश्य आयु का भोग करे। जो मनुष्य इस परिमाण से पूर्व मृत्यु का ग्रास बनता है, वह आप करता है। उसने अपने जीवन में शुद्धि, व्यायाम, प्राणायाम, पवित्र व्यवहारादि स्वा[illegible] वर्द्धक शारीरिक, मानसिक सामाजिक नियमों के प्रति पर्याप्त आदर का भाव आचरण द्वारा प्रकट नहीं किया। यह उसने अपने ऊपर घोर अत्याचार किया है। वह आत्म-घातक बन कर मौत के अन्धेरे कुएं में गोता लगाता है। उसने समाज के साथ अन्याय करने का पथ चुना है। अपने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से अधिकधिक लाभ उठाना प्रत्येक समाज तथा संसार का स्वाभाविक अधिकार होता हैं। जो व्यक्ति अपने आलस्य, पाप के कारण उपर्युक्त मर्यादाओं का भङ्ग करके मृत्यु द्वारा दण्डित होता है, वह अपने समाज तथा संसार के इस अधिकार की चरितार्थता में विघ्न खड़ा करता है। अपने प्रति किये पाप का दंड अकाल मृत्यु है, तो दूसरों के प्रति किये अन्याय का कटु परिणाम मृत्यु-काल का सन्तोष-अभाव तथा आगे के सम्बन्ध में अन्धेरे की प्रतीति समझना चाहिये।

समाज में उचित शिक्षा-पद्धति के प्रचार-अभाव तथा सहानुभवी शासन के अभाव के कारण इस प्रकार की दुर्घटनाएं होती हैं, वह भी सामूहिक रूप से पापी होता है। उसका सामुदायिक फल दुःख, दीनता तथा परतन्त्रता के भयङ्कर भेष में प्रकट होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज को पूर्व-सांकेतिक नियमों पर कड़ी आँख रखते हुये आचरण करते कराते रहना चाहिये। वह सर्व-प्रथम [illegible] है।

[अपना तथा अपनी सन्तान का जीवन परिमाण घटाना बढ़ाना मानव-कर्म के स्वरूप पर निर्भर होता है। यही आर्ष-सिद्धान्त है। संसार का अनुभव पूर्ण इतिहास-ज्ञान भी इसी की पुष्टि करता है। अपने किये के फल को 'होनी' के माथे मढ़ कर मिथ्या सन्तोष को धारण करने की शिक्षा अवैदिक है। इसके प्रचार से परम-पुरुषार्थी ऋषियों की सन्तति की कैसी दुर्दशा होती चली आई है। अब समय है कि आगे से इसके प्रचार को रोक कर, वैज्ञानिक उद्योग-धर्म का शुभ-संचार किया कराया जावे। ऐसा करना प्रत्येक ऋषि-भक्त का कर्तव्य है।]

दूसरा पुष्प

शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य
आयुर्वीर्यं हिरण्यम् ॥

[काठक संहिता ९। २]

(वै) निश्चय करके (पुरुषः) पुरुष (शतायुः) सौ वर्ष की आयुवाला अर्थात् (शतवीर्य) सौ वर्ष तक वीर्यवान [होना चाहिये] (आयुः) जीवन (वीर्य) वीर्य [है] (हिरण्यम्) सोना [है]।

व्याख्या—सौ वर्ष तक जीने का यह भाव नहीं है कि कोई बुढ़ापे में खाट पर तड़पता हुआ मौत के दिन पूरे करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-संयम-नियम द्वारा अन्त तक वीर्य, बल, ओज और पराक्रम [illegible] के लिये सदा सचेष्ट [illegible] थ। होना [illegible] जीवन में उचित मात्रा [illegible] नहीं हो रहा, तो वह व्यक्ति [illegible] येक व्यक्ति उचित आर्थि[illegible] क्त होना चाहिये ताकि वह [illegible] से अपने कर्त्तव्य-कर्म में लग [illegible] सम्पत्ति-शालिता में जीवन-ज्योति [illegible] ती और निर्धनता में वह मन्द पड़ जाती है। पर स्मरण रखो, सम्पत्ति की प्राप्ति से उसकी रक्षा में अधिक गौरव होता है। निर्बल व्यक्ति प्राप्त हुए धन को यों ही खो देता है। अतः जब दोनों में विवेक करना हो,

तो शक्ति और पराक्रम के साथ धन की अपेक्षा अधिक प्यार करो।

🏵 🏵 🏵

तीसरा पुष्प

न हि स्वः स्वं हिनास्ति।

[काठक संहिता १९। ७]

(हि) सचमुच (स्वः) सगा (स्वं) सगे को (न) नहीं (हिनास्ति) मारा करता।

व्याख्या—यह समाज-शास्त्र का मूल-सूत्र है। यद्यपि आदर्श-दशा में आत्म-साक्षी का इस संसार में कोई वैरी अथवा अमित्र नहीं होना चाहिये, तो भी व्यवहार-दशा में प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज का हित इसमें गुप्त [illegible] कि वह अपने अपेक्षाकृत अधिक [illegible] त[illegible]ारि-वर्ग को कितना [illegible] चल[illegible] उससे कितनी [illegible] ग तथा संगठन क[illegible] ों से भी द्वेष न करना अथवा [illegible] कि यह सर्व-सम्मत [illegible] पनों से विशेष प्रेम रखना [illegible] पुण्य है। जहाँ व्यक्ति अविद्या [illegible] स्वार्थ-वश इस धर्म-मर्म को नहीं समझ सकते, वहाँ सामाजिक-शक्ति का कभी उदय नहीं हो सकता। जहां आत्मिक तत्त्व-ज्ञान के अनधिकारी निराधार तथा असिद्ध सार्वभौम-भाव का दम भरें और अपनों को विशेष रूप से अपनाने में संकोच करें। वहां भी सामाजिक उद्यान सूना पड़ा रहता है। वास्तविक तत्त्व-ज्ञानी का यह लक्षण होता है कि या तो वह अवधूत-अवस्था में दूर, एकान्त में अलग अलग पड़ा रहता है और या, अपने देशवासियों को सच्चे जीवन-मार्ग तथा शक्ति-पथ पर डालते हुए उन्हें परस्पर मेल-मिलाप, सहानुभूति, हितसाधकता, विश्वास, प्रेम तथा संकट-रक्षा के उच्च तथा परम-आवश्यक सामा-[illegible] ऐहिक-सहवास को सफल बनाता रहता है। अप्रतिष्ठित वैराग्य-पाखण्ड-विस्तार का मूलस्रोत तथा समाज-सङ्गठन का आन्तरिक घुण-स्वरूप होता है। इस मानसिक-रोग को दूर करना सामाजिक-पुण्य का काम है।

🏵 🏵 🏵

चौथा पुष्प

भविष्यद्धि भूयो भूतात्।

[काठक संहिता १९। १०]

(हि) निश्चय से (भविष्यत्) आनेवाला समय (भूतात्) बीत गये समय से (भूयो) अधिक बड़ा [होता है]।

व्याख्या—मनुष्य को सदा आशापूर्ण बन कर कर्म-परायण रहना चाहिये।

यदि पीछे कोई बिगाड़ हो भी गया हो, तो भी अब उसका रोना रोने से कुछ लाभ नहीं। अपरिमित अवसर-विस्तार आगे उपस्थित है। अब तो समग्र ध्यान उसके सदुपयोग पर ही केन्द्रित रहना चाहिये। ऐसा कभी भी नहीं सोचना चाहिये कि सब कर्म, धर्म तथा अभ्युदय अब लोप हो चुका है और कि अब हाथ पर हाथ धर बैठने के सिवाय कुछ बचा ही नहीं। यह कायर और [illegible]-जनों की भावना का चित्र होगा। वैदिक-आशावाद के धनी, धर्म-वीर महापुरुष उत्तरोत्तर वृद्धि-शीलता के प्रेमी होते रहे हैं। यही धारणा लोक-हितकारी समझनी चाहिये।

❀ ❀ ❀

पांचवां पुष्प

यायावरः क्षेमस्येशे।

[काठक संहिता १९ । १२]

(यायावरः) निरन्तर गतिशील (क्षेमः) कल्याण को (येशे) पाता है।

व्याख्या—सकल संसार गति-शील है। अणु २ और परमाणु २ निरन्तर घूम रहा है। इसी में जीवन का सार है। यही स्वास्थ्य का आधार है। जहाँ गति कम हो जाती है, वहां सड़ांद पैदा होकर मृत्यु के स्वागमन की तय्यारी होने लगती है। देश विदेश में घूमने वाले लोग धन-धान्य से परिपूर्ण और सुख-सामग्री से सदा युक्त रहते हैं। उनका उत्साह तथा अनुभव क्रमशः बढ़ता है, जिससे वे अपना तथा दूसरों का कल्याण करने में अधिक समर्थ हो जाते हैं।

❀ ❀ ❀

छठा पुष्प

ब्रह्मणा क्षत्रं समेति ब्रह्मणा व्येति।

[काठक संहिता २०।१]

(ब्रह्मणा) ब्रह्म-बल से (क्षत्रं) संसार (समेति) बनता है (ब्रह्मणा) ब्रह्म-बल से [ही वह] (व्येति) बिगड़ता है।

व्य[illegible] राष्ट्र में ब्राह्मण [illegible]र्थ। तपस[illegible], त्या[illegible]सी तथा विद्वान् होते हैं, वहाँ [illegible] सिद्ध होता और क्षत्र बल[illegible]जा के उप-कार में लगा [illegible] पढ़े लिखे लोग छल-कपट [illegible]र स्वार्थ-परायण बन दूसरों [illegible] में धूलि झोंकते हुये अपना उल्लू [illegible]धा करने लगते हैं, वहां से विद्या तथा लक्ष्मी पंख धारण कर उड़ जाती हैं। वहां फूट का बाजार गरम हो २ कर सर्वनाश हो जाता है। अतः सर्वत्र विद्वानों को अपने सामने वैदिक तप के पवित्र आदर्श को

आर्यसमाज का विद्या-प्रचार सम्बन्धी कार्य

[श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी०]

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज लाहौर

ऋषि दयानन्द की मृत्यु का समाचार लाहौर पहुंचा। लोग विह्वल हो गये। लाला सांईदास जी के समान धार्मिक सज्जन भी रोने लगे, किसी की समझ में न आया कि यह आपत्ति किस प्रकार दूर की जाय। कुछ आर्य्य-प्रेमियों ने सोचा कि ऋषि की यादगार के लिये कुछ प्रयत्न किया जाय। पं० गुरुदत्त जी अभी अजमेर से न लौटे थे। इस समय आपकी अवस्था २० वर्ष की थी, पर सब ने कहा कि जब तक पं० जी का परामर्श न लिया जाय तब तक कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

पं० गुरुदत्त जी लौट कर आये। ८ नवम्बर १८८३ ई० को उन्होंने व्याख्यान दिया और कालिज खोलने का प्रस्ताव जनता के सामने रक्खा। पं० जी के व्याख्यान से लोगों के दिल पिघल गये और ७०००) उसी समय एकत्रित हो गया। पं० गुरुदत्त जी ने अब चन्दा मांगना आरम्भ कर दिया। आपके व्याख्यान इतने प्रभावशाली थे कि लाहौर के एक व्याख्यान में १००००)। रावलपिण्डी में १६००), पेशावर में २६००) मिले। अमृतसर में स्त्रियों ने गहने उतार कर आपके अर्पण कर दिये और ९०८।) नक़द मिले। प्रचार कार्य तथा दयानन्द कालिज के कार्यों से उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और पंडित जी १९ मार्च १८९० को २७ वर्ष की अवस्था में इस संसार से चले गये, पर २० वर्ष की अवस्था से २७ वर्ष की अवस्था तक ७ वर्ष में आप आर्यसमाज की जड़ को बहुत दृढ़ कर गये।

[पृष्ठ ४९ का शेष देखिये।]

रखते हुए, अपना त[illegible] कल्याण करते रहना चाहि[illegible]

[पाठक [illegible] अभी इतना ही पर्याप्त होगा [illegible] में हो और समय [illegible] के एक से एक बढ़ि[illegible] के ही प्रदर्शन में लगा [illegible] विदा होने से पूर्व, आपसे य[illegible] सानुरोध कहना है कि उदार भाव से युक्त होकर वेद के वास्तविक प्रचार के कार्य में सदा अग्रसर रहें। स्वयं इस सरस्वती स्नान से पवित्र हों और दूसरों को इसे कराने में निमित्त बनकर परम यश के भागी बनें।

पण्डित गुरुदत्त जी को इस कार्य में दो महान् आत्माओं से बड़ी सहायता मिली। यह महान् आत्मायें लाला लाजपतराय तथा महात्मा हंसराज थीं। महात्मा हंसराज जी बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके थे। विद्यार्थी अवस्था में भी आप कालिज के कार्य में सहायता देते थे। आपके बड़े भाई लाला मुलकराज ने आपसे पूछा कि क्या करना चाहते हो? आपने कहा, "मैं चाहता हूं कि इस [illegible] को देश और धर्म की वेदी पर चढ़ा दूं। मेरी यह इच्छा नहीं है कि मुझको किसी प्रकार की नौकरी मिले या कोई उत्तम पद मिले। मैं तो निस्वार्थवश सेवा करता हूँ। मुझको कोई रुकावट मालूम होती है तो इससे कि घरवालों की समस्या कैसे हल की जाय।" छोटे भाई के इन पवित्र विचारों को सुन कर लाला मुलकराज का गला भर आया और उन्होंने कह दिया—"आज से घर की रोटी की समस्या मैंने अपने ऊपर ले ली है, तुम बिना किसी हिचक के देश के कार्य में लग जाओ।"
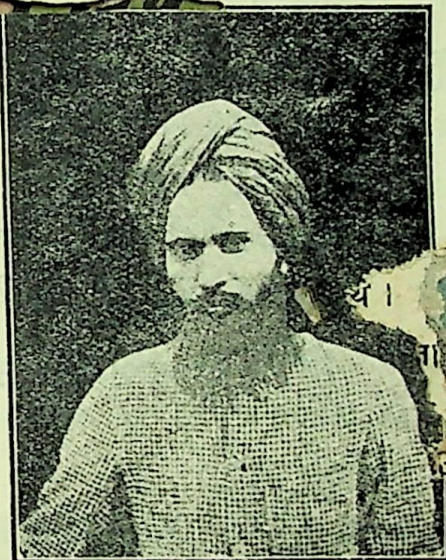
त्याग-मूर्त्ति महात्मा हंसराज जी

आर्य्यसमाज लाहौर का १८ वां वार्षिक उत्सव था। इसी उत्सव के बीच में यह घोषणा कर दी गई कि महात्मा हंसराज जी ने अपना जीवन बिना कुछ सहायता के आर्य्य समाज के अर्पण कर दिया है। इस त्याग को सुन कर लोगों के हृदयों में बिजली दौड़ गई। इस देवता के इतने बड़े त्याग का सुनकर लोगों ने उनकी बड़ी प्रशंसा की।

सन् १८८६ ई० के जून मास में [illegible]र्य। [illegible]ानन्द ऐंग्लो [illegible] [illegible]क हाई-स्कूल [illegible]ना हुई। [illegible] हंसराज [illegible]क हेड [illegible]श[illegible]। दो वर्ष में [illegible]० ए० की कक्षायें खुली, तब महात्मा हंसराज जी इसके अवैतनिक प्रिंसपल हुये। १८९० ई० में बी० ए० की कक्षायें खुलीं और कुछ दिनों पश्चात् यह कालिज एम० ए० की श्रेणी तक हो गया। महात्मा हंसराज

जो उस समय से आज तक बराबर दयानन्द कालिज सोसाइटी का कार्य्य कर रहे हैं। आपके नेत्र खराब हो गये थे अतः इस वर्ष आप जर्मनी नेत्र बनवाने गये हैं। हमें यह भी सूचना मिली है कि आपके नेत्र बन गये हैं। ईश्वर ऐसे परोपकारी निस्वार्थ नेता को चिरंजीवी करे।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज ट्रस्ट तथा मैनेजमेंट सोसाइटी

इसके ८९ सदस्य हैं। आर्य्यसमाज लाहौर के २६ प्रतिनिधि, ५८ बाहर की समाजों के प्रतिनिधि, ४ पुरुष जिन्होंने जीवन दान कर दिया है, १ दयानन्द कालिज की यूनिय[illegible]धि, [illegible]ाहौर कालेज का प्रिंसि[illegible] चली[illegible] के कारण)। गतवर्ष त[illegible]राज जी इसके प्रधान थे[illegible] साईंदास जी इसके प्रथवा [illegible]ौर के बाहर २७ डी० [illegible] का प्रबन्ध इसके आधीन [illegible]

दयानन्द कालिज लाहौर

यह उत्तरीय भारत के सब से बड़े कालिजों में से है। इसमें इस समय १२०९ विद्यार्थी पढ़ते हैं। सायंस और आर्ट कालेजों के विशाल भवन बने हुये हैं। पुस्तकालय में १३ हजार ९४० पुस्तकें हैं। व्यायाम तथा खेल का उत्तम प्रबन्ध है। २५ मिनट प्रतिदिन धर्म की शिक्षा दी जाती है। सन्ध्या और गायत्री के सिखलाने पर बल दिया जाता है। कालिज का बोर्डिङ्ग बहुत सुन्दर बना हुआ है। इसमें ६२४ विद्यार्थियों के रहने का प्रबन्ध है।

डी० ए० वी० हाई-स्कूल लाहौर

इस स्कूल में इस समय २८३२ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। गतवर्ष ३३४ विद्यार्थी मैट्रिक परीक्षा में भेजे गये और उसमें २८६ उत्तीर्ण हुये। ८ वज़ीफे इस स्कूल के विद्यार्थियों को मिले।

दयानन्द आयुर्वैदिक कालेज लाहौर

इस कालिज में विद्यार्थी को ३ वर्ष पढ़ना पड़ता है। इसमें इस समय १४५ विद्यार्थी हैं जो सुदूरवर्त्ती प्रान्तों से आये हैं।

दयानन्द ब्रह्म-महाविद्यालय

इसमें विद्यार्थियों को धर्म की शिक्षा दी जाती है और उनको प्रचार कार्य्य के योग्य बनाया जाता है। इसमें ४९

विद्यार्थी हैं। १८ विद्यार्थियों के भोजन वस्त्र का प्रबन्ध है। इसके आचार्य्य पं० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल० इने गिने आर्य्य विद्वानों में से हैं।

डी० ए० वी० कालिज जालंधर

इसकी स्थापना १९१८ ई० में हुई थी। इस समय इसमें ७४६ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। पं० मेहर चन्द बी० ए० इसके अवैतनिक प्रिंसपल हैं। इसके पास दो लाख की सम्पत्ति है।

सुसाइटी की सम्पत्ति

डी० ए० वी० कालिज के पास इस समय २९ लाख, ७९ हजार, २०४ रुपये, २ आने और ५ पाई की सम्पत्ति है। इसमें से १३७०९३६ रु० ३ आने ८ के भवन, और ७५१९६ रु० ९ आने १० पाई की जमीन है।

संयुक्त प्रान्त में डी० ए० वी० स्कूल तथा कालिज

पञ्जाब की भांति संयुक्त प्रान्त में भी कालिजों की लहर चल पड़ी। श्री बाबू ज्योति स्वरूप जी, बाबू आनन्द स्वरूप जी तथा बाबू ज्वाला प्रसाद जी ने इस ओर बड़ा प्रयत्न किया है। पञ्जाब डी० ए० वी कालिज के प्रसिद्ध कार्य्यकर्त्ता श्री दीवानचन्द जी एम० ए० से इस कार्य्य में बड़ी सहायता मिली है। इस समय दो कालिज, १० हाई स्कूल तथा ९ मिडिल तक डी० ए० वी० स्कूल हैं।

गुरुकुल

दयानन्द कालिज ने आर्यसमाज के कार्य में बड़ी सहायता दी थी, पर लोग इस बात का अनुभव करने लगे कि इस प्रकार की शिक्षा से काम न चलेगा। वैदिक सभ्यता के पुनरुद्धार के लिये यह आवश्यक था कि विद्यार्थियों की शिक्षा प्राचीन पद्धति के अनुसार दी जाय जिसका उल्लेख ऋषि दयानन्द कर गये थे। [illegible] में विदेशी भाषा की शिक्षा दी जा[illegible] और थोड़े काल के लिये धार्मिक [illegible] जाती थी वह पाश्चात्य प्रभ[illegible] के लिये समुचित न थी।

श्री महात्मा मुन्शी[illegible] स समय आर्य-प्रतिनिधि सभा के स[illegible] थे और उन्होंने उस सभा के सामने एक स्कीम रक्खी पर स्कीम अकेली से काम न चलता। उस कर्मवीर तपस्वी महात्मा ने प्रण किया कि जब तक ३००००) इकट्ठा न कर लूंगा, घर लौट कर न जाऊंगा। उस कर्मवीर की प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब धन

इकट्ठा हो गया तो प्रश्न यह उठा कि कौन इसके कार्य को करेगा। गुरुकुल में एक गृहस्थी का रहना उचित नहीं। महात्मा जी की स्त्री का देहान्त हो चुका था। उन्होंने वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। उनके साथ लाला शालिग्राम जी भंडारी तथा पण्डितगङ्गादत्त जी ने भी अपना जीवन गुरुकुल को दे दिया।

रुपया आ गया और कार्य-कर्त्ता आ गये पर एक बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। कौन अपने पुत्रों को इस विद्यालय में पढ़ने भेजेगा। ... चली अंग्रेजी में ... ग्रेजु-एट होकर ... ही पा... अथवा ... सरकारी ... मिल स... थीं, पर यहां नौकरी का प्रश्न नहीं था। कौन अपने पुत्रों का भविष्य अन्धकारमय बनाता। महात्मा जी ने जहां अपना धन और जीवन गुरु-कुल के अर्पण किया वहाँ अपने पुत्रों हरिश्चंद्र और इन्द्रचंद्र को गुरुकुल में भर्ती कर दिया। हर्ष है कि प्रो० इन्द्र इस समय भी देश तथा समाज की सेवा कर रहे हैं।
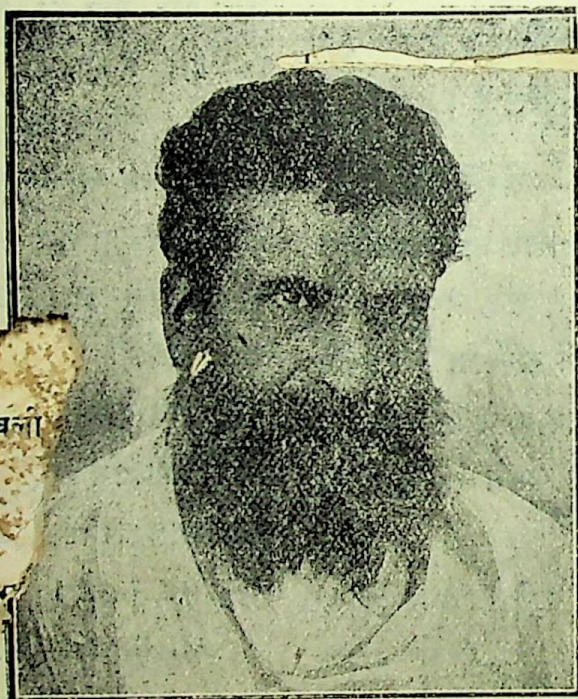
महात्मा मुन्शीराम जी

हरिद्वार के समीप मुन्शी अमनसिंह ने अपनी कुल ज़मींदारी महात्मा मुन्शी-राम के अर्पण कर दी। इस ग्राम का नाम कांगड़ी था इसलिये यह "गुरुकुल कांगड़ी" के नाम से जगत् में विख्यात हुआ। मुन्शी अमनसिंह के इस त्याग की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

गुरुकुल के ऊपर ... और ... आई सरकार समझने लगी कि गुरुकुल एक राज-नैतिक संस्था है और यहां पर गोला बारूद की शिक्षा दी जाती है। इस समय आर्यों ने बड़ी दृढ़ता से कार्य किया और गवर्नमेंट का विचार बदल गया।

अब महात्मा जी ने गुरुकुल की आर्थिक अवस्था के सुधारने का बीड़ा उठाया। आपने बड़े उत्साह से गुरुकुल कांगड़ी के भवन बनवाये। विद्यार्थियों के खेलने,

नहाने, भोजन आदि का बड़ा सुप्रबन्ध किया। इस विद्यालय की ख्याति देश विदेश में पहुंची और विदेश यात्री बराबर इसके देखने के लिये आते हैं।
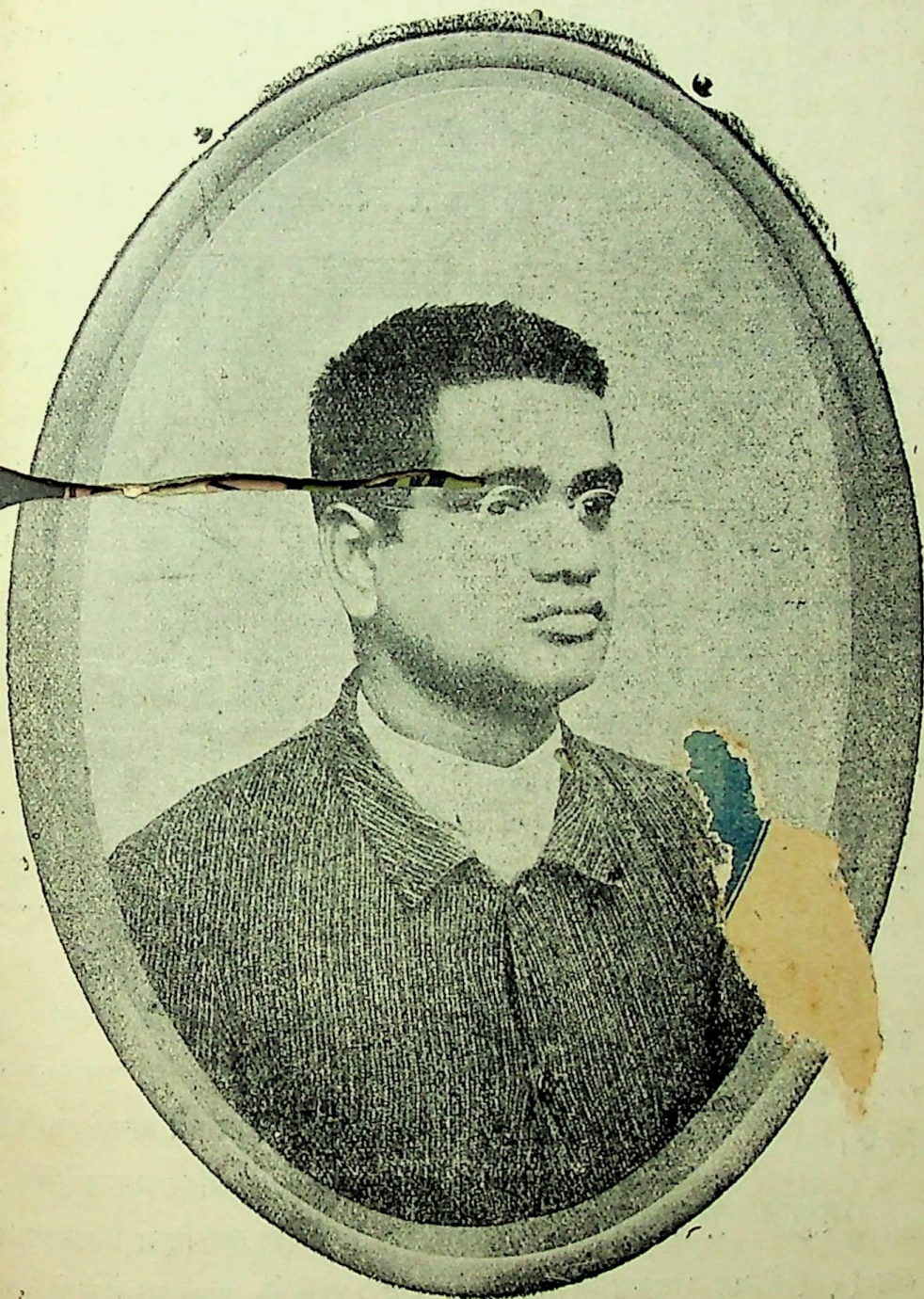
श्री आचार्य रामदेव जी

सम्वत् १९७४ ई० में आपने सन्यास ले लिया और गुरुकुल से विदा हुये।

कुछ अव्यवस्था देखकर उनको फिर कुछ काल के लिये आना पड़ा। इस कार्य्य में श्री प्रो० रामदेव जी से बड़ी सहायता मिली थी। उन्होंने भी अपना सर्वस्व गुरुकुल को दान दे दिया था। स्वामी जी के बलिदान पर आप मुख्याधिष्ठाता बनाये गये।

गङ्गा की बाढ़ से गुरुकुल के भवन बह गये और एक लाख की क्षति पहुंची। अब दूसरे स्थान पर नये भवन बन गये हैं।

गुरुकुल के स्नातक वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे हैं। १० गुरुकुल में अध्यापक हैं, एक गुरुकुल वृन्दावन में, तीन गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में, २ गुरुकुल मुल्तान में, २ गुरुकुल सूपा में, एक नवसारी गुरुकुल में, ३ गुरुकुल कुरुक्षेत्र में, २ रामताल गुरुकुल में, ... मटिण्डु गुरुकुल में, १ कमालिया ... बेटसोनी में, १ गुरुकुल गु... में, एक स्यालकोट में है। इ... इन स्नातकों द्वारा गुरुकुलों ... था हो रही है।

इस ... गुरुकुल के पास १४ लाख, ८... हजार तीन सौ ४६ रुपये की सम्पत्ति है।

गुरुकुल वृन्दावन

सन् १९०१ में यह गुरुकुल सिकन्दराबाद में स्थापित हुआ था। दिसम्बर १९११ ई० में यह वृन्दावन में आ गया। श्री पं० भगवानदीन जी तथा महात्मा नारायण प्रसाद जी को इसकी स्थापना का सर्वश्रेय प्राप्त है। महात्मा नारायण प्रसाद जी ने अपनी नौकरी से छुट्टी लेकर इसका कार्य्य आरम्भ किया था और जब आपको यह अनुभव होने लगा

आर्य्य-समाज के प्राण
श्री महात्मा नारायण स्वामी

कि उनकी सेवाओं की गुरुकुल को आवश्यकता है तो आपने अपनी सरकारी नौकरी छोड़ दी और अपना सर्वस्व गुरुकुल के अर्पण कर दिया। उस समय से सन् १९२० में वानप्रस्थ लेने के पहले तक बराबर आप बड़ी संलग्नता के साथ इसका कार्य्य करते रहे। गतवर्ष विद्यार्थी

लाला देवराज जी
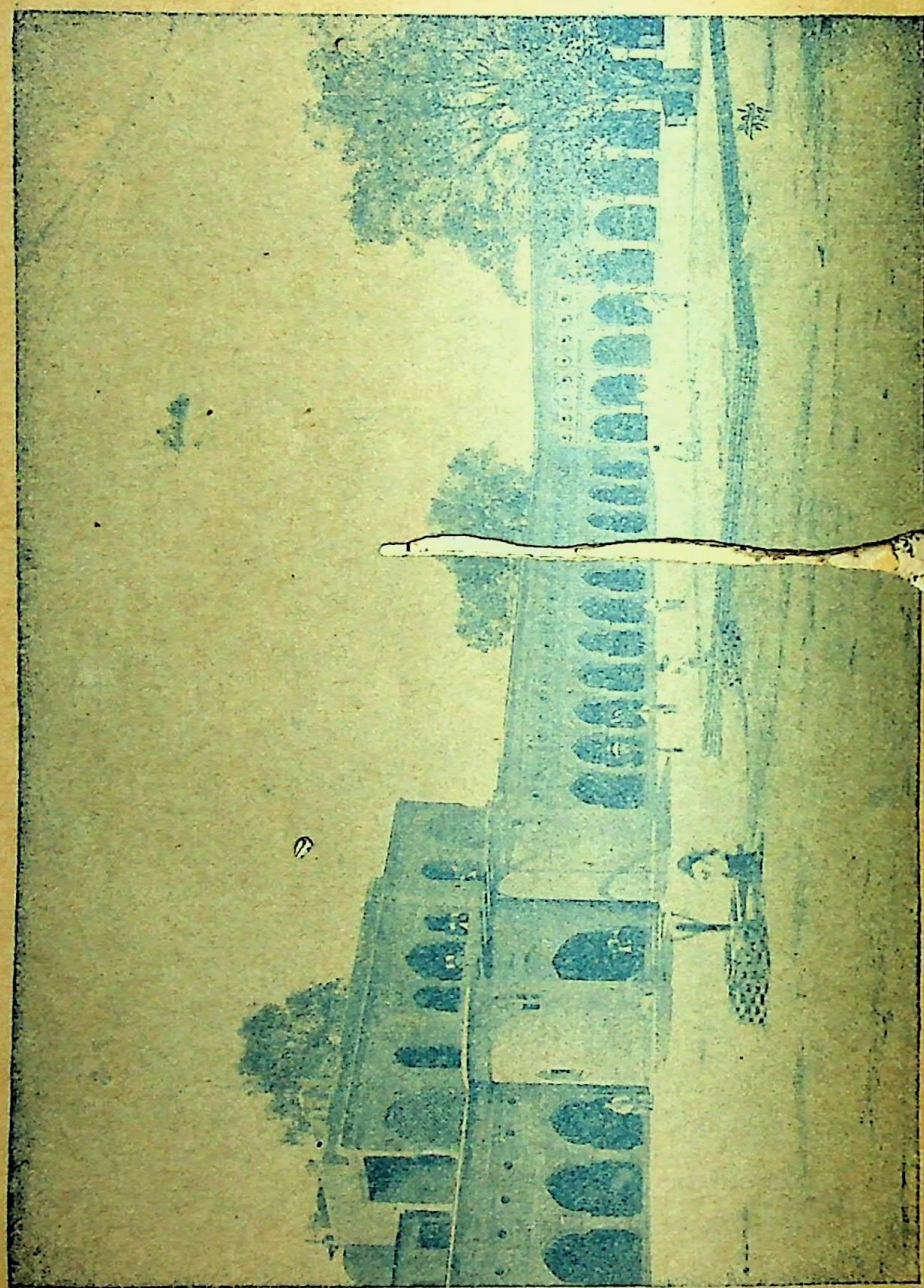
कन्या महाविद्यालय जालन्धर की लड़कियां बाटिका में कार्य कर रहीं हैं ।
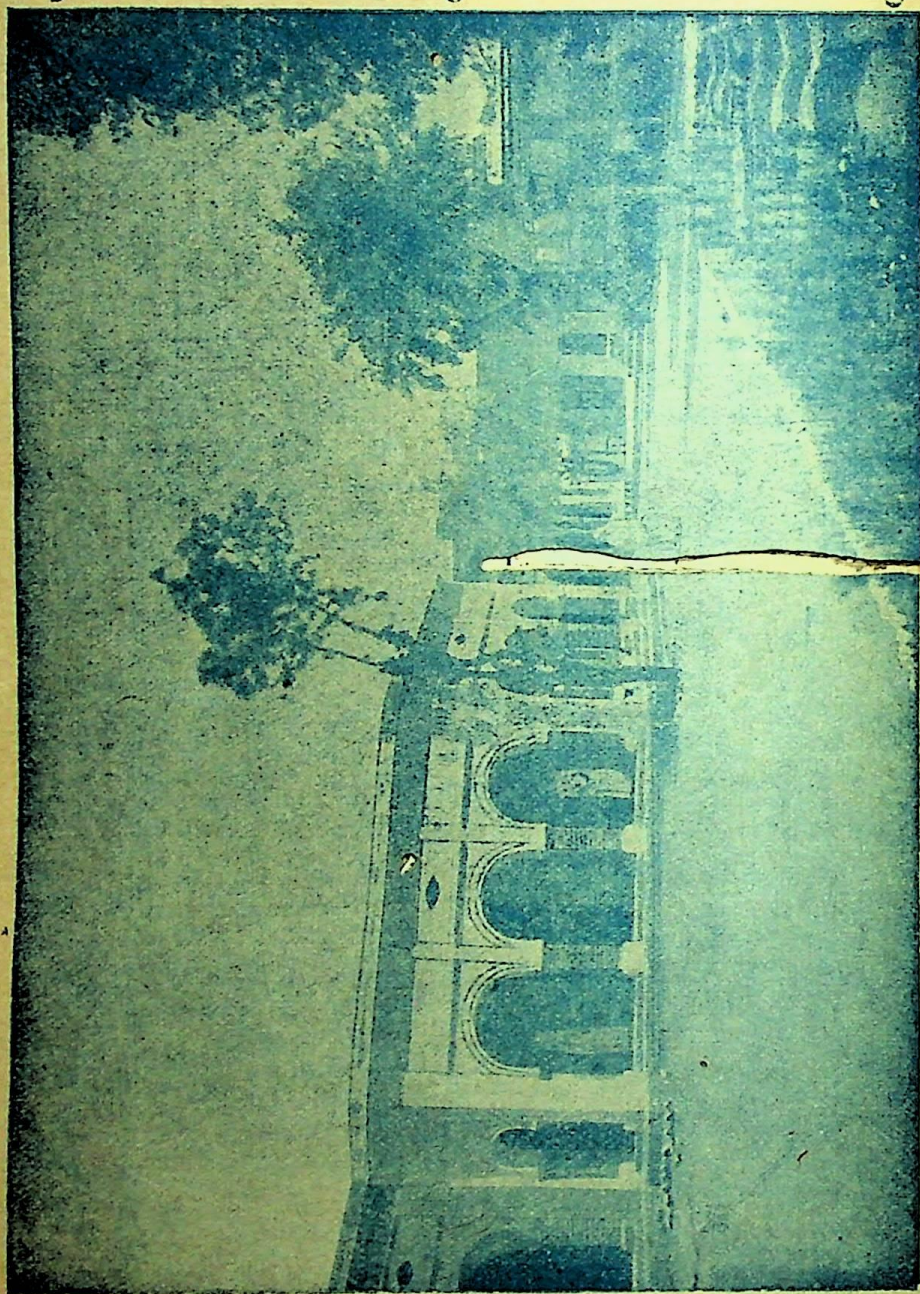
गुरुकुल वृन्दावन में यज्ञ शाला।

श्री राजकुमार रणञ्जय सिंह जी, अमेठी राज्य, अवध

आर्य-समाज के प्रसिद्ध कवि "कर्ण" महोदय

[illegible]-समाज के प्रसिद्ध विद्वान्, तपस्वी राज्यरत्न मास्टर आत्माराज जी. अमृतसरी, बड़ौदा

संख्या १२७ थी। गुरुकुल के पास १ लाख के लगभग सम्पत्ति है।

गुरुकुल सोनगढ़ काठियावाड़

माननीय राज्यरत्न मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी के विद्वान् सुपुत्र श्री पं० आनन्दप्रिय जी बी० ए०, एल-एल० बी० के हृदय में गुरुकुल खोलने का विचार हुआ। श्री नारायण लाल जी की सहायता से सन् १९२८ की शिवरात्रि पर इसकी स्थापना हुई। इसमें चिकित्सालय, व्यायाम मंदिर, गो-शाला, उद्यान बना हुआ है। १५ शिक्षक इसमें कार्य्य कर रहे हैं।

कन्या महाविद्यालय जालन्धर

कन्या महाविद्यालय जालन्धर के समान भारतवर्ष में और कोई विद्यालय कन्याओं के लिये नहीं है। सितंबर १८८६ में जनाना स्कूल के नाम से लाला देवराज जी की मां के घर पर यह पाठशाला आरम्भ हुई। १८९१ ई० में इसका नाम कन्या महाविद्यालय हो गया। १८९५ ई० में बोर्डिङ्ग का बनना आरम्भ हुआ। लाला देवराज जी का इस कार्य में बड़ा विरोध किया गया। पर उस कर्मवीर ने किसी की परवाह न की। इस समय इसके भवनों की लागत पचास हजार है। इसमें ३०० कन्याओं के अध्यापन का प्रबन्ध है। इसकी प्रथम अवैतनिक प्रिंसपल श्रीमती सावित्री देवी थीं। ला० देवराज जी ने इसके लिये पुस्तकें भी लिखीं। विद्यालय को ३८४२) का लाभ हुआ है।

गुरुकुल सिकन्दराबाद

यह गुरुकुल सिकन्दराबाद (जिला बुलन्द शहर) में है। इसकी स्थापना सन् १८९८ ई० में श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के हाथों हुई। इसके मुख्याधिष्ठाता श्री पं० मुरारीलाल जी बड़े त्यागी, विद्वान् प्रचारक थे। कुछ वर्ष हो गये उनका देहान्त हो गया। इसके बाद उनके सुपुत्र पं० महेन्द्रदेव शास्त्री मुख्याधिष्ठाता का कार्य्य करते हैं।

गुरुकुल विद्यालय होशंगाबाद

इस गुरुकुल की स्थापना २७ अप्रेल १९१२ ई० को हुई। श्री पं० सूर्यदत्त जी, पण्डित इन्द्रदत्त जी, स्वामी ब्रह्मानन्द जी की अध्यक्षता में यह गुरुकुल आरम्भ हुआ। अप्रेल १९२० ई० में मध्य-प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने इसको अपने अधिकार में ले लिया। गुरुकुल कांगड़ी की पाठ-विधि यहां पर प्रचलित है। इसके भवन २२९००) की लागत के हैं। कुल धन तथा सम्पत्ति ३००००) के लगभग होगी।

विचारने की बातें

[श्री पं० राजाराम जी पाण्डेय 'मधुप']

(१)

महाकवे ! तेरी कृति करती जग में किसको मुग्ध नहीं ?
नहीं नाचता किस सहृदय का हृदय देख वैचित्र्य कहीं ?
कहो हुआ किसका मन हिमगिरि शिखर देखकर चकित नहीं ?
अगाधता धन-राशि उदधि की कौन देख है थकित नहीं ?

(२)

प्रखर-रश्मि माली मरीचि में किसने ज्योति प्रदान किया ?
या सुधांशु के कोमल कर में किसने सुधा विधान किया ?
अगणित उडुगन माला का किसने नभ में आधान किया ?
अथवा किसने वसुन्धरा को [illegible] किया ?

(३)

महि-मंडल पर मनोहारिणी औषधि किसने प्रकटाई ?
किसने प्रकृति नटी से तृणमय हरी दरी है बिछवाई ?
उपवन में ये रंग बिरंगे अहो फूल क्यों फूल रहे ?
अति कोमल होकर भी किसके बल पर हैं यों झूल रहे ?

(४)

किसके शासन से शासित हैं सूर्य चन्द्र नभ-मंडल में ?
किसके आकर्षण से आकर्षण है इस पृथ्वी-तल में ?
सुबह-शाम औ रात्रि-दिवस का मित्रो ! कौन विधाता है ?
दुख सुख या विपत्ति सम्पत्ति का हमको कौन प्रदाता है ?

(५)

आँखों की भी आँख और क्या कोई शक्ति कहीं पर है ?
इन कानों की किसी शक्ति में क्या अशक्ति कहीं पर है ?
'मधुप' प्राण का प्राण इन्द्रियों का क्या कोई स्वामी है ?
मेरे मन के भावों का क्या कोई अन्तयामी है ?

वैदिक-धर्म

[श्री राजकुमार रणञ्जयसिंह जी, अमेठी राज्य, अवध]

आर्य्य-समाज की घोषणा, 'सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग' करने के लिये हो चुकी है, इससे अधिक स्पष्ट और आवश्यक दूसरी घोषणा नहीं हो सकती।

सत्यार्थप्रकाश तथान्य ग्रन्थ, जो महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत हैं, [illegible] निष्पक्ष [illegible] विचार किया जाय तब पता चल सकता है कि स्वामी जी महाराज का हृदय कितना उदार था। स्वामी जी ने वैदिक-धर्म का पक्षपात नहीं किया है, वे तो पाखण्ड-खण्डिनी-पताका लेकर निकले थे, जिस प्रकार अन्य ढकोसलों का खण्डन करने में उन्हें सङ्कोच नहीं हुआ उसी प्रकार वेदों का खण्डन करने में भी वे न हिचकिचाते यदि वेदों में तनिक भी गड़बड़ होती।

बीसवीं शताब्दी में विश्ववन्द्य महात्मा गांधी जी सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय महापुरुष हैं, उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द जी सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय महापुरुष थे। महर्षि का महत्त्व तब समझ में आ सकता है जब उनके अपूर्व कार्य्यों पर विचार किया जाय। मैं जितना भेद महाराज रामचन्द्र और योगिराज कृष्णचन्द्र में समझता हूं उतना ही भेद स्वामी जी और महात्मा जी में समझता हूं। स्वामी जी को इस युग का राम और महात्मा जी को इस युग का कृष्ण कहा जाय तब न अत्युक्ति हो सकती है न अयुक्ति।

अपने अन्य मतावलम्बी अथवा मत-हीन भाइयों से मैं प्रार्थना करूँगा कि वे शुद्ध हृदय से निष्पक्ष विचार करें।

अपने आर्य्य भाइयों से भी निवेदन करूँगा कि वे इस बात का सदैव ध्यान रक्खें कि असंख्य कृत्रिम आर्य्यों से अच्छा एक सच्चा आर्य्य है, आज इतना सङ्केत मात्र कर रहा हूं कि वे भी सावधान रहें।

मेरा विश्वास है कि मनुष्य चाहे संसार की सब सभाओं से पृथक् हो जाय परन्तु अकेले आर्य्य-समाज में रह कर प्रत्येक सत्कार्य कर सकता है और संसार को सच्ची शान्ति भी वैदिक-धर्म ही के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

कृत्रिम-जाति

[श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना एम०ए०, डी० लिट्०, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय]

(१)

जब मैं पढ़ता था, तब कभी इस बात का अनुभव नहीं हुआ कि 'जाति' भी कोई अपकर्षक पदार्थ है। पढ़ाई समाप्त करके मेरा विचार पिता को उनके व्यापार में सहायता करने का था। मेरे बड़े भाई ने वकालत आरम्भ कर दी थी, पिता जी को मुझसे ही आशा थी। एम० ए० पास कर लेने पर जब कभी मेरे नौकर होने के विषय में चर्चा होती थी तो पिता जी फ़ौरन मना कर देते थे। पर मेरे दुर्भाग्य से हो या सौभाग्य से हो मैं व्यापार में न जा सका।

(२)

मैंने और पढ़ने की ठानी। संस्कृत पढ़ने के लिये काशी से बढ़कर कौन स्थान उपयुक्त हो सकता था। इसलिये मेरे पूज्य गुरु ने जिन्होंने एम० ए० तक पढ़ाया था मुझे काशी बुला लिया। वहां पहले पहल उन्हीं के मुख से मुझे अपनी जाति के अपकर्ष की बात मालूम हुई। वह बोले, " भाई बाबूराम ! बुरा न मानना। यहाँ पण्डित लोग ब्राह्मणेतर को पढ़ाने में संकोच करते हैं। इसलिये यदि तुमसे कोई पण्डित मना करे तो रुष्ट न होना।" तो केवल जाति के कारण पढ़ने में बाधा ? मैंने मन में कहा कि मैं तो आर्य्यसमाजी हूँ, बचपन से ही 'गुण, कर्म, स्वभाव' के अनुसार ही वर्ण भेद सुनता आया हूं। पर सोचता ! पैदा तो मैं कायस्थ कुल में हुआ हूँ। यह मुझे पहली ठेस लगी !

(३)

इसके कोई दो वर्ष बाद की बात है। काशी में मुझे एक बड़े कृपालु अंगरेज प्रोफेसर मिल गये—पिछले दो वर्ष मैंने उनके पास रिसर्च की थी। अब उनको लन्दन यूनिवर्सिटी में जगह मिल गई थी अतएव वे स्वदेश लौट रहे थे। पर जाने के पूर्व मुझे ठिकाने से लगा जाने वाले थे। प्रयाग विश्वविद्यालय का उन दिनों पुनः सङ्गठन हो रहा था। वह उस समय के वाइस चैंसलर, सर क्लाड डेलाफ़ास, से मिले। योग्यता और सिफ़ारिश दोनों के हिसाब से डेलाफ़ास साहब की पक्की राय मुझे अपने विश्व-विद्यालय में ले लेने की ठहरी, पर उन्होंने मेरे प्रोफेसर से स्पष्ट शब्दों में कहा कि "सक्सेना ब्राह्मणेतर है। संस्कृत पढ़ाने का कार्य देने से बखेड़ा

पैदा होगा। मैं उद्योग करूंगा, पर यदि मैं सफल न हुआ तो उससे कह देना कि घबड़ावे नहीं।" अपने प्रोफ़ेसर से यह सन्देश सुन कर मुझे दूसरी ठेस लगी।

सौभाग्य से सर क्लाड डेलाफ़ास का उद्योग सफल हो गया। बात यह थी कि उनकी कमेटी में कोई धर्म-धुरीण ब्राह्मणों के अधिकारों के ठेकेदार नहीं थे नहीं तो मेरा भाग्य उलटा था ही।

(४)

इससे कोई छः वर्ष बाद की बात है। १९२८ के अप्रेल मास में मैं अवध में 'अवधी' भाषा के बारे में कुछ ज्ञातव्य बातें जानने के लिये दौरा कर रहा था। कोई १० बजे दिन को मैं निकला, बाइसिकिल पर सीतापुर से मिसरिख की ओर चल पड़ा, मिसरिख से फिर उसी सड़क पर लौटने को जी न किया। सोचा दूसरी ओर कच्ची सड़क से चलूं। शाहजहांपुर ज़िले की सरहद को बातें मालूम करूं। चलने पर मेरी यात्रा बढ़ती ही गई। सीतापुर को वापस लाने वाली सड़क का पता ही न लगा। संध्या हो चली थी कोई चालीस मील से ऊपर साइकिल पर सफ़र कर चुका था बेहद प्यास लगी थी। एक कुंए के पास पहुँचा—एक मनुष्य लोटा डोरी लिए पानी भर रहा था। मैं ठहर गया। उससे विनीत भाव से लोटा डोरी मांगी कि मैं भी मुंह-हाथ धोकर पानी पीलूं। उसने कहा 'आपकी जाति।' मैं झुंझला गया और बोला 'मेरी जाति मनुष्य'। उसकी आनाकानी करते देख पड़ोस में एक स्त्री खड़ी थी उसने कहा कि "बाबू को पानी क्यों नहीं पिला देते ? प्यासे हैं।" बड़ी मुश्किल से उस आदमी में दयाभाव का उदय हुआ और उसने बड़ी दूर से मेरे चुल्लू में पानी छोड़ा। यह तीसरा ऐसा अवसर था जब मुझे यह मालूम हुआ कि जाति अपकर्ष का चिह्न है।

(५)

अन्तिम बात अभी पिछली मई की है। मैं अपनी दादी के साथ भोपाल से नरसिंहगढ़ लारी पर जा रहा था। कोई ५२ मील का फ़ासला है। बीच में दो तीन जगह मोटर पानी लेने को रुकती है। रास्ते में एक मुसल्मान भाई का हाथ एक बैल गाड़ी के बैल को सींग से टकरा कर ज़ख्मी हो गया था—मैंने अपनी सुराही का सारा पानी उन पर ख़र्च कर दिया था। अब एक जगह रुका तो प्यास लगी। नीचे उतरा तो एक ब्राह्मण महोदय दयापूर्वक पानी पिला रहे थे। मैंने तो चुल्लू से पानी पी लिया। सोचा

कि दादी को भी पानी पिला आऊँ— अचानक उस ब्राह्मण से कहा कि "भाई लोटे में पानी दे दो मैं लारी में पानी पिला आऊँ । उसने वही प्रश्न किया 'आपकी जाति ?' मैंने कहा कि 'कायस्थ' पर देवता लोटा देने को राजी नहीं हुये। दादी ने नीचे उतर कर पानी पीने से इनकार कर दिया। यह चौथा अवसर था जब मुझे विश्वास हुआ कि जाति-भेद घातक है।

अनुभवी सज्जनों के अनुभव में कितने ही इस प्रकार के अवसर आए होंगे । तब क्या यह जाति भेद घातक नहीं है। आर्य्यसमाज सिद्धान्त स्वरूप चार वर्ण मानता है पर कार्यरूप में जाति का वही ढकोसला हममें उपस्थित है जो अन्य हिन्दू सम्प्रदायों में। समाजों में कहीं बनिया पार्टी है तो कहीं कायस्थ पार्टी या क्षत्रिय पार्टी। ब्राह्मणों का तो कहना क्या ? आर्य्यसमाज में पुरोहितत्व उन्हीं के मत्थे है। बहुत से कट्टर आर्य्य-समाजी भी केवल जन्म सिद्ध ब्राह्मण ही से अपने संस्कार कराना गौरव समझते हैं।

मेरी धारणा है कि आर्य्य-समाज कभी भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार वर्ण व्यवस्था स्थिर नहीं करा सकेगा। उसे इससे आगे बढ़कर मनुष्य मात्र की एक जाति माननी चाहिये। यदि केवल इतना ही सुधार वह हिन्दू जनता में कर सके तो बड़ा उपकार हो।

कृत्रिम जाति भेद की कोई सीमा नहीं है। कायस्थ और बनिये आपस में लड़ते हैं ; पर दो कायस्थ भी आपस में सक्सेना और माथुर मानकर लड़ते देखे गये हैं। प्रयाग के कायस्थ पाठशाला में कभी कभी चुनाव के समय इसी प्रकार की लड़ाइयाँ देखी गई हैं।

जाति भेद सचमुच कृत्रिम है। हम लोगों की आकृति पर केवल एक जाति की छाप है और वह है 'मनुष्य'। सम्भव है देश और जलवायु के अनुसार हम लोगों की आकृति में कुछ अन्तर पड़ जावे। कोई घोड़े अर्बी होते हैं कोई नैपाली इसी प्रकार चीनी मनुष्य और इटालियन मनुष्य हो सकते हैं। पर सम्प्रदाय के अनुसार जाति भेद नितान्त दक़ियानूसी है। इससे जितनी जल्दी पिण्ड छूटे उतना ही अच्छा।

आर्य समाज की अग्नि

(अमेरिका के योगी डा० डेविस के एक लेख का अनुवाद)

(अनु० – काव्यमनीषी श्री पं० सूर्यदेव शर्मा, साहित्यालंकार,
एम० ए०, एल० टी०)

(रुचिरा छन्द:)

(१)

अहो ! एक प्रज्वलित अग्नि को, विश्व-मध्य में देख रहा ।
है ज्वाला अप्रमेय प्रेम की, घृणा-घोर-घातिनी महा ॥
बहु विद्वेष विदारक विभुता, तिग्मतेजयुत तमोपहा ।
पाप-पुंज को पिघला कर जो, भस्म करेगी रहा सहा ॥

(२)

अमरीका के क्षेत्रों में अफ्रीका के मैदानों में ।
बृहत एशिया महाद्वीप के, पर्वतीय प्रातानों में ॥
यूरुप के विस्तृत राज्यों में, साम्राज्यस्थ विधानों में ।
देख रहा मैं उस पावक की, ज्वाला सर्व स्थानों में ॥

(३)

प्रथम वह शिखा निम्न स्थानों, में ही देखी जाती है ।
मानव द्वारा वृद्धि हेतु नित, नव प्रकाश दिखलाती है ॥
यथा शब्द शृंखला मनुज मस्तिष्क कोष से आती है ।
तथा शिखा में मानवता से, आदि स्थिरता भाती है ॥

(४)

चाहे मानव निज क्षमता से, नरक अग्नि प्रज्वलित करे ।
निज निवास आवासों में, द्वेषाग्नि शिखा संज्वलित करे ॥
अथवा उत्तम दिव्य अग्नि ही, स्वर्ग सेव्य संकलित करे ।
स्वासामर्थ्य से धराधाम को, प्रेमसूत्र संचलित करे ॥

(५)

अनन्त उन्नति की विद्युत् से, मानव-हृदय विक्षुब्ध रहा।
केवल चिनगारियां उठीं अब, गगन-स्पर्श विलुब्ध महा॥
लेखक गण ने, वक्ताओं ने, कवियों ने जो लिखा कहा।
लेख रूप में वही शिखा उठती है देखो उग्र अहा!!

(६)

सारे ऊँचे शिखर पर्वतों, के उससे जल जायेंगे।
उपत्यकास्थित सारे सुन्दर, नगर वहीं जल जायेंगे॥
मुदित मनोहर गृह प्रिय सुहृदय, सारे वहीं बिलायेंगे।
"सूर्य" किरणवत ओस बिन्दु को, पुण्य, पाप पिघलायेंगे॥

(७)

"आर्य समाज" रूप भट्टी में, अग्नि-शिखा वह जलती है।
दयानन्द के हृदयस्थल में, पावन पाठक पलती है॥
वेद धर्म उद्धार हेतु वह, अतिशय अग्नि उछलती है।
ऋषि के पावन-हृदय-स्रोत से, जीवन-ज्योति निकलती है॥

(८)

दयानन्द से ज्ञान-ज्योति का, भारत में विस्तार हुआ।
जिससे उत्तम आत्माओं का, बहु-विधि से निस्तार हुआ॥
पातक पुंज प्रजारक पावक, हो प्रचंड संचार हुआ।
दयानन्द की आशाओं से, भी बढ़कर सुप्रचार हुआ॥

(९)

हिन्दू मुसलिम आदि सभी मिलि, उसे बुझाने को धाये।
प्राच्य ज्ञान के शिष्य, शोक! ईसाई भी आगे आये॥
किन्तु सफलता मिली न उनको, व्यर्थ यत्न सब बिनसाये।
दिव्य अग्नि बढ़ती जाती है, विश्व इसी को अपनाये॥

कुछ प्रसिद्ध तिथियां

१७९७ ई० गुरु विरजानन्द का जन्म

१८२४ ई० ऋषि दयानन्द का जन्म।

१८५६ ई० स्वा० श्रद्धानन्द का जन्म

१८५८ ई० धर्मवीर लेखराम का जन्म

१८५८ ई० दयानन्द गुरु के पास मथुरा में।

१८५९ ई० स्वा० नित्यानन्द का जन्म

१८६४ ई० पं० गुरुदत्त का जन्म।

१८६४ ई० महात्मा हंसराज का जन्म

१८६५ ई० लाजपतराय का जन्म।

२० मई १८६८ ई० स्वामी जी पर कर्णसिंह का वार।

१८६८ ई० गुरु विरजानन्द की मृत्यु

१७ नवम्बर १८६९ ई० काशी शास्त्रार्थ।

२६ अप्रैल १८६९ ई० महात्मा नारायण स्वामी जी का जन्म।

१८७५ ई० आर्य्य-समाज की स्थापना

१८८० ई० गुरुदत्त आर्य्य-समाज के सभासद बने।

३० अक्तूबर १८८३ ई० ऋषि की मृत्यु।

८ नवम्बर १८८३ ई० दयानन्द कालेज खोलने का प्रस्ताव।

१८८४ ई० लेखराम का नौकरी छोड़ना

१८८६ ई० दयानन्द हाई स्कूल की स्थापना।

१८८७, १८८८, १८८९ ई० दयानन्द कालेज के लिये चन्दा।

१८८८ ई० ऋषि की जीवनी का कार्य्य धर्मवीर लेखराम को सौंपा गया।

१८८९ ई० लाला साँईदास की मृत्यु।

१९ मार्च १८९० ई० पं० गुरुदत्त की मृत्यु।

१८९६ ई० देश में अकाल लाजपतराय का रिलीफ़ मिशन।

६ मार्च १८९७ ई० धर्मवीर लेखराम का बलिदान।

१८९७ गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना।

१९०५ ई० वैदिक कोष का निर्माण स्वा० नित्यानन्द द्वारा।

१९०५ ई० कांगड़ा के भूचाल में लाजपतराय की सहायता।

१९०६ ई० लाजपतराय को देश निकाला।

१९०९ ई० पटियाले में आर्य्य-समाजियों पर मुकद्दमा।

१९१२ ई० बलराज (महात्मा हंसराज के पुत्र) पर मुकद्दमा। ठाकुरदेवी (महात्मा हंसराज की स्त्री) की मृत्यु। पण्डित भगवानदीन की मृत्यु।

८ जनवरी १९१४ ई० स्वामी नित्यानन्द की मृत्यु।

१९१७ ई० स्वामी श्रद्धानन्द ने सन्यास लिया।

१९१९ ई० महात्मा नारायण स्वामी ने सन्यास लिया।

१९२० ई० लाजपतराय को भारत में आने की आज्ञा।

१९२२ ई० स्वा० श्रद्धानन्द को कारावास।

१९२३ ई० म० रामचन्द्र का बलिदान

१९२५ मथुरा में दयानन्द शताब्दि।

२५ मार्च १९२६ इ० असग़री बेगम की शुद्धि।

२६ दिसम्बर १९२६ ई० स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान।

१९२७ ई० आर्य्य कान्फरेस दिल्ली।

३० अक्टूबर १९२८ लाला लाजपतराय का देहावसान।

६ अप्रेल १९२९ ई० राजपाल का बलिदान।

आर्य्य प्रति

नाम	स्थापना	समाजों की संख्या	पत्र प्रकाशन
आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब	संवत् १९४१ वि०	५००	(१) आर्य्य मासिक (२) आर्य्य मुसाफिर
आर्य्य प्रदेशिक प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, सिन्ध बिलोचिस्तान	ज्ञात नहीं	२६०	आर्य्य [illegible]
आर्य्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त	२९ दिसम्बर १८८६ ई०	५१७	आर्य्य-मित्र साप्ताहिक हिन्दी
आर्य्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान, मालवा, अजमेर	४३ वर्ष हुए	१२१	आर्य्य-मार्तण्ड हिन्दी साप्ताहिक
मध्यप्रदेश व विदर्भ	२७ दिसम्बर सन् १८९९ ई०	५४	आर्य्य सेवक इस समय बन्द है
मुम्बई प्रदेश आर्य्य प्रतिनिधि सभा	१९०५ ई०	३३	ज्ञात नहीं

प्रतिनिधि सभायें

वेद प्रचार	सम्पत्ति	संस्थायें तथा अन्य बातें
३२ उपदेशक तथा २२ भजनीक हैं २६ अवैतनिक प्रचारक	१७ लाख रुपये की स्थिर निधि है	(१) गुरुकुल काँगड़ी—अमर शहीद श्रद्धानन्द ने इसकी स्थापना की थी। (२) लेखराम मेमोरियल फण्ड में ३२२८४=) १० रुपया है। यह शुद्धि के कार्य में लगाया जाता है। (३) वैदिक अनुसंधान विभाग। (४) दयानन्द उपदेशक विद्यालय। (५) दयानन्द सेवासदन—६ सदस्य हैं।
ज्ञात नहीं	लगभग ३५ लाख	(१) डी० ए० वी० कालिज लाहौर। (२) डी० ए० वी० हाई स्कूल लाहौर। (३) दयानन्द ब्रह्म महा विद्यालय। (४) आयुर्वेदिक कालिज। (५) आर्य्य अनाथालय मुल्तान।
१३ उपदेशक ९ भजनीक ९५ अवैतनिक उपदेशक	लगभग तीन लाख	(१) गुरुकुल, वृन्दावन (मथुरा) (२) दो डी० ए० वी० कालिज। (३) १० डी० ए० वी० हाई स्कूल। (४) ९ डी० ए० वी० स्कूल। (५) ५९ कन्या पाठशालायें। (६) २७ अछूत पाठशालायें। (७) संस्कृत पाठशालायें ९।
३० उपदेशक	तीन लाख	(१) दयानन्द साधु आश्रम, अजमेर। (२) सूर्य्य पुस्तकालय—चलता फिरता पुस्तकालय है।
१ भजनीक	तीस हजार	गुरुकुल होशंगाबाद। इसकी स्थापना सन् १९१२ में हुई थी। इसके पास ३००००) की जायदाद है।
ज्ञात नहीं	ज्ञात नहीं	गुरुकुल महाविद्यालय शुक्र तीर्थ।
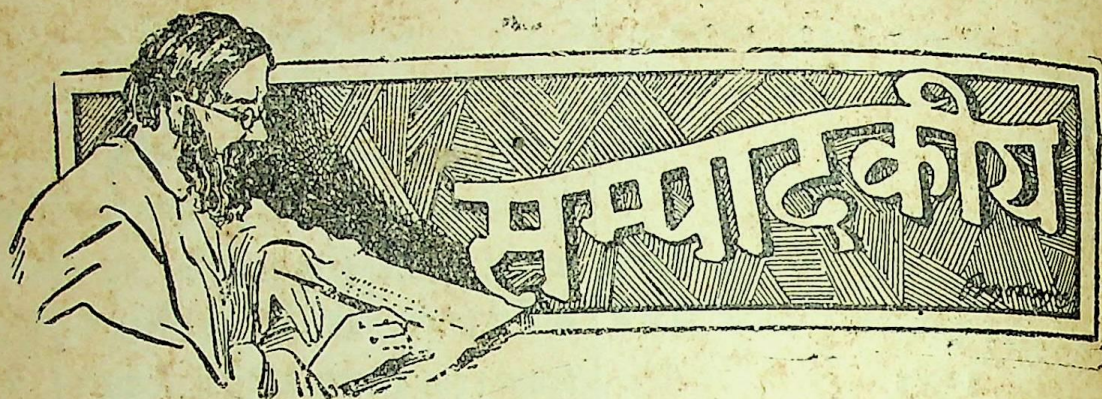
निवेदन

'वेदोदय' का "आर्य-समाज अङ्क" प्रस्तुत करते हुये हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। "आर्य-समाज अङ्क" कैसा निकला इसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। यदि २००० पृष्ठों का अङ्क निकलता और दस हज़ार रुपये व्यय किये जाते तब आर्य-समाज का कुछ दिग्दर्शन हो जाता। सागर को गागर में भरने का कार्य इस अङ्क में किया गया है। हमारा विचार है कि आर्य्य समाज का एक विस्तृत इतिहास पुस्तक रूप में जनता की भेट करें। यह कार्य्य बहुत बड़ा है, और इसके लिये समय भी लगेगा। विद्वान् लेखकों तथा कवियों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। बिना उनके हम इतना भी सफल न हो पाते। इस विशेषांक में बहुत से विद्वानों के लेख नहीं जा सके हैं जिसका हमें खेद है। हम उनसे क्षमा प्रार्थी हैं। वे लेख अगले अङ्कों में दिये जायंगे।

इस अंक के मुख पृष्ठ पर एक चित्र दिया गया है। इसमें स्वामी दयानन्द, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, धर्मवीर प० लेखराम तथा स्वामी श्रद्धानन्द का चित्र है। आर्य्य समाज की वर्त्तमान अवस्था का सारा श्रेय इन्हीं महात्माओं को है।

यदि "वेदोदय" के प्रेमियों ने हमारी सहायता की तो प्रतिवर्ष हम एक सुन्दर विशेषांक उनके अर्पण कर सकेंगे। अन्त में हम उन सबको धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इसको सफल बनाने में हमारी सहायता की है।
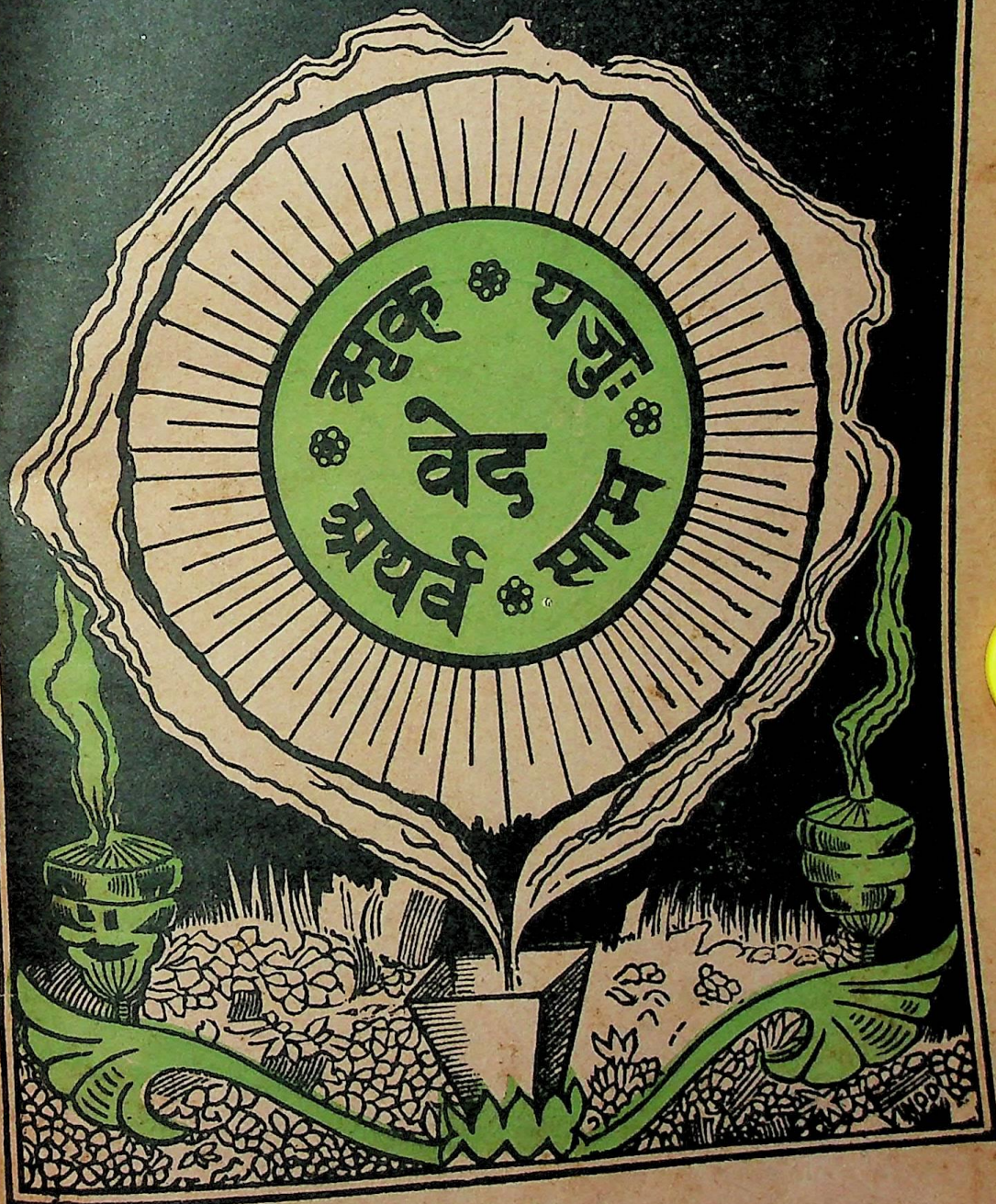
भाग ५] सितम्बर १९३२ [पूर्ण संख्या ३०

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल०बी०

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये २॥)
एक प्रति का ।)

विषय-सूची

१—प्रभु की व्यापकता (कविता) श्री शान्ति स्वरूप जी वर्मा, मेरठ १८७

२—सम्पादकीय—

१—वैदिक सप्ताह और अवैदिक मास १८८

२—महाकवि शङ्कर १९६

३—वेदों की झांकी १९७

४—माला (कविता) श्री सत्यप्रकाश जी एम० एस-सी० १९९

५—वेदान्त की बातें २०१

६—उर्दू लिपि पर विचार—[श्री महेशप्रसाद जी, मौलवी आलिम फ़ाज़िल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी] २०३

७—वैदिक धर्म पर एक दृष्टि—श्रीयुत राज्यरत्न मास्टर आत्माराम जी, अमृतसरी बड़ौदा] २११

८—आर्य समाज के निर्माता—श्री पं० देवीदत्त जी द्विवेदी—[श्री चिन्तामणि "मणि"] २१३

९—समालोचना २१९

१०—महाकवि "शंकर"—श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी० २२०

११—शंका समाधान—प्रेषक—रविवर्मा भटनागर, उज्जैन २२३

१२—शतपथ ब्राह्मण २२५

सूचना

निम्न ग्राहकों का चन्दा सितम्बर मास में समाप्त हो जाता है। प्रार्थना है कि वे मनियार्डर से २) भेज दें। यदि १५ सितम्बर तक मनियार्डर न आया तो अक्टूबर का अंक वी० पी० से भेजा जायगा। २१६, २७२, २८३, २८४, २९०, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३,

---

वेदोदय
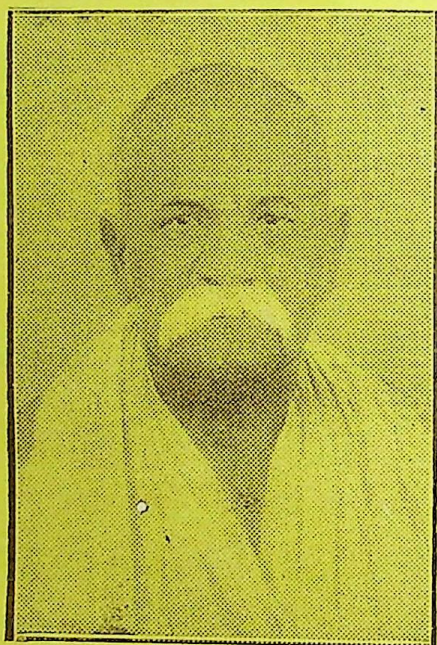
कविता कामिनि कान्त
श्री पं० नाथूराम जी शंकर शर्मा "शंकर"

जन्म संवत् १९१६ मृत्यु संवत् १९८७

ओ३म्
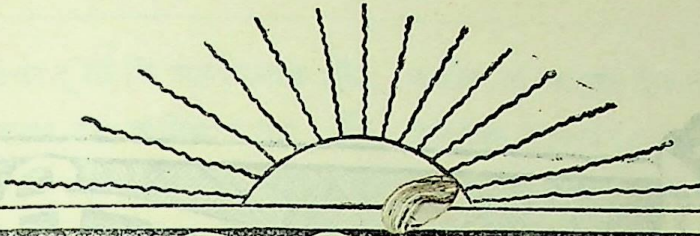
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाद्रपद संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, संख्या ६

भाग ५ सितम्बर १९३२, आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३ पू. सं. ३०

प्रभु की व्यापकता

[श्री शान्ति स्वरूप जी वर्म्मा, मेरठ]

ऊख में मिठास जैसे,
नीबू में खटास जैसे,
पुष्प में सुवास जैसे
वीणा में झंकार है।

❀ ❀

चन्द्रमा में शीत जैसे,
सूरज में ताप जैसे,
नीरद में नीर जैसे
पात में बयार है।

फण में है विष जैसे
दुग्ध में है घृत जैसे,
बीज में है वृक्ष जैसे
पाथर में भार है।

❀ ❀

तैसे ही छिपे हैं प्रभु
नर तन माँहि देखो,
जिनका स्वरूप सत्य
शुद्ध ओम्कार है॥

———

वैदिक सप्ताह और अवैदिक मास

अभी वैदिक सप्ताह समाप्त हुआ है। इसमें आर्य भाइयों ने अपनी अपनी रुचि, स्थानिक आवश्यकताओं और शक्ति के अनुसार वैदिक धर्म का प्रचार किया है। हवन यज्ञ किये गये, आर्ष ग्रन्थों की कथायें हुईं। आर्य सिद्धांतों पर भजन तथा व्याख्यान हुये। यह सब किस लिये? इसलिये कि वैदिक संस्कृति की टिम-टिमाती हुई ज्योति को अधिक प्रकाश मिल सके और लोगों में वैदिक धर्म के लिये अधिक से अधिक प्रेम उत्पन्न किया जा सके।

कोई नहीं कह सकता कि इसका कुछ न कुछ प्रभाव नहीं हुआ। मैं तो समझता हूं कि थोड़ा प्रचार भी कुछ न कुछ श्रद्धा उत्पन्न कर ही देता है। लेकिन जो बीज बोया जाता है उसको सींचने और अन्यान्य खाद्य-पदार्थों को पहुंचाने की भी तो आवश्यकता होती है। यद्यपि कृषि का पहला अंग बीज बोना है, परन्तु जो किसान बीज बोकर ही लंबी तान कर सो रहता है वह कभी उसको फलीभूत होने की आशा नहीं रख सकता। यदि आपने खेत में बीज बोया है तो आपका कर्त्तव्य यह भी है कि उसका प्रति-दिन निरीक्षण करते और देखते रहे कि अंकुर कितनी उन्नति कर रहा है। उसको समय पर पानी पहुंचाते रहें, जो घास या अनिष्ट पौधे उठ खड़े होते हैं उनको निकालने का यत्न करें जिससे खेत की मिट्टी की संपूर्ण शक्ति केवल उस पौधे की वृद्धि में ही लग जावे।

परन्तु यदि कोई किसान बीज बो कर ही खेत में चूहे छोड़ दे जिससे वे उन सब बीजों को उगने से पहले ही खा जायें तो ऐसे किसान को आप क्या कहेंगे?

आप पूछेंगे कि इस लम्बे चौड़े दृष्टान्त का दार्ष्टान्त क्या है? मैं मोटे

शब्दों में उत्तर दूंगा कि आर्य्यसमाज और उसके सभासद तथा अधिकारी गण ! मैंने आर्य्य समाज की प्रगति का ३४ बर्ष से निकटस्थ अवलोकन किया है और मुझे इस विषय में किसी प्रकार का भी अन्तर प्रतीत नहीं हुआ । जो दशा पहले थी वह अब भी है । हाँ, किसी किसी अंश में अवनति अवश्य हुई है । हम वह किसान हैं जो सेर भर बीज खेत में डालकर सौ दो सौ चूहे छोड़ देते हैं । और यह चूहे सारा खेत खा जाते हैं । कहीं इक्का दुक्का बेशर्म बीज पड़ा रह गया तो वह उग आता है । इस प्रकार आर्य्य सामाजिकों की संख्या बढ़ जाती है । जो सभासद बढ़ते हैं उनका श्रेय हमारे ऊपर नहीं है । हमने तो इतने चूहे छोड़े कि वे अवश्य समस्त खेत को निर्बीज करने के लिये पर्य्याप्त थे । परन्तु यदि कोई बीज उन चूहों से बच रहा तो या तो उन चूहों का दोष है जिन्होंने उस बीज को ढूढ़ नहीं पाया या उस बीज का जो इस प्रकार मुंह छिपाकर भाग गया ।

मेरा तात्पर्य क्या है ? जब मैं वार्षिक उत्सवों या वैदिक-सप्ताह आदि अवसरों पर आर्य्य समाज के अधिकारियों को बड़े जोश के साथ कार्य्य करते देखता हूं तो मेरे आनन्द की सीमा नहीं रहती । मैं उनके हृदयों में वैदिक धर्म प्रचार के लिये श्रद्धा और प्रेम दोनों पाता हूं । यदि ऐसा न होता तो वह रात दिन इस प्रकार परिश्रम कभी न करते । परन्तु वार्षिक-उत्सव [illegible]प्त होते ही क्या होता है ? उसके अगले सप्ताह में ही समाज में जाइये, शून्य ! निराकार ! जिन मन्त्री, प्रधान ने गला फाड़फाड़कर समाज की सभासदी के लिये लोगों से अपील की और दौड़ दौड़ कर फार्म बांटे वह ही नदारद । बीज बो दिया और कर्त्तव्य समाप्त ! मानों वह फार्म देने के साथ साथ यह कह रहे हैं कि "भाइयो, आर्य्य समाज के सभासद हो जाओ क्योंकि हम अब आर्य्य समाज के सभासद रहते रहते थक गये हैं । हम तो आयेंगे नहीं । यदि आप भी सभासद न बने तो आर्य्य समाज टूट जायगा । हम आर्य्य समाज के प्रेमी हैं इसलिये चाहते हैं कि आप आ जायं ।" मैं चौक समाज प्रयाग को देखता हूं । यहाँ सवा सौ से अधिक सभासद हैं और २१ अंतरग सभासद ! साप्ताहिक अधिवेशन नियमानुसार होते हैं और पचास के लगभग स्त्री पुरुष आ जाते हैं । परन्तु आर्य्य समाज के सभासदों की संख्या बहुत कम होती है । और अन्तरङ्ग तो आठ दस शायद ही आते हों । इसका फल जो कुछ है वह सभी जानते हैं ।

ख़ुदरा फज़ीहत, दीगरां रानसीहत ।

परन्तु मैं इस लेख में एक और भयंकर बातकी ओर संकेत करना चाहता

हूँ। वह हैं अवैदिक मास ! अभी वैदिक सप्ताह समाप्त हुआ और अभी अवैदिक मास का आरम्भ भी हो गया ! मेरा तात्पर्य है कि सितम्बर में आर्य्य समाज का साल समाप्त होता है। अक्टूबर में नया निर्वाचन होगा ! मानो हम उस समय सम्वत्सरेष्टि यज्ञ करेंगे। इसके लिये अधिकारियों की ओर से अभी से कोशिशें होने लगी होगीं। लोगों ने देखना आरम्भ कर दिया होगा कि कहाँ कहाँ के कौन कौन सभासद हैं उन्होंने चन्दा दिया या नहीं। न देनेवालों में यदि मित्र हैं तो -) मासिक के हिसाब से ।।।) हमीं क्यों न जमा कर दें। यदि शत्रु हैं तो अच्छा है चन्दा बाक़ी रहे। कूड़ा जितना कम हो उतना ही अच्छा। उनको सम्मति देने का अधिकार ही न रहेगा। यदि उदासीन हैं तो यत्न किया जाय कि हमारे पक्ष में बोलें। इस प्रकार समस्त मास।

"ओ३म् निर्वाचनाय स्वाहा, इदं निर्वाचनाय, इदन्नमम" की आहुतियों की धूम रहेगी। यही हमारी श्रुति और यही हमारी स्मृति! यही हमारा शास्त्र और यही हमारा वेद, यही हमारी स्तुति और यही प्रार्थना उपासना! आहा ! कितनी मनोरंजक (या हृदय-विदारक) बात है ! जो मज़ा ओ३म् के जाप में नहीं आता, जो मज़ा वेद मंत्रों के सुनने में नहीं आता वह मज़ा सभासदों को अपने पक्ष में करने में आता है। जिन सभासदों के दुख पर हमने कभी दो आँसू नहीं बहाये, जिन सभासदों के सुख की वार्ता सुनकर शायद हम दान लेने के नियत से ही कभी कभी चले गये हों, जिनके लिये हमने कभी यह परवाह नहीं की कि इनको संध्या गायत्री आती है या नहीं, जिनके लिये हमने कभी यह जानने का यत्न नहीं किया कि इनको क़ुरान से प्रेम है या वेदों से, उनके घर हम इस मास में अवश्य जायंगे और अपना दुखड़ा रोवेंगे। वह दुखड़ा क्या होगा ! यह नहीं कि वैदिक प्रचार कैसे हो ! किन्तु इसलिये कि अमुक पुरुष बड़ा ख़राब है। या तो वह मन्त्री पद के लिये बैठा है और अत्याचार कर रहा है या बड़ा दुष्ट और अयोग्य है और मन्त्री पद को चाहता है। आप चलिये और अमुक के पक्ष में वोट देकर आर्य्य समाज की डूबती हुई किश्ती को पार लगाइये। जब यह आर्य्य समाज के परम हितैषी जी किसी नवीन सभासद के घर पहुंचते हैं तो वह अचंभे से इनके मुंह की ओर ताकने लगता है। वह अभी नया अंकुर है। उसमें वायु के झोंकों को सहन करने की शक्ति नहीं आई। उसने तो पिछले वैदिक सप्ताह में ही मान लिखाया है और वह भी आर्य्य समाज के कार्य्यों तथा

सभासदों के उत्साह और कुर्बानियों की चित्ताकर्षक कथायें सुन कर। उसको तो स्वप्न में आशा न थी कि जमीन को स्वर्ग बनाने की चेष्टा करने वाले समाज के भीतर भी नरक की आग धधक रही है। वह तो यह समझता था कि आर्य्य समाज एक श्रेष्ठ पुरुषों का समाज है। मैं इनमें जाकर कुछ न कुछ श्रेष्ठ अवश्य बन जाऊंगा। आज जब यज्ञदत्त को देवदत्त की और देवदत्त को यज्ञदत्त की बुराई करते सुनता है तो उसके कोमल हृदय को कितना आघात पहुंचता है। वह कह उठता है :—

"सर्वे चौरा यूयम् ?"

"अरे क्या आप सब चोर ही हैं ?" उसकी समझ में नहीं आता कि किसका विश्वास करूं और किसका विश्वास न करूं। वह यज्ञदत्त दोनों का ही विश्वास कर लेता है और कहता है मैं देवदत्त की बात मानता हूं कि यज्ञदत्त खराब है और यज्ञदत्त की बात भी मानता हूं कि देव-दत्त खराब है इसलिये आज से समाज में पैर नहीं रखने का।

ऊपर मैंने जो दृश्य खींचा है वह काल्पनिक नहीं है। इस प्रकार के सैकड़ों मनुष्य हर जगह मिलेंगे जो इसी कारण समाज को छोड़ बैठे। वह समाज के सिद्धान्तों पर विश्वास रखते हैं परन्तु सामाजिकों के झगड़ों पर नहीं। वह कान पर हाथ रखकर चुप बैठ रहते हैं और [illegible] मनचले कुछ तमाशा भी देखना चाहते हैं केवल वही कुछ दिनों लकीर पीटते हैं। परन्तु स्थायी मेम्बर वह भी नहीं बनते। और आर्य्यत्व उनमें भी नहीं आता ऐसे सैकड़ों सभासद मिलेंगे जिनके मन, वचन या कर्म से आर्य्य समाज के प्रेम की गंध तक नहीं आती परन्तु वह बारह आने साल देकर तमाशा देखने में अपनी कोई क्षति नहीं समझते। इनको साहस दिलाने वाले वही मंत्री प्रधान होते हैं जिनकी उंगली पर वह नाचते हैं या जो इनकी उंगली पर नाचते हैं। वोट देनेवाले तो संकोच ही क्यों करें। उनको तो आर्य्य समाज से प्रेम ही नहीं। उनकी बला से आर्य्य समाज का भला हो या बुरा। उनको गुत्थम गुत्था देखने से गरज़। परन्तु उन आर्य्य समाज के प्रेमियों से क्या कहा जाय जो अपने थोड़े से क्षणिक लाभ के लिये इन लोगों का सहारा ढूँढ़ते हैं और इनके द्वारा आर्य समाज की जड़ में कुल्हाड़ा मार देते हैं। यदि यह तनिक भी अपने मनमें विचार करें और बुद्धि से काम लें तो इनको चाहिये कि उनके विपक्षी के मन्त्री या प्रधान हो जाने से समाज को इतनी हानि नहीं पहुंचती जितनी ऐसे तमाशाइयों की सहायता से विजय प्राप्त

करने से पहुंचती है। याद रखिये कि कभी कभी विजय पराजय, की अपेक्षा कहीं अधिक हानिकारक हो जाती है। मैं व्यक्ति-गत रूप से तो यह पसन्द करूँगा कि निर्वाचन में मेरी हार हो जाय और मेरे विपक्षी की जीत। लेकिन मैं ऐसे लोगों के पास वोट लेने के लिये कभी न जाऊँगा कि जिनके हृदय में आर्य्य-समाज के लिये कुछ भी प्रेम नहीं और जो केवल तमाशा देखने के लिये ही बारह आने पैसे दे बैठते हैं। या जिनके बारह आने वही लोग अपनी जेब से देते हैं जिनको उनके वोट की जरूरत होती है। हमारी इन करतूतों ने आर्य समाज को वैदिक प्रेमियों से रिक्त कर रक्खा है। मेरा अपना विचार तो यह है कि यदि आर्य्य समाज में केवल वही लोग हों जो अपने जीवन में और दूसरों के जीवन में आर्य्य-समाज के सिद्धान्तों का संचार करना चाहते हैं तो फिर चाहे कोई प्रधान या मंत्री क्यों न हो आर्य्य समाज का अहित नहीं होने का।

मुझे एक आश्चर्य है। आज कल आर्य्य समाज की प्रायः सभी संस्थायें निर्धन हैं। रोज कमाना और रोज खाना, न कोई सम्पत्ति है और न जायदाद। जब आर्य समाज का विस्तार बढ़ेगा तो इसकी सम्पत्ति भी स्वभावतः बढ़ेगी। यदि शून्य कोष पर निर्वाचन में इतने झगड़े पड़ते हैं तो सम्पत्ति-शाली होने पर तो निर्वाचन के दिन मिलेटिरी सेना बुलाने की जरूरत पड़ा करेगी। कहीं २ पुलीस की शरण तो अब भी ली जाती है।

आप शायद पूछने लगें कि क्या निर्वाचन के लिये झगड़ने वाले यह सब लोग आर्य्य समाज के प्रेमी नहीं? मैं स्पष्ट कहता हूं और बिना संकोच के कहता हूँ कि इनमें ९० प्रतिशतक वास्तविक प्रेम रखते हैं और १० प्रतिशतक ऐसे भी हैं जिनके उद्देश्य आर्य्य समाज की उन्नति नहीं किन्तु अवनति है। वे आर्य्य समाज की सार्वजनिकता (Democratic nature) से लाभ उठाने के लिये उसमें आ मिले हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो आर्य्य समाज पर प्रभुत्व प्राप्त (Capture) करने के लिये अन्य संस्थाओं से आ गये हैं और जिस प्रकार से जासूस जुवारियों के साथ जुआ खेल करके उन्हीं को पकड़वा देता है इसी प्रकार आर्य्य समाज के कामों में जोश दिखलाकर वह सीधे साधे आर्य्यों से अपनी संस्थाओं का काम लेना चाहते हैं। परन्तु जो ९० प्रतिशतक रह गये वह दोस्त तो हैं परन्तु 'नादान दोस्त' हैं। कहावत है कि नादान दोस्त से दाना दुश्मन बहुत कम हानिप्रद होता है। यही हाल इन आर्य्य समाज के प्रेमियों का है। जो

कभी अनेकों विधर्मियों का आन्दोलन नहीं करता वह इनका प्रेम कर गुजरता है। यह अपनी छोटी छोटी बातों के इतने पक्के होते हैं और उन पर इतना हठ करते हैं कि सर्वस्व स्वाहा करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

हमने प्रायः लोगों को कहते सुना है कि आर्य्य-समाज सार्व-जनिक संस्था (democratic body) है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को बराबर का अधिकार है। यह बात मुझे भी स्वीकार है। परन्तु याद रखिये कि जितना बराबर का अधिकार है उतना बराबर का उत्तरदायित्व भी तो है। आप उत्तरदायित्व के समय तो बगलें झांके और अधिकार के समय आ कूदें। यह कैसी डिमाकरैसी। डिमाकरैसी का अर्थ तो यह है कि समाज की रक्षा का कर्तव्य सभी के ऊपर है। यदि केवल अधिकारों का नाम ही डिमाकरैसी है तो ऐसी डिमाकरैसी संसार में बहुत दिन नहीं चल सकती। डिमाकरैसी साध्य है, साधन नहीं। रोम में पहले ऐकाधिपत्य था। लोग उससे तंग आगये। तब सार्वजनिक राज्य स्थापित हुआ। कुछ दिनों तो यह राज्य अच्छा चलता परन्तु इसकी दुर्गतिहो गई। जो विचारे रोमन साम्राज्य के लिये हथेली पर जान रखकर चेष्टा करते थे उन्हीं को डिमाकरैसी के मूर्ख प्रेमी बहुमत से तलवार के धार उतरवा दिया करते थे। नतीजा यह हुआ कि यदि ऐकाधिपत्य में लोग एक मनुष्य के अत्याचारों से तंग थे तो इस सार्वजनिक शासन में हजारों के अत्याचार से तंग आगये और जूलियस सीजर के आते आते फिर ऐकाधिपत्य स्थापित हो गया। मैं समझता हूं कि यही हाल यहां होने वाला है। आर्य्य समाज गुरुडम को नष्ट करने और वैयक्तिक स्वातंत्र्य को स्थापित करने के लिये बनाया गया है जिससे वैदिक धर्म के असली स्वरूप से सभी को लाभ पहुँच सके। परन्तु निर्वाचनों के झगड़ों से तंग आकर बहुत से लोग किसी एक गुरु के आश्रित उसके बताये हुये मंत्र जाप को कहीं अच्छा समझने लगे हैं। यह बुरी बात हो या भली। यह और बात है। परन्तु ऐसा होता अवश्य है। बहुत से धर्म के प्यासे लोग आपके निर्वाचनों की तू तू मैं मैं में पड़ना नहीं चाहते। बहुत सों को तो इससे घृणा है।

मैं एक हाल का उदाहरण दूं। अबकी साल एक भाई जो डाक्टर आफ लिट्रेचर की डिग्री प्राप्त हैं और जो बहुत ही सरल-हृदय और बचपन से आर्य्य समाज के श्रद्धालु रहे हैं वृन्दावन गुरुकुल पर गये और प्रतिनिधि भी बने। उन्होंने कई दिन रह कर क्या देखा? दिन में तो "धर्म" पर व्याख्यान होते थे और रात में उन्हीं धर्म के व्याख्याताओं

के "अधर्म युक्त" जीवन की अधर्म युक्त घटनाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता था। मुझसे कहा गया कि बहुत से लोग न रात को सोये, न उन्होंने विचारे यात्रियों को सोने दिया। होता क्या था? जिधर देखो उधर निर्वाचनों के लिये कनवैसिंग (Convassing). आप जानते हैं कि कनवैसिंग कितना बुरा काम है। इसमें शुद्ध से शुद्ध मनुष्य पर धूल फेंकने का यत्न किया जाता है। जिसमें कोई भी दोष न हो उसको घृणित से घृणित अपराध का दोषी बना देना इन वोट प्राप्त करने वालों के बायें हाथ का कर्त्तव्य है, अमुक प्रधान रुपया खा गया, अमुक मन्त्री बड़ा दुष्ट है, अमुक तो गुरु बनना चाहता है, अमुक ने इतने चेले बना रक्खे हैं, रातों यही तमाशा हुआ। मेरे पास प्रायः कनवैसर लोग नहीं आया करते और मैं रात को मज़े की नींद सोया करता हूं। परन्तु एक सज्जन अबकी साल प्रातः काल पांच बजे पहुँच ही गये और कहने लगे। "अमुक के मंत्री होने के लिये प्रस्ताव है, आपकी क्या राय है?" मैंने उनसे कहा, "शायद वह तैयार न हों?"। कहने लगे, "मैंने तैय्यार कर लिया है।" मैं चुप होगया और वह न जाने क्या सोचकर चले गये। जब हम सब लाग चल दिये तो मथुरा स्टेशन पर डाक्टर साहब से बातचीत हुई। मैंने कहा "कहिये जलसा कैसा रहा?"। कहने लगे, "मैं पहली बार ही आया हूं और यही मेरी अन्तिम बार है।" आप बस, इसी से समझ सकते हैं कि आप जलसों पर कितना धर्म का प्रचार करते हैं और कितना अधर्म का। यदि "नहि सत्यात् परोधर्मः" का शास्त्र-वाक्य ठीक है और अर्थापत्ति से "नहि असत्यात् परो अधर्मः" भी ठीक है तो हमारा अधिक समय मिथ्याचार में ही व्यतीत होता है। बहुत से शुद्ध हृदय, निर्दोष नये सभासद जिनको आपके प्रधानों, मंत्रियों, उपदेशकों और पंडितों पर अगाध श्रद्धा है इन निर्वाचन के एजेण्टों की करतूतों द्वारा आर्य्य समाज के लिये बड़े बुरे विचार ले जाते हैं। मैं जब त्रिवेणी के स्नान को जाता हूं तो गंगाजल की शीतलता तो मिनट भर में ही समाप्त हो जाती है परन्तु रेत और धूल ही घर तक आती है। हमारे उत्सवों में जाने वालों का भी यही हाल होता है। धर्म उपदेश तो पिंडाल के फ़र्श पर ही रह जाते हैं लेकिन इधर उधर की बुराइयां अवश्य मन पर अंकित हो जाती हैं।

अब से लेकर और निर्वाचन की तिथि तक कितना मिथ्याचार धर्म और आर्य्य समाज के नाम पर होगा इसको देखकर हृदय कांपता है। कई आर्य्य भाई रातों चिन्ता में मग्न रहेंगे। एक

दूसरे की त्रुटियों को खोजने के लिये क्या क्या षड्यंत्र न रचे जायंगे, कितनी गुप्त सभायें न होगीं और कितनी बार रजिष्ट्रों के पन्ने लौटपौट न किये जायंगे ? यदि कहीं एक पाई का भी अन्तर पड़ गया या जोड़ने या लिखने में भूल होगई तो न जाने क्या क्या कथायें न गढ़ी जायंगी। वैदिक सप्ताह में प्रत्येक समाज में थोड़ा बहुत हवन हुआ होगा। उसकी सामग्री से जो सुगन्धि उड़ी होगी उसकी मात्रा अवश्यमेव वायुमंडल को शुद्ध करने में सफल हुई होगी। परन्तु आर्य्य समाज सम्बन्धी इस अवैदिक मास या मल-मास में जो दुर्गन्ध उड़ेगी वह यज्ञ की सुगन्धि को सर्वथा ही तिरोभूत कर देगी, ऐसी मेरी धारणा है।

इस दुर्गन्धि से बचने का केवल एक ही उपाय है। यदि आर्य्य भाई आर्य्य समाज का हित चाहते हैं तो किसी वोट मांगने वाले को अपने पास फटकने न दें और सभा में बैठकर जिसके लिये उनकी स्वतंत्र सम्मति हो उसके लिये वोट देवें। इससे यदि कभी कोई निर्वाचन अनुचित भी हो जायगा तो उससे किसी प्रकार की हानि नहीं होने की। आर्य्य समाज के संगठन की मेशीन ऐसी होनी चाहिये कि कोई प्रधान या मंत्री हो जाय परन्तु काम ठीक चलता रहे और किसी प्रकार का द्वेष न हो।

बहुत से लोग यह शिकायत किया करते हैं कि पुराने लोग नये आदमियों को नहीं आने देते। इस प्रकार पुरानों और नयों में युद्ध हुआ करता है। परन्तु इसमें न तो पुराने ही सर्वथा अपराधी हैं न नये ही निरपराधी। यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने सदा न रहेंगे। उनको तो स्थान रिक्त करना ही है। बुढ़ापा न सही तो मृत्यु ही सही। परन्तु उनको यह विश्वास होना चाहिये कि नये लोग जो पद लेना चाहते हैं वह बनी बनाई संस्थाओं को बिगाड़ तो नहीं देंगे। बहुत से नवयुवक औरंगजेब के समान अपने अग्रजों के दीर्घ-जीवन से थक जाते हैं। यदि वह कुछ दिनों अप्रेंटिस रहकर उनके आधीन काम करना सीखें तो शीघ्र ही उनको सब अधिकार प्राप्त हो जांय और बुड्ढे लोग अपने युवकों के हाथ में संस्थाओं की बाग देकर अपने को भाग्यवान समझें। परन्तु हमारे युवक जितनी योग्यता नहीं होती उससे अधिक काम करना चाहते हैं और समझते हैं कि जो कुछ त्रुटियां दिखाई देती हैं वह सब बुड्ढों के ही कारण हैं। संभव है यह बात किसी अंश में ठीक भी हो। परन्तु कोई नहीं कह सकता कि दूसरों के हाथ में जादू की लकड़ी है जिसके एक दो तीन करते ही समस्त दोष दूर हो जायंगे।

प्रत्येक अच्छा संगठन या निर्वाचन वह है जिसमें एक चौथाई परिवर्त्तन हर साल होता रहे। इससे जहाँ पुराने लो के अनुभव से समाज वंचित न रहे, वहां नये लोग भी कुछ न कुछ अवश्य आते जांय। इन नये लोगों का काम यह नहीं होना चाहिये कि वह पुरानों को लान तान करें किन्तु यही कि वह कुछ दिनों चुप-चाप देखें कि काम की क्या प्रथा है उसमें कितने गुण हैं कितने अवगुण! पुरानों को चाहिये कि नयों पर विश्वास करें और उन्हें काम करने के लिये उत्साह दिलावें। नयों को चाहिये कि वह आते ही पुरानों पर लांछन न करने लगें। किन्तु भली भाँति परिस्थिति का अवलोकन करें जिससे जब उनकी बारी आवे तो वह सहज ही में अपने कार्य्य में सफलीभूत हो सकें।

यदि ईश्वर पर विश्वास और धर्म पर श्रद्धा रखकर कार्य्य किया जायगा तो अवश्य ही कल्याण होगा। इसके विप-रीत यदि अपनी चालाकियों पर विश्वास और मिथ्याचार पर श्रद्धा की गई तो अच्छे परिणाम की आशा व्यर्थ ही है।

महाकवि शंकर

अगस्त के वेदोदय का अन्तिम पृष्ठ मशीन पर था जब हमें सूचना मिली कि महाकवि शङ्कर विदा हो गये।

शंकर आर्य्यसमाज के प्राण थे उन्होंने अपनी सारी कवित्व शक्ति आर्य-समाज के लिये सुन्दर कविता बनाने में लगा दी। शङ्कर ने उत्तम भजनों का आदर्श आर्य समाज के सम्मुख रक्खा। उनके "अनुराग रत्न" नामक संग्रह में अनेकों भजन मिलते हैं।

शंकर के जीवन में एक बड़ी विशेषता हमें यह मिलती है कि वे ऋषि दयानन्द के परम भक्त तथा आर्य-समाज के सिद्धान्तों के परम पोषक थे। यही कारण है कि उनकी कविता का क्षेत्र संकुचित रहा। और कुछ तो आर्य कवि कह कर उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे। परन्तु हिन्दी भाषा के आचार्य श्री पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी शङ्कर की कविताओं का बड़ा सम्मान करते हैं। इन्होंने "कविता कलाप" नामक ग्रन्थ में शंकर की कुछ उत्कृष्ट कवितायें दी हैं।

शंकर की महत्ता में एक बात ने और रुकावट डाली है। उनकी कवितायें बड़े भद्दे ढंग से रद्दी कागज़ पर छपी हैं। यदि उनका एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया जाय तो बहुत उत्तम हो।

---
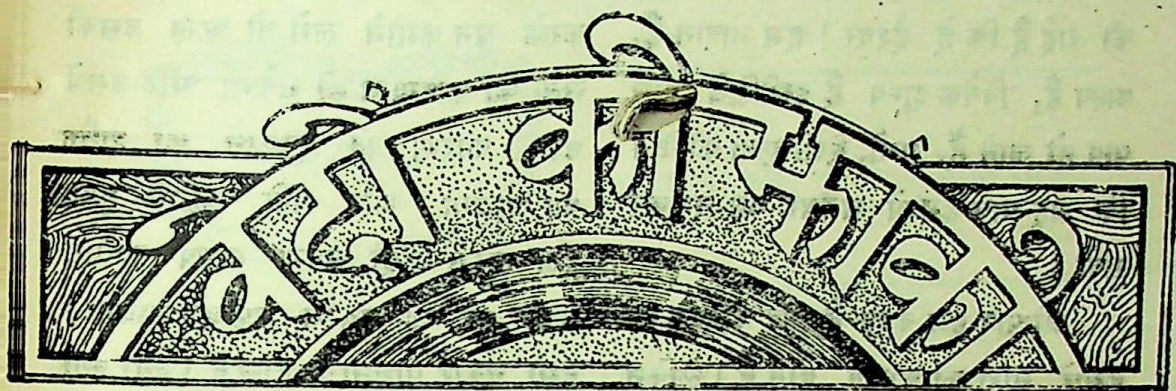
(३०)

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहँ मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत् तव धर्मा युयोषिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥

(ऋ० ७। ८९। ५)

(वरुण) हे परमात्मन (यत् किं च) जो कुछ (इदं) यह (अभिद्रोहं) बुराई। (मनुष्याः) हम लोग (दैव्येजने) विद्वान आप्त पुरुषों के प्रति (चरामसि) करते हैं। (यत्) और जो (अचित्ति) असावधानी के कारण बूझे (तव धर्म) आप के नियम को (आ युयोषिम) उल्लंघन करते हैं। (देव) हे प्रभो (तस्माद्द एतसः) उस पाप से (नः) हमको (मा रीरिषः) नष्ट न हो जाने दीजिये।

इस वेद मंत्र में बताया गया है कि मनुष्य परमात्मा के नियमों का उल्लंघन और ऋषि महर्षियों का विरोध इसलिये करते हैं कि वह 'अचित्ती' हैं अर्थात् समझते नहीं। बिना विचारे ही काम को कर डालते हैं। अगर मनुष्य सदा यह सोचता रहे कि मेरा कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है तो अवश्य वह पाप कर्म से बच सकेगा। अज्ञान ही सब पापों का मूल है और ज्ञान या विवेक से ही हमको छुटकारा मिल सकता है। हमको यदि भली भाँति विश्वास हो जाय कि जो काम हम कर रहे हैं उससे हमको हानि होगी तो वस्तुतः हमारे मन में उस कर्म के अनुसार ग्लानि होगी और हम शनैः २ उसको त्याग देंगे।

इस मन्त्र में ईश्वर से यही प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर! हम नादान हैं, अल्प हैं, विवेक शून्य हैं इसीलिये हमसे पाप हो जाते हैं, प्रभो, ऐसी कृपा कीजिये कि यह पाप हमको सर्वथा नष्ट न कर सकें।

जो पाप हम करते हैं, वह अवश्य ही हमारे नाश का कारण होते हैं। लेकिन अगर पापी आदमी ईश्वर का सहाय मांगता है तो उन पापों में कमी हो जाती है। क्योंकि प्रार्थना से उसका आत्मा पापों के दुखों को सहन करने और भविष्य में पापों का मुकाबिला करने के लिये बलवान हो जाता है। और वह सर्वथा नाश होने से बच जाता है।

यहां यह तात्पर्य नहीं है कि प्रार्थना करने से पापों का फल न मिलेगा। प्रार्थना का तात्पर्य इतना है कि प्रबल आत्मा दुख भोग कर भी नष्ट न होगा। जैसे एक ऋणी आदमी यदि परिश्रम करके धन कमाने लगे तो ऋण उसकी मृत्यु का कारण न हो सकेगा और उसमें उस कारण को चुकाने की शक्ति आ जायगी और यदि ऋणी पुरुष रंज करने में ही अपना समय व्यतीत करदे तो वह अवश्य नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार प्रार्थना का हाल है। ज्यों ज्यों मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना करेगा उसमें पापों के फलों को भोगने और भविष्य में पाप न करने की योग्यता आती जायगी और वह शनैः शनैः शुद्ध हो जायगा।

यह और जो इसी सूक्त के चार पहले मन्त्र जो पिछले अंकों में दिये जा चुके हैं नित्य प्रति प्रार्थना करने के लिये बड़े उत्कृष्ट और लाभ-दायक हैं। यदि श्रद्धा के साथ अपने को कमज़ोर मानकर इसका पाठ किया जाय तो हृदय द्रवीभूत हो जाता है।
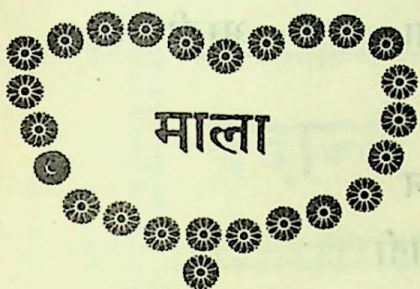
माला

श्री सत्यप्रकाश जी एम० एस० सी०

कभी लेखनी कर में लेकर
कविता लिखने मैं जाता
और हृदय यह मेरा पीछे
रह जाता मैं पछताता
पुनः भाग मैं पीछे आता
पर न वहां उसको पाता
परवस यह मेरा मन प्यारा
मुझे नचाता, भरमाता

तू कहता है,—हे कवि ! मुझको
कविता करना सिखला दे
और नहीं तो अपने दो पद
याद करा दे समझा दे

पर न दिवस वे हैं प्यारे ! जब
कविता सीखी जाती थी
सजधज कर यह बनी अप्सरा
अपना नाच दिखाती थी
पर-रुचि की कठपुतली होकर
गली गली घुमा करती

और रंगीले दरबारों में
जाकर अपना मन भरती
होते बिम्बित भाव हृदय में
पा देवी का आश्वासन
प्रेम साधना मन में होती
दर्पण होता यह जीवन
उसका मैं उसको अर्पित कर
करता स्नेही हो चिन्तन
तब मेरी वह कविता जननी
देती कुछ प्रिय मधुर सुमन
उनकी ही मैं माला रचकर
उसके चरणों में धरता
यही काम मेरा है प्यारे !
तू भी क्यों न यही करता

(३)

ईश्वर ज्ञान वाला है ।

संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के सिवाय ईश्वर एक काम करता है, वह है "ज्ञान का दान" । न केवल उसने संसार की चीज़ें बनाई। न केवल वह इनको जीवित ही रखता है। न केवल वह इनको नष्ट ही करता है। इन तीन कामों के अतिरिक्त उसका चौथा काम यह भी है कि मनुष्य को इन चीज़ों का ज्ञान भी दे। इसकी बाबत व्यास मुनि ने यह सूत्र दिया है :—

शास्त्र योनित्वात्

(वेदान्त १। १। ३)

शास्त्र की योनि होने से।

योनि का अर्थ है कारण। शास्त्र का अर्थ है ज्ञान। ईश्वर हमारे ज्ञान का भी कारण है।

ज्ञान में तीन बातें शामिल हैं शब्द, अर्थ, और उनका सम्बन्ध। हमको जो कुछ ज्ञान है उसके आधार के लिये कोई शब्द चाहिये। हम जब किसी चीज़ की बाबत सोचते हैं तो हमारे मन में एक शब्द आ जाता है। जब कुछ भाव उठता है तो उसके लिये भी कोई न कोई शब्द होता है। यह शब्द निरर्थक नहीं हो तो इनका कुछ न कुछ अर्थ होता है। शब्दों का कोई न कोई अर्थ होना ही ज्ञान है, ज्ञान को ही शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का दूसरा नाम वेद है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर हमको इस सृष्टि के जन्म, स्थिति तथा नाश के विषय में वेद द्वारा ज्ञान देता है। ईश्वर वेद की योनि है। जैसे वह संसार की योनि है उसी प्रकार वह वेद की भी योनि है, जैसे उसने संसार रचा उसी

प्रकार उसने हमको यह ज्ञान भी दिया कि संसार किस प्रकार रचा गया, किस प्रकार स्थित रहता है और किस प्रकार नाश हो जाता है।

जैसे ईश्वर की विचित्र सृष्टि को देख कर हम अनुमान करते हैं कि इसका बनाने वाला कोई है उसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान को देखकर भी हमको यही अनुमान होता है कि इस ज्ञान का देने वाला कोई अवश्य है।

मनुष्य को ज्ञान कैसे हो जाता है? यह बड़ी जटिल समस्या है जो आज तक सुलझ नहीं सकी। आप किसी बच्चे की ओर देखिये। कुछ दिनों में वह आपकी बातें समझने लगता है, यह सब कैसे संभव हो गया? साधारण लोग कहेंगे कि उसने हमारी बातें सुनी और सुनते सुनते समझने लगा। लेकिन प्रश्न यह है कि वह समझने ही क्यों लगा? आपने उसके दिमाग़ में क्या कर दिया? अगर आप बच्चे की ज्ञान प्राप्त करने के प्रवृत्ति को धीरे धीरे निरन्तर देखते जायं तो आपको बड़ा आश्चर्य होगा! पानी से भाप बनना या भाप से बादल बनकर पानी बरस जाना इतनी अद्भुत बात नहीं है जितनी मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति की बात। ज्ञान में बोली और उसका अर्थ दोनों ही आ जाते हैं।

आप कहेंगे कि हम एक दूसरे की बात सुनकर बोली सीख जाते हैं। यह ठीक है। परन्तु सबसे पहले बोली कैसे सीखी गई। और सबसे पहले आदमी को किसने सुझाया कि एक दूसरे पर भाव प्रकट करने के लिये बोली की ज़रूरत है। मनुष्य ने बोली बनाई नहीं। जैसे उसको देखने के लिये आंखें जन्म से ही मिली थीं उसी प्रकार बोलने के लिये जिह्वा भी जन्म से ही मिली थी। जिस प्रकार आंख सूर्य्य की रोशनी से देख सकती थी। इसी प्रकार जिह्वा को काम में लाने के लिये भी शब्द चाहिये थे। और यही शब्द वेद हैं। वेद के द्वारा हम जान सकते हैं कि ईश्वर चीज़ों को बनाता, क़ायम रखता और बिगाड़ता है। अर्थात् वह शास्त्र की योनि है।

उर्दू लिपि पर विचार

[श्री महेशप्रसाद जी, मौलवी आलिम फ़ाज़िल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी]

निस्सन्देह यह मेरा साहित्यिक तथा विद्याविषयक उत्साह था जो मुझे ईरान ले गया। मैंने वहाँ बहुत सी उत्तम व लाभदायक पुस्तकें देखीं जिनमें से एक 'कुल्लियात मलकम' भाग प्रथम (کلیات ملکم جلد اول) भी है। यह तिहरान (ईरान की राजधानी) में सन् १३२५ हिजरी अर्थात् १९०७ ई० में छपी है।

उक्त पुस्तक के पृष्ठ ८७ से लेकर पृष्ठ १२४ तक में फ़ारसी लिपि के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक चर्चा है। लेखक महोदय ने फ़ारसी लिपि में २४ दोष बतलाये हैं। उनमें से बहुत से दोषों को गिनाया है और कुछ अर्थात् तीन या चार की बाबत कहा है कि यदि मैं इनको प्रगट करूंगा तो काफ़िर (अधर्मी) कहलाऊंगा। इसी कारण लेखक ने उनकी चर्चा नहीं की।

उर्दू शब्द तुर्की भाषा का है। इसका अर्थ है—शाही लश्कर (राजसेना), लश्करगाह (छावनी), किन्तु अब भारत की एक भाषा का नाम है। मुसलमान हिन्दू सभी प्रायः मानते हैं कि यह ब्रज भाषा से निकली है! इसमें क्रिया व सर्वनाम आदि हिन्दी के ही हैं। परन्तु बहुत से शब्द व विचार आदि अरबी, फ़ारसी व तुर्की के हैं और इसकी लिपि व अक्षर आदि अरबी फ़ारसी के हैं। अस्तु फ़ारसी लिपि के सम्बन्ध में जो दोष 'कुल्लियात मलकम' में हैं उनमें से बहुत से ऐसे हैं जो उर्दू लिपि पर भी लागू होते हैं।

निदान मैंने सोचा कि उक्त ईरानी ग्रन्थ में जो दोष लिखे गये हैं उनको तथा अन्य सारे दोषों को एकत्र कर दूं ताकि लोगों को अधिक लाभ हो सके, इसी का फल है कि यह हिन्दी प्रेमियों की सेवा में भेंट किया जा रहा है और इसमें जो कुछ मैंने लिखा है विस्तार पूर्वक लिखा है ताकि समझने-समझाने में सुगमता हो।

आवश्यकता तो यह थी कि कुल्लियात मलकम के लेखक का मैं थोड़ा सा परिचय देता किन्तु शोक का विषय है कि मुझे इस विषय में केवल इतना ही अभी तक मालूम हुआ है कि लेखक महोदय का नाम प्रिन्स मीरजा मलकम खां नाजिमउद-दौलः (پرنس میرزا ملکم خاں ناظم الدولہ) है। वह लण्डन में ईरान राज्य की ओर से प्रधान प्रतिनिधि थे। परन्तु लेखक की पुस्तक के देखने से मैं इस परिणाम पर अवश्य पहुँचा हूं कि प्रिन्स

महोदय एक बड़े चतुर व दूरदर्शी व्यक्ति थे। और उनको ईरान के अभ्युदय का भारी ख़्याल था।

तुर्कों पर हमारे बहुतेरे मुसलमान भाइयों को बहुत नाज़ है। उनमें अरबी लिपि का चलन था जो अर्वाचीन फ़ारसी लिपि की माता है। उन लोगों ने उस लिपि को कठिन तथा दोष-पूर्ण समझा, इस कारण बदल दिया। संभव है कि इसमें 'कुल्लियात मलकम' के लेख का कुछ प्रभाव हो। ईरान में अभी तक फ़ारसी लिपि है किन्तु जागृति की जो लहर ईरान में है उसके प्रभाव की संभावना लिपि पर भी हो सकती है। अब देखना यह है कि भारत में क्या होता है।

औरङ्गाबाद (हैदराबाद दक्षिण) में 'अंजमुन तरक्की उर्दू' नामक एक संस्था है। उसकी ओर से 'उर्दू' नामी उच्च-कोटि की एक त्रैमासिक पत्रिका उर्दू भाषा में निकलती है। सन् १९२१ ई० व १९२२ ई० में उस पत्रिका में उर्दू लिपि के विषय में कई लेख निकल चुके हैं। उनमें लिपि-सम्बन्धी दोषों को दूर करने तथा सुधारने की चर्चा थी। पर अभी तक कोई उचित परिणाम नहीं निकला।

उर्दू-वर्ण-माला

[१]

उर्दू-वर्ण-माला के अक्षरों के संबन्ध में थोड़ा बहुत जान लेने से उन कठिनाइयों तथा दोषों के समझने में सुगमता होगी जो उर्दू लिपि में हैं अतः उनकी चर्चा पहले की जा रही है :—

	उर्दू अक्षर	उच्चारण	हिन्दी
१	ا	अलिफ़	अ
२	ب	बे	ब
३	پ	पे	प
४	ت	ते	त
५	ٹ	टे	ट
६	ث	से	स
७	ج	जीम	ज
८	چ	चे	च
९	ح	हे	ह
१०	خ	ख़े	ख़
११	د	दाल	द
१२	ڈ	डाल	ड
१३	ذ	ज़ाल	ज़
१४	ر	रे	र
१५	ڑ	ड़े	ड़
१६	ز	ज़े	ज़
१७	ژ	झे	ज
१८	س ـسـ	सीन	स
१९	ش ـشـ	शीन	श
२०	ص	साद	स
२१	ض	ज़्वाद	ज़
२२	ط	तो	त
२३	ظ	ज़ो	ज़
२४	ع	ऐन	अ
२५	غ	ग़ैन	ग़

२६	ف	फ़े	फ़
२७	ق	क़ाफ़	क
२८	ک	काफ़	क
२९	گ ، گ	गाफ़	ग
३०	ل	लाम	ल
३१	م	मीम	म
३२	ن	नू	न
३३	و	वाव	व
३४	ه / ھ	हे / दो चश्मी हे	ह / ह
३५	لا	लाम अलिफ	ला
३६	ء - ٔ	हमज़ा	अ
३७	ي	छोटी इये	य
३८	ے	बड़ी इये	य

नोट—उक्त अक्षरों में से २, ३, ४, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, २२, २३, २६, ३४, ३५, व ३६ संख्या वाले अक्षर स्त्रीलिङ्ग और बाक़ी पुलिङ्ग माने जाते हैं पर ३१ के विषय में मत-भेद है।

उर्दू-वर्ण-माला के ٹ ڈ व ڑ अक्षर हिन्दी से लिये गये हैं। अरबी में कुल २८ और फारसी में कुल ३२ अक्षर होते हैं।

(२)

अक्षरों के उच्चारण का स्थान

(१) कण्ठ—ا ح خ ع غ ق ک ء ہ گ

(२) तालू—ج چ ذ ز ژ ش ض ي ظ

(३) होंठ—ب پ ف م و

(४) दान्त जी जड़—ت ث د ن ل ط ص س ر

(५) जिह्वा की जड़—ٹ ڈ ڑ

(३)

उर्दू-वर्ण-माला में से जिन अक्षरों का स्वरूप बहुधा एक ही प्रकार का है और जिनमें बिन्दी या अन्य चिह्न ही से भेद है उनका विवरण इस प्रकार है —

(१) ب پ ت ٹ ث
(२) ج چ ح خ
(३) د ڈ ذ ,
(४) ر ڑ ز ژ
(५) س ش अथवा س ش
(६) ص ض
(७) ط ظ
(८) ع غ
(९) ک گ या گ

अक्षरों के भिन्न भिन्न रूप

(१)

अब यह जानना चाहिये कि वर्ण-माला के ا د ڈ ذ , ر ڑ ز ژ व و , अक्षर ऐसे हैं जो शब्द में अपने आगे आने वाले अक्षर से किसी दशा में भी नहीं मिला करते। अतः ये अक्षर और ط व ظ अक्षर जब किसी शब्द में मिले हुये होते हैं तो उनके स्वरूप में बहुत कम

परिवर्तन होता है। परन्तु इनके सिवा अन्य अक्षरों की सूरत किसी शब्द के आरम्भ, मध्य अथवा अन्त में मिले हुये होने की दशा में निस्सन्देह बहुत बदल जाया करती है। जैसा कि नीचे दिखाया जा रहा है। पर यह ज्ञात रहे कि जो अक्षर बहुधा एक ही रङ्ग के हैं उनमें से केवल एक ही की बाबत लिखना परियाप्त है उसी में अन्य की बाबत अनुमान कर लेना चाहिये।

ب (बे-ब)

आरंभ में { بسکٹ-بـ (बिस्कुट- بولا (बोला)
بکري-بـ (बकरी) بالو (बालू)
/. – بخت (बख्त) بچہ बच्चा

मध्य में- ـبـ صبر सबर محبت (मुहब्बत)

अन्त में-ب شب (शब) کرتب (करतब)

ج (जीम-ज)

आदि में-جـ جب (जब) جناب (जनाब)

मध्य में-ـجـ (हजाब) حجاب شجر (शजर)

अन्त में-ـج - کج (कज) سج (सज)

ع (ऐन-आ)

आदि में-عـ عار (आर) عرب (अरब)

मध्य में-ـعـ بعد (बाद) استعفا (स्तीफ़ा)

अन्त में-ـع تابع (ताबे) وسیع (वसीअ

ف (फ़े-फ़)

आदि में - فـ فرش (फ़र्श) فساد (फ़साद)

मध्य में-ـفـ - سفر (सफ़र) صفائی (सफ़ाई)

अन्त में-ـف - کف (कफ़) نصف (निस्फ़)

ک (काफ़-क़)

आदि में { کـ-کرتب-(करतब) کوڑا (कूड़ा)
کاہ - (काह) کل (कल)

मध्य में { ـکـ-شکر (शाकर) مکتب (मकतब)
شکار (शिकार) نکلنا (निकलना)

अंत में-ـک - ایک (एक) چابک (चाबुक)

ل (लाम-ल)

आदि में - لـ لوٹا (लोटा) لب (लब)

मध्य में - ـلـ گلاب (गुलाब) علم (इल्म)

अन्त में -ـل ل گل (गुल) بابل (बाबुल)

م (मीम-म)

आदि में { مـ مارنا मारना مدرسہ मदरसा
مـ مرغ (मुर्ग़) مفت (मुफ़्त)

मध्य में - ـمـ ثمر (समर) کمر (कमर)

अन्त में ـم - قلم (क़लम) قاسم (क़ासिम)

ن नून-न

आदिमें نـ-نقل (नक़ल) نصیحت (नसीहत)

ن - نانا (नाना) نئی (नई)

/. - نمکین (नमकीन) نماز (नमाज़)

मध्य में ـنـ .. قند (क़न्द) سرکنا (सरकना)

अन्त में ـن - ن تن (तन) چمن (चमन)

ي (इये-या)

आदि में يـ - يعقوب याक़ूब یونان यूनान

يـ - يد (यद) يار (यार)

يـ - يهودی (यहूदी) يمن (यमन)

मध्य में ـيـ - نیم (नीम) فقير (फ़क़ीर)

अन्त में ي-ي بي بي (बीबी) دستی (दस्ती)

(२)

यह बात स्पष्ट है कि ऊपर जो शब्द उदाहरण रूप में दिये गये हैं उनमें केवल उन्हीं अक्षरों का वर्णन नहीं जिनके

आदि, मध्य या अन्त के स्वरूपों की चर्चा की गई है बल्कि उनमें ही अनेक ऐसे अक्षरों के परिवर्तित स्वरूपों का भी पता संक्षेप में लग जाता है जिनकी परिवर्तित दशाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक नहीं किया है। जैसे—

بسکٹ शब्द में ٹ (टे-ट) देखो ب में
بکری ,, ,, ر (रे-र)
بخت ,, ,, خ (खे-ख)
حجاب शब्द में ح (हे-ह) देखो ح में
سچ ,, ,, س (सीन-स)
देखो फ में
صفائی ,, ,, ص व ء (साद व हमज़ा)
فقیر ,, ,, ق (क़ाफ़)
نصف ,, ,, ص (साद)

निदान उक्त प्रवाह की बातें ऊपर के उदाहरणों में पाई जाती हैं जिनको तनिक विचार करने पर जान सकते हैं।

[३]

उर्दू वर्णमाला के जिन अक्षरों का स्वरूप बहुधा एक प्रवाह का होता है उनका परिचय पहले दिया जा चुका है। वे जब कि किसी शब्द के आरम्भ, मध्य या अन्त में होते हैं तो उनकी दशा प्रत्येक अवस्था में प्रायः एक ही रहती है किन्तु कई अक्षर ऐसे भी हैं जो कि उस अवस्था में तो किसी अक्षर के समान हो जाते हैं जब कि अपने छोटे रूप में किसी शब्द के आरम्भ या अन्त के पहले होते हैं। पर जब कि वे अकेले होते हैं अथवा किसी शब्द के अन्त में होते हैं तो समानता नहीं हुआ करती जैसे ف व ق का अन्तर स्पष्ट ही है परन्तु نقل (नक़ल) قند (क़न्द) فقیر (फकीर) یعقوب (याक़ूब) سفر (सफ़र) فرش (फर्श) व صفائی (सफ़ाई) ऐसे शब्दों से स्पष्ट है कि उक्त दोनों (ف व ق) अक्षर जब कि किसी शब्द के आरम्भ या मध्य में मिले हुये होते हैं तो इनमें केवल एकही बिन्दी का भेद होताहै।

ب ل ن ی (बे, लाम, नून व इये) अक्षर एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं परन्तु بسکٹ (बिस्कुट), بولا (बोला) لب (लब) لوٹا (लोटा); نقل (नक़ल) نصیحت (नसीहत) یعقوب (याकूब) व یونان (यूनान) ऐसे शब्दों में चारों अक्षरों में केवल बिन्दी से भेद है। उक्त चारों अक्षरों में से ل (लाम) छोड़कर बाक़ी तीनों अक्षरों में केवल बिन्दी से भेद माना जाता है। अन्यथा यह तीनों अक्षर तो किसी शब्द के आरम्भ तथा मध्य में एक समान ही होते हैं। अस्तु इन शब्दों में अक्षरों को ध्यान पूर्वक देखना चाहिये:—

بد (बद) ند (नद) ید (यद) جناب (जनाब) حباب (हुबाब) حیات (हयात) خبر (खबर) خیر (खैर) ناپ (नाप) باپ (बाप) نات (नात) بات (बात)।

ज्ञात हो कि उर्दू-वर्ण-माला के अक्षर जिस रूप में दिये गये हैं वह उनका वह स्वरूप है जो टाइप में हो[illegible] है। यह स्वरूप बहुत कुछ उर्दू सुलिपि से मिलता जुलता है किन्तु उर्दू की लिपि जो शिकस्ता बोली जाती है उसके अक्षर टाइप व सुलिपि दोनों से बहुत भिन्न होते हैं।

अक्षरों में गोल माल

(१)

कभी कभी ऐसा होता है कि ى या ے (ईये) लिखी हुई होती है किन्तु अलिफ़ पढ़ा जाता है—

حتّى या حتّٰے (हत्ता) ادنى या ادنٰے (अदना) عيسى या عيسٰے (ईसा)।

इसमाईल या रहमान ऐसे शब्द अब इस रूप में اسمعيل رحمان भी लिखे जाते हैं किन्तु जब कि اسمٰعيل رحمٰن इस सूरत में हों तो इनमें चाहे अलिफ़ लिखा हुआ हो या न हो किन्तु अलिफ़ अक्षर का उच्चारण (दोनों शब्दों के मध्य में) अवश्य होता है।

ا (अलिफ़) व ع (ऐन) दोनों अक्षर कण्ठ ही से बोले जाते हैं और इनमें धोका हो जाता है ऐसी अवस्था में (मालूम) معلوم शब्द इस सूरत مالوم में भी हो सकता है क्योंकि सारे मनुष्य ع (ऐन) को तो मरोड़ कर नहीं बोला करते।

अलिफ़ तथा ع (ऐन) वाले कुछ शब्दः—

ا (अलिफ़) से—اذان (अज़ान); الم (अलम), مامور (मामूर), ارز (अर्ज़) व ارض (अर्ज़)।

ع (ऐन) से—عذاب (अज़ाब), علم (अलम) معمور (मामूर) व عرض (अर्ज़)।

अब कुछ शब्द ऐसे दिये जाते हैं जिनमें ا व ٥ का उच्चारण एक सा ही है:—

ا (अलिफ़) से—جهگڑا (झगड़ा) بجانا (बजाना) سجانا (सजना)।

٥ (हे) से—كليجه (कलेजा), صرفه (सरफ़ा) جلسه (जलसा)।

अरबी वर्णमाला के २८ अक्षरों में से ت ث د ذ ر ز س ش ص ض ط ظ व ن हरूफ शमसी (حروف شمشى) अर्थात् शमसी अक्षर बोले जाते हैं और ا ب ج ح خ ع غ ف ق ک ل م و ٥ व ى हरूफ कमरी (حروف قمرى) अर्थात् कमरी अक्षर कहे जाते हैं। निदान जिस अरबी शब्द का ال (अलिफ़, लाम) आता है तो अलिफ़ का उच्चारण होगा पर लाम का नहीं होता बल्कि शमसी अक्षर दोबारा पढ़ने में आता है जैसे الدين (अद्दीन) और जब कि अलिफ़ लाम से पहले अक्षर भी अन्य शब्द रहता है तो अलिफ लाम का उच्चारण बिल्कुल ही नहीं हुआ करता। जैसे

امام الدین (इमामउद्दीन) या (इमामुद्दीन) जिस अरबी शब्द का आदि अक्षर कोई कमरी होता है और उसके पहले ال (अलिफ लाम) आता है अलिफ लाम पढ़ा जाता है और कमरी अक्षर दोबारा पढ़ने में नहीं आता है जैसे القمر (अल-कमर) परन्तु ऐसी दशा में यदि ال (अलिफ लाम) से पहले भी कोई शब्द होता है तो केवल ل (लाम) का उच्चारण होगा। जैसे عبدالغفور (अब्दुलगफ़ूर) بالکل (बिलकुल), بالفعل (बिलफेल)।

अब यह जतलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि अरबी की ऐसी बातों से (जो उर्दू में जड़ पकड़ गई हैं) उर्दू लिपि की समस्या कैसी जटिल हो गई है। निदान इसी का फल है कि عیدالاضحی (ईदुल अज़हा) शब्द बिगड़ कर अशुद्ध रूप में عیدالاضحی (ईदुज़ज़ुहा) बन गया है।

[२]

ऊपर बतलाया जा चुका है कि ا (अलिफ) व ع (ऐन) में धोखा हो जाता है। इसी प्रकार कई अक्षर और भी हैं जिनमें गड़बड़ी होती है क्योंकि उन अक्षरों की ध्वनि में समानता हैं।

(१) ت (ते) व ط (तो) में जैसेः—

ت से—تیر (तीर) تولنا (तौलना), تاک (ताक) تازہ (ताज़ा) تاریخ (तारीख़) व تبع (तबा) आदि ط से—مضبوط (मज़बूत) طول (तूल) طرف (तरफ) طبع (तबा) आदि। किन्तु कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनको ت या ط किसी एक से लिखना अशुद्ध नहीं माना जाता जैसेः—تہران या طہران (तिहरान) और تیار या طیار (तैयार)।

(२) ث (से) س (सीन) व (साद) ص में। जैसे—ث से ثابت (साबित) व ثانی (सानी) आदि س से—سوار (सवार) سم (सुम) سو (सौ) व سلاح (सलाह) आहि ص*से—صابن (साबुन) صاف (साफ) صندوق (सन्दूक) صد (सद) व صلاح (सलाह) आदि।

(३) ح (हे) व ہ (हे) में। जैसे—

ح से—حاجی (हाजी) व حرام (हराम) आदि—

ہ से—ہاتھی (हाथी) व ہوا (हवा) आदि—

---

* कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका उच्चारण एक सा है किन्तु अक्षरों की भिन्नता से ही अर्थों में भी भिन्नता है। सवाब व मामूर दो ढङ्गों से लिखे जाते हैं। जैसे—

ث (से) मे ثواب (सवाब) अर्थ बदला, मज़ा।

ص (साद) से صواب (सवाब) अर्थ ठीक, दुरुस्त।

ا (अलिफ) से ماٰمور (मामूर) अर्थ हुक्म दिया गया।

ع (ऐन) से—معمور (मामूर) अर्थ बस्ती, शहर, आबाद।

ذ (ज़ाल) से—نذير (नज़ीर) ... वाला।

ظ (ज़ो) से—نظير (नज़ीर) समान, तुल्य।

(४) ذ (ज़ाल) ز (ज़े) ض (ज़ाद) व ظ (ज़ो) में। जैसे—

ذ से—رذيل (रज़ील) व ذهين (ज़हीन) आदि।

ز से—وزير (वज़ीर) راز (राज़) व زراعت (ज़राअत) आदि।

ض से—مضمون (मज़मून) व قرضه (क़रज़ा) आदि।

ظ से—ظالم (ज़ालिम) व ظريف (ज़रीफ़) आदि।

परन्तु कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको ذ व ز में से किसी एक से लिखना ठीक है। जैसे—गुज़र گذر - گزر और गुज़ारिश گذارش - گزارش.

(५) ع (ऐन) व ء (हमज़ा) में। जसे—

ع (ऐन) से—مفعول (मफ़ऊल) व تعريف -तारीफ़- आदि।

ء (हमज़ा) से—مسئول (मसऊल) व ياس यास आदि।

(६) ع (ऐन) व ى (ये) में। जैसे :—

ع से—شريعت (शरीअत) व ممانعت (मोमानिअत) आदि।

ى से—اذيت (अज़ीअत) व خيريت (खैरियत) आदि।

ن से (नून) न की कई दशायें हैं एक तो वह जब कि उसका उच्चारण पूर्ण-रूप से होता है। जैसे كمان (कमान) نذير -नज़ीर- आदि ऐसे शब्दों में।

दूसरा हाल यह है जब कि नून का उच्चारण साफ़ साफ़ नहीं होता-बल्कि नाम से गुंगनी ध्वनि पैदा होती है। इसको नून गुन्नः - نون غنه कहते हैं। जैसे كنواں कुंवा سانپ सांप व اينٹ (ईंट) ऐसे शब्द आदि।

वैदिक धर्म पर एक दृष्टि

(गतांक से आगे)

[श्रीयुत राज्यरत्न मास्टर आत्म[illegible] जी, अमृतसरी, बड़ौदा]

वैदिक धर्म के इसी (अगस्त १९३२) अङ्क में हिंदू वा आर्य्य-मृत-पुरुष के दक्षिण हस्त में सोने की एक अँगूठी की चर्चा संपादक जी ने दृढ़ता-पूर्वक श्री सायण भाष्य के आधार पर की है।

इसी अङ्क के १ पृष्ठ पर संपादक जी के दिन रात के शब्दों की जगह स्वामी श्री हरिप्रसाद जी ने जो 'पुण्य-अपुण्य' सुझाये हैं। हम भी श्री स्वामी जी के उक्त प्रस्तावित शब्दों को अधिक उत्तम समझते तथा सहमत भी हैं। सायण भाष्य वा संपादक वै० धर्म की द० हाथ की हिरण्यमय (सोने की अंगूठी) के स्थान में हम दानरूपी यशस्वी कर्म दक्षिण हाथ की सोने की अंगूठी के करेंगे। इस के लिये हेतु यह है कि

हिरण्य के अर्थ सब प्राचीन कोषों में स्वर्ण तथा यश के भी हैं।

दक्षिण हाथ से दान किया जाता है —यही इस हाथ का यश वा हिरण्य है। मरते समय हिंदू तथा आर्य्य समाजी भी दान कराना उचित समझते हैं। और निर्धन से निर्धन हिंदू भी कुछ दान यथा-शक्ति ज़रूर करता है। इसलिये मरने के पीछे उसका दानरूपी यश लोक पर-लोक में साथ जाता है। सोने की अंगूठी से शवदहन का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। जो नित्य दान करते हैं वह यशस्वी हाथ लिये गये।

क्या मांस खाना धर्म है ?

स्वामी श्री हरिप्रसाद जी वैदिक मुनि का एक लेख वैदिक धर्म (बाबत मास अगस्त १९३२) में प्रकाशित हुआ है। इसमें महात्मा स्वामी जी ने वै० धर्म आर्य्य जाति हितैषी मान्यवर विचित्र पंडित श्री संपादक को निम्न शब्दों में जो अनुमति दी है उस पर मुझे कुछ विचार करना है। स्वामी जी के शब्द यह हैं :—

"आपको मंत्रों में आये हुये मांस मेदा शब्दों से उदास न होना चाहिये और यह निश्चय जानना चाहिये कि किसी समिति समाज को इनसे मुक्त किया जा सकता है, जाति भरको नहीं। आपको जाति का ख्याल रख कर काम करना चाहिये।"

डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र एम० ए०, पी० एच० डी० ने जो ग्रन्थ अंगरेजी में लिखे—उनमें से एक का नाम Indo

Aryans है उसमें उक्त लेखक ने दर्शाया है कि हिन्दुओं के पूर्वज गो मांस खाते और यज्ञ में भी गो मांस डालते थे। गो मेध का वर्णन वेदों में भी है"—

स्वा० जी का आशीर्वाद उक्त मासिक में डा० राजेन्द्रलाल मित्र के उक्त तंत्र मत के प्रचार की यदि दृढ़ नीव डाल सके तो हमें आश्चर्य नहीं करना होगा। कारण कि वीर अंगरेज गो मांस तथा सुअर मांस भक्षी होने से ही तो हिन्दू तथा यवनों पर जो यह वीरता-प्रद भोजन नहीं करते राज्य कर रहे हैं। महात्मा गांधी जी तो पागल हैं जो अपने सत्याग्रही सैनिकों को मांस की जगह भुने हुए चने और शराब की जगह देशी गुड़ खाने का उपदेश देते नहीं थकते। पंजाबी नामधारी सिख भी भारी पागल हैं जो दो शताव्दियों से सर्व प्रकार के झटका आदि मांस का खाना महापाप समझ कर इनको छूते तक नहीं और वीरता में झटका खोर बंधु सिखों से भी दुगने महावीर हैं। गुरुकुल कांगड़ी के वे ब्रह्मचारी महा डरपोक थे जो 'आर्य भोजन' दाल, रोटी, फल, छाछ और शाक खाते रहे और जिन्होंने हाकी के डंडों से शेर वा चीता मार डाला। एक और सन्यासी महात्मा इनके दल के ही अनेक लोगों को मांस खाने का भारी उपदेश घरों में दे रहे हैं। वह कहा करते हैं कि "हिन्दू वा आर्य समाजी यदि मांस नहीं खावेंगे तो भविष्य में इनकी स्त्रियां मुसलमानों के पास भग जावेंगी।"

आज कल एक नामी अंगरेज डाक्टर साहब ने एक पुस्तक लिखी है जिसमें वह लिखते हैं—कि मेरे प्रान्त के ग्रामीण वीर लोग वैष्णव मत के होने से मांस शराब नहीं खाते पीते। यह लोग खेती करने के बड़े प्रेमी हैं। धूप, शीत और वर्षा रात दिन 'गिर' में यह सहर्ष सहते हैं। बाल बच्चे भी इनके वहुत होते हैं। बड़े डंडे से यह शेर को भगाते रहते हैं। क्या मांस खाना धर्म है? अब इस प्रश्न का उत्तर कुछ देकर यह लेख समाप्त करता हूं। विदित हो कि मनुष्य झूंठ बोल सकता, और चोरी कर सकता है? महात्मा स्वामी हरिप्रसाद जी चूंकि उनके यजमान वा मित्र अनेक "ठाकुर" वा "रायबहादुर" परंपरा से मांस खाते हैं—इसलिये उनको आर्य जाति के इन 'वीर महा पुरुषों का ख़याल रात दिन रहता है, पर मैं तो यह कहूँगा कि चूँकि मनुष्य मांस खा सकता है इस हेतु पर चोरी करना भी क्या धर्म वा कर्तव्य हो सकेगा—यदि नहीं तो चोरी से बढ़कर पाप हिंसा का जिस मांस की प्राप्ति में है उसका मान्यवर महात्मा हरिप्रसाद क्यों कर धर्म कह सकते हैं? यह बात मेरी तुच्छ मति में तो नहीं आती।

श्री पं० देवीदत्त जी द्विवेदी

[चिन्तामणि "मणि"]

विलायत यात्रा

१९११ ई० के चैत्र मास में आप सी० आर्डेसर के साथ कलकत्ते रवाना हुए। कलकत्ते में उसका कार-बार था, साथ ही वह कारोनेशन प्रदर्शिनी का मुख्य एजेन्ट भी था।

उक्त पार्सी ने लण्डन में प्रदर्शन दिखाने के हेतु हिन्दुस्तान से बहुत प्रकार के मनुष्य तथा कारीगर साथ लिये। जैसे—

गोंडा बहरायच के मुसलमान नम्बद साज, प्रयाग और अमृसर के कुछ सोनार और कुछ काठ की चीजें बनाने वाले बढ़ई, सींक और मूंज की टोकरी बुनने वाली, खत्री और ब्राह्मणों की स्त्रियां, लखनऊ की चिकन काढ़ने वाली मुसलमान स्त्री और पुरुष इनमें अधिक संख्या में अफीमची थे। वे दिन रात गर्दन झुकाये बैठे ही रहते। इस प्रकार भोटान के भोटिए जो कम्बल बुनते थे और वर्मा के रेशम बुनने वाले, मालाबार के नाचने गाने वाले ईसाई। मद्रास और गुजरात के खेल तमाशा दिखाने वाले बाजीगर, पंजाब के रोटी बनाने वाले ब्राह्मण और कहार। इन सबों को मिला कर ११० आदमी थे।

उपर्युक्त समुदाय मद्रास होते हुए तूतीकोरिन एक्सप्रेस द्वारा समुद्र तट पर पहुँचा। समुद्र भयानक तरंग ले रहा था। छोटे दिल वाले सहम उठे अफीमची रोने लगे :—

"मेरे अल्ला किस बला में फंसाया" यह दृश्य यहां हो रहा था कि इधर एक पुलीस के साथ डाक्टर आ धमके और सब के कपड़े उतरवा कर मुआयना करने लगे। स्वस्थ्य पुरुषों को आज्ञा मिल गई और अस्वस्थ्य रोक लिये गये।

लंका में

आप तूतीकोरिन से ए० वी० कम्पनी के स्टीमर द्वारा रवाना हुए स्टीमर सीलोन की ओर चला। मार्ग में आपको जहाजी रोग हो गया। किन्तु ज्यों त्यों करके दूसरे दिन प्रातःकाल सीलोन पहुंचे। उस समय तक आप स्वस्थ्य हो गये थे। सीलोन (लंका) तूतीकोरिन से ९० मील है। इलाहाबाद से सीलोन तक का रेल और जहाज का व्यय २२) रुपया है। उस स्टीमर से उतर कर आप फ्रेंच स्टीमर पर सवार हुए। यह हांग कांग से आ रहा था। इस पर फ्रेंच सेना थी। जो फ्रांस जा रही थी।

मुसल्मानों के साथ फ्रेंच सेना का दुर्व्यवहार

आपके साथ फ्रेंच स्टीमर पर कुछ हिन्दुस्तानी मुसल्मान भी सवार हुये थे उन में से दोपहर के बाद एक ने अज़ान देना आरम्भ किया। फ्रेंच सैनिक आवाज़ सुनकर बाहर निकल आये और उसकी नकल कर उसके पीछे खड़े हो चिल्लाने लगे। साथ ही हँसते और मुलसमानों की इस क्रिया को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उस दिन से मुसल्मानों ने जब तक स्टीमर पर रहे फिर कभी अजान नहीं दी।

अदन की दशा

आप चौथे दिन अदन पहुँचे। यहां की विचित्र अवस्था देखी। यहाँ के पहाड़ जैसे आग से जले हों। मुसल्मान जो अदन निवासी थे बड़े गन्दे वेष में दिखाई पड़े।

पोर्ट सईद (मिश्र) में

अदन से चलकर जहाज़ स्वेज-नहर होता हुआ पोर्ट सईद पहुंचा। पोर्ट सईद में जहाज़ बहुत देर तक रुका। अतः आप बन्दरगाह से बाहर जाकर ख़ूब घूमे। यह मिश्र में है। यहाँ मुसलमान हिन्दुओं को क़ाफ़र कहते हैं और अधिक संख्या में अशिक्षित हैं। पोर्ट सईद घूम कर पुनः समय पर आप बन्दरगाह आये और जहाज़ पर सवार हुये। जहाज़ वहाँ से चलकर इटली; सिसिली, कोर्सिका होता हुआ मार्सल के बन्दरगाह पर रुका।

मार्सल में

आप यहां जहाज़ से उतर कर सराय में जाकर ठहरे। क्योंकि यहाँ से आपको दूसरे जहाज़ पर जाना होगा। अतएव आपने मार्सल बाज़ार भी देखा। यह फ्रांस में है यह बड़ा सुन्दर और रमणीक नगर है। लम्बी चौड़ी सड़कें हैं यहाँ सफ़ाई का अच्छा प्रबन्ध है। पालतू पशु

गाय बैल घोड़े खच्चर और शूकर हृष्ट पुष्ट और सुन्दर दिखलाई देते थे। उनके रहने के स्थान साफ़ और पीने के लिये निर्मल नल का पानी ताजी घास और दाना प्रति-क्षण मौजूद रहता था। यहाँ के निवासी नल की अपेक्षा बोतलों का पानी अधिक पीते थे यहां अनिवार्य शिक्षा फैली हुई है। हर घर के बच्चे बच्चियां स्कूलों में पढ़ते दिखाई पड़ते हैं। अध्यापक और अध्यापिकायें अपनी सन्तानों की भांति उनके साथ व्यवहार करते हैं जहाँ इतने सद्गुणों से मार्सल नगर पूर्ण था वहाँ एक अवगुण भी मौजूद था कि यहाँ की स्त्रियां नंगी तस्वीरें बेचती थीं जिनका लेना तो दूर रहा आपने देखना अनुचित समझा।

लण्डन में

चार दिनों के बाद आपको जापानी टीमर मिला। अतः उसमें सवार होकर आप आठवें दिन लण्डन पहुंचे। आपके परिचित अंगरेज़ जो हिन्दुसतान में रह चुके हैं आपसे मिले। उसके बाद आप रेलगाड़ी के द्वारा ह्वाइट सिटी पहुंचे।

प्रदर्शिनी का घेरा बहुत बड़ा था। आप लोगों के पहुँचने पर प्रदर्शिनी के अधिकारियों ने भर पेट दूध और चीनी द्वारा सत्कार किया।

इस प्रदर्शिनी में जिन जिन देशों में अंग्रेज़ों का राज्य है। वहां के मनुष्य [illegible] असली पोशाक में बुला कर बिठाए गये और आस्ट्रेलिया के ४० स्त्री पुरुष जिनका रंग बहुत सुर्ख था विशेष रूप से घोड़े की सवारी करते थे। न्यूज़ीलैण्ड के ४५ स्त्री और पुरुष रेड इण्डियन अमरीका से १८ सूदानी मुसलमान १४ स्त्री पुरुष मिश्री १८ अफरीका से १५ वर्मा के २२ जर्मनी के १३ हिन्दुस्तानी ११० सीलोनो ३५ थे ये सब अपने अपने हुनर दिखलाते थे। सुतराम भारतवासी रेड इण्डियन, न्यूजीलैण्ड और जर्मनी वालों की एक सी शकल सूरत और पहिनावा भी एक सा था। प्रदर्शिनी देखने के लिये तमाम यूरोप के स्त्री और पुरुष एकत्रित होते थे। अर्थात् फ्रांस, जर्मन, पुर्तगाल, अमरीका, स्पेन, जिब्रा-ल्टर, नारवे, स्वीडन, वेलजियम, ग्रीस और इटली, अरब, जापान, चीन, तक के मनुष्यों ने भाग लिया था। प्रत्येक कमरों का भिन्न २ टिकट था। मालवा के लोग सुनारी और कुम्हारी का काम अच्छा करते थे गोरे और कद में बहुत छोटे थे।

जो बाहर से बुलाये गये थे। उनका कुल खर्च इंगलैंड की गवर्नमेंट ने बर्दाश्त किया था।

प्रदर्शिनी का कच्चा चिट्ठा

इस प्रदर्शिनी में नोटिस बांटी गई। जार्ज पञ्चम और रानी मेरी की मूर्त्तियाँ बनाई गईं और हिंदू स्त्री पुरुषों से कहा गया कि गाते-बजाते हुए चलो और लोटे से जल चढ़ाओ एवं पुष्प अक्षत तथा धूप दीप से आर्ती करके पूजा करो। परन्तु आपने ऐसा नहीं किया बल्कि औरों को मना किया, जिसमें बहुतों ने मान लिया और बहुतों ने नहीं। इस बात की चर्चा एजेन्ट और सेक्रेटरी के पास तक पहुँची कि आपने मना किया है। आपसे सब नाराज़ हो गये अतः पूजा की तारीख विलायती समाचार पत्र में छप गई। दर्शकों की बहुत बड़ी भीड़ हुई। यूरोपियन ख़ूब मज़ाक उड़ाते थे! एक दिन हिन्दुओं के विवाह और बरात किस भांति निकलती है। इसकी नक़ल की गई। अख़बारों में तारीख छपी, बड़े धूमधाम से बारात निकाली गई। मुसलमानों के हाथों में मशालें दी गईं थीं। कुश्ती का दङ्गल भी हुआ। अंग्रेज़ों की बड़ी भीड़ होती थी। आप आर्य के नाम से मशहूर हो गये थे क्योंकि इन खुराफातों में देश की तौहीनी होती थी। अतएव आप सम्मिलित नहीं होते थे। संक्षिप्त प्रदर्शिनी में हिन्दुओं की बुराई बाइसकोप में दिखलाई जाती थी। हिन्दू अपने पशुओं और स्त्रियों के साथ कितना बुरा व्यवहार करते और मारते हैं। इनके साधु झुंड के झुंड गाँजा, भांग और चर्स पी रहे हैं। औरतें अपने बच्चों को गंगा में फेंक रही हैं। मर्द अपनी स्त्री को गंगा किनारे दान कर रहा है कि वह बैकुण्ठ जायगा।

लण्डन में बिना दस्ताना और मोजा के कोई नहीं चल सकता। ज़ोर से चिल्लाना, पेट खुजलाना, व्यर्थ बकवास करना, सड़क पर थूकना असभ्यता है। किन्तु प्रदर्शिनी में हिन्दुस्तान के ९ प्रान्त बनाए गये थे और यू० पी० प्रान्त की स्त्रियां धान और जुवार खेतों में निराती हुई और घास छीलती कानी बद-सूरत लंहगे और धोती फटी हुई जिससे उनके तन दिखलाई पड़ते हों, दिखलाया गया जिससे भारतवासी अयोग्य और असभ्य सिद्ध हों।

प्रदर्शिनी में पार्सी ने अपनी दुकान खोली। काशी के पीतल के बर्तन, लखनऊ के चिकन, काशमीरी दुशाले, धामपुर का नगीना, काठ की चीज़ें, बहरायच के नम्वे, बुद्ध व कृष्ण की मूर्त्ति आदि। बिक्री धड़ाधड़ होने लगी। छः मास में २ लाख रुपये की आमदनी हुई। आपने अवसर पाकर आर्य-समाज का सन्देशा टूटी-फूटी अंगरेज़ी में लोगों के कानों में पहुंचाना

आरम्भ कर दिया। आपसे कई पादरियों से बहसें भी हुई। वैदिक धर्म की सत्यता का मंडन तथा ईसाई सिद्धान्तों का खण्डन किया। कितने ही पादरी थे जो कुछ कह कर निरोत्तर हो गये। ऋषि दयानन्द जी महाराज का आगमन और वैदिक धर्म की सचाई और दसों नियम जो अंग्रेजी में छपे हुए थे। जिन्हें आप राधामोहन गोकुल जी कलकत्ता के पास से वितीर्ण करने के अभिप्राय से ले गये थे लोगों में बांटा। उसे पढ़ कर नर नारी प्रसन्न होते थे। अब वैदिक धर्म की चर्चा अंग्रेजों में फैली। एक दिन किसी कालेज के प्रिंसिपल अपनी स्त्री को साथ लेकर आपसे मिलने आए और कहा कि मैं भी आर्य हूं। इस प्रेम से मिलने आया हूं, आध घण्टा बातें की और बोला, Your English is very poor. Kindly if you shall come in my college, than I shall help you. परन्तु अभाग्यवश आप उसके कालेज में न जा सके क्योंकि दूकान के काम में अधिक फंसे हुये थे। केवल १॥ दिन की छुट्टी सप्ताह में मिलती थी।

विचित्र साहस

पादरियों पर विजय प्राप्त कर आप फूले न समाये। उसी हर्ष में आपने विपिन चन्द्रपाल के साथ पोलिटिकल कार्य भी छेड़ दिया। पार्सी ने आपको रोका किन्तु आप न माने। पुलीस ने आपकी रिपोर्ट की। वहां की सरकार ने आपको १२ बजे रात को लण्डन से बाहर निकाल दिया और खर्च देकर हिन्दुस्तान रवाना किया।

हिन्दुस्तान में टेम्प्रेन्स और समाज का कार्य

आपने हिन्दुस्तान में आकर पुनः टेम्प्रेन्स का कार्य अपने हाथ में लिया और भारतवर्ष के कोने कोने अर्थात् मद्रास, बम्बई, सिन्ध, बिलोचिस्तान, बङ्गाल, पञ्जाब, सीमा प्रान्त (पेशावर) जमेरात, खैबरदर्रा, अलीमसजिद, लंडोकोतल, कोहाट, रंगूटल, पाड़ाचुनार, (काबुल के समीप) यहां आप अर्द्ध रात्रि में आर्य समाज की स्थापना करते हुये गिरफ्तार कर लिये गये। पर काबुल के सीमा के बाहर लाकर छोड़ दिये गये। किन्तु आप दूसरी ओर से चले और नैसिरा, दरगई, मलाकन्द, स्वात होते बुनेर, (चिमाल के समीप) पहुंचे। यहाँ आप कई दिन तक रहे और टेम्प्रेन्स का कार्य करते रहे।

उसी अवसर पर मुसलमानों में यहाँ एक बड़ा दङ्गा हो गया। जिसमें ४० मुसलमान जान से मार डाले गये।

इस अवसर पर और आसाम काशमीर, आदि देशों की ओर चले गये। और वहां प्रचार करते रहे।

सन् १९२८ ई० में आप कलकत्ता होते हुए अंगोला मेल स्टीमर से रंगून को रवाना हुए।

रंगून में आपके पहले दिन के ही व्याख्यान में १४४ धारा लगा दी गई। परन्तु फिर भी वहां आप दो मास तक रहे। वहां से आप मांडला गये। मांडला में आपने स्त्रियों की आज़ादी देखी। वे सिगरेट इस क़दर पीती हैं कि उनके पास बैठना दुष्कर है। यहां पर आपने २५ व्याख्यान दिये। यहां एक डी० ए० वी० हाई स्कूल तथा एक कन्या पाठशाला है। जो भली भांति चल रही है।

वहां से आप मेमियो पहुंचे। इस स्थान की उपमा हिन्दुस्तान के नैनीताल पहाड़ से दी जा सकती है। यहां पर वर्मा का गवर्नर रहता है। यहां पर आपने ८ दिन तक व्याख्यान दिये। इसके बाद आप लासो चले गये। यह सान स्टेट के के नाम से प्रसिद्ध है। यह किसी समय चीन में था। परन्तु आज कल अंगरेज़ों के अधिकार में है।

लासो, नमटू, और मेमियो में आर्य-कन्या पाठशाला और डी० ए० वी० हाई स्कूल है।

लासो से आप लाप्लांग रवाना हुए। वहां जाने पर आपको ज्वर आया अतएव रंगून आर्यसमाज में आकर रहे। ज्वर के छोड़ देने के बाद आप मेल स्टीमर से कलकत्ता होते हुये इलाहाबाद आये।

पुस्तकें

आपने दस छोटे छोटे ट्रैक्ट लिखे हैं। जो निम्नलिखित हैं:—

१—गो, गोहार और शुद्धि २—वेश्या चरित्र दर्पण। ३—मादक वस्तु निषेध। ४—मद्यभंग निषेध। ५—टेम्प्रेंस संगीत। ६—स्वराज्य संगीत। ७—गोक्रन्दन। ८—स्नान चिकित्सा। ९—नवीन जागृति। १०—भारत की वर्णव्यवस्था और स्वराज्य। इन ट्रैक्टों की अच्छी बिक्री हुई। इससे आपने यथेष्ट धन प्राप्त किया।

आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त-प्रान्त को दान

इधर दैवीगत आपकी स्त्री का स्वर्गवास हो गया। अतएव आपने अपने परिश्रम से संग्रह किये धन को आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त को दान में दे दिया। वह इस शर्त पर कि मूल धन व्यय न किया जाय। उसकी आमदनी के दो तिहाई से उपयोगी पुस्तकें छापकर जन समाज में बांटी जावें और एक तिहाई मूल धन में सम्मिलित किया जाय।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन को दान

इस तरह आपने १०५) रुपया हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी दान में दिया है। आर्य प्रतिनिधि सभा की भांति इससे भी वही शर्त है। इस समय आपकी अवस्था ६६ वर्ष की है। वृद्ध होते हुये भी आप जन-समाज की सेवा में व्यग्र रहते हैं। परम पिता परमात्मा से विनीत निवेदन है कि अभी आपको इस अवनीतल पर रक्खे ताकि आपसे आर्य्य संसार लाभ उठाता रहे।

सम्पूर्ण

समालोचना

(१) दुःखदायी दुर्व्यसन
(२) मौलवी साहब और जगतसिंह
(३) पादरी साहब से बचो

मूल लेखक पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०, गुजराती भाषान्तर कर्त्ता—श्री बल्लभदास रत्नसिंह मेहता प्रकाशक आर्य्य कुमार साहित्य प्रकाशन समिति आर्य्य-पुरा (करेली बाग) बड़ौदा।

आर्य्य कुमार साहित्य प्रकाशन समिति बड़ोदा की ओर महर्षि दयानन्द जागृति ग्रन्थमाला गुजराती भाषा में निकलती है। इस ग्रन्थमाला में बड़े सुन्दर ट्रैक्ट निकले हैं। यह तीनों ट्रैक्ट आर्य्य समाज चौक प्रयाग से प्रकाशित हुये थे। यह ट्रैक्ट इतने लोकोपयोगी सिद्ध हुये कि इनका अनुवाद उर्दू, मराठी, गुजराती, टामिल, बङ्गला आदि भाषाओं में हो चुका है। हम इसके गुजराती भाषान्तर कर्त्ता श्री बल्लभदास रत्नसिंह मेहता तथा आर्य्य कुमार साहित्य प्रकाशन समिति को बधाई देते हैं और हमें आशा है कि इसी प्रकार का साहित्य गुजराती भाषा में और लिखा जायगा।

बाल्य सुधार—लेखिका श्रीमती कृष्ण देवी जी श्रीवास्तव, अत्रिसूया प्रयाग। पृष्ठ संख्या ६६। मूल्य ।) । लेखिका से प्राप्त।

यह सुन्दर पुस्तक बालकों के लिये लिखी गई। वार्त्तालाप के रूप में ज्ञान की बातें लिखी हैं आशा है कि इससे बालकों को लाभ होगा।

शुभ-संग्रह—संग्रहकर्त्ता श्री जयनारायण जी, प्रकाशक श्री दालूराम जी शर्म्मा कोषाध्यक्ष-वैदिक पाठशाला, ५ ग्वालो लेन, कलकत्ता। मूल्य =)

इस पुस्तक में भिन्न भिन्न विद्वानों के सुन्दर लेखों का बड़ा सुन्दर संग्रह है। लेख के बड़े ही सुन्दर है।

महाकवि "शंकर" जी

[श्री विश्वप्रकाश जी बी० ए०, एल०-एल० बी०]

विगत २१ अगस्त को एक महान् आर्य्य कवि पृथ्वीतल पर से उठ गया। आर्य्य कवियों में सर्वश्रेष्ठ शंकर इस नश्वर शरीर को छोड़ कर चला गया। कोयल अपना घर छोड़कर चल देती है, पर उसके मधुर गान का आभास रह जाता है। रह रह कर हृदय में कोयल के मीठे तराने उठ बैठते हैं। "शङ्कर" चला गया, उसको हम न पा सकेंगे, पर क्या उसके मधुर गीत उसके साथ गये। नहीं, नहीं वह अब भी हमारी जिह्वा पर हैं।

प्यारे शङ्कर! तुझमें बड़ा आकर्षण था, यदि आकर्षण न होता तो भला हम तेरे वियोग में दुखित क्यों होते। संसार से न जाने कितने चले गये, न जाने कितनी मृतशय्या के सिरहाने हम बैठते हैं, रोगी के शरीर से श्वास निकला नहीं, हम मोह छोड़ देते हैं। पर तेरी मृतशय्या ऐसी नहीं जो भुलाई जा सके।

"शङ्कर स्वामी से मिला,
बिछुड़ा शङ्करदास ।"

शङ्कर तो स्वामी से जाकर मिल गया। संसार के बन्धन से छूट गया पर शङ्कर के दास जो हमारे समान हैं वे बिछुड़ ही गये।

"शङ्कर" कवि स्वयं ही लिख गये हैं और ऐसे अनुपम छन्दों में, तो हम ही क्या करें।

घर में रहा न रहने वाला।
खोल गया सब द्वार किसी में लगा न फांटक ताला।
हाय निशङ्क अदृष्ट बली ने घेर घसीट निकाला ॥
घर में रहा न रहने वाला।
जाने किस पुर की वाखर में, अब की बार बिठाला।
हा ? प्रासादिक परिवर्तन का, अटका कष्ट कसाला ॥
घर में रहा न रहने वाला।
ढंग बिगाड़ दिया मन्दिर का, अङ्ग भङ्ग कर डाला।
श्रीहत हुआ अमङ्गल छाया, कहीं न ओज उजाला।
घर में रहा न रहने वाला।
शंकर ऐसे पर-बन्धन से, पड़े न पल को पाला।
आग लगे इस बन्दी-गृह में, मिले महा-सुख-शाला ॥
घर में रहा न रहने वाला।

इस बन्दी-घर में आग लग गई है, जलकर भस्म हो गया।

शरीर का हम अभिमान ही किस बूते पर करें ?

'देखी खर की दुर्दशा, उपजा उत्तम ज्ञान।
शंकर ने देहादि का, दूर किया अभिमान।'

शङ्कर ने खर की दुर्दशा जो देखी तो सारा मोह छोड़ दिया है। तो भाई हम क्या करें ?

एक तोता पिंजड़े में बन्द मिला कवि की आत्मा में भावों की अवली लग गई। बोल उठे।

"लाद पराये धर्म का, संकट भार अतोल
तोता पिंजड़े में पड़ा, बोल मनुज के बोल।"

और

"तोते तू तेरे करतब ने
इस बन्धन में डाला है रे।......
पंजे नहीं छुड़ा सकते हैं,
क्या ये पंख उड़ा सकते हैं।
चोंच न काटेगी पिंजड़े को,
शङ्कर ही रखवाला है रे ?"

शङ्कर कोई साधारण कवि न थे। उनकी कविता जन समुदाय को उठाने वाली थी उनकी एक एक कविता में अनमोल रत्न भरे हैं।

अविद्यानन्द के व्याख्यान को पढ़िये कितना रोचक व्याख्यान है।

महीनों पड़े देव सोते रहैं।
महीदेव डूबे डुबोते रहैं॥
मरी चेतना—हीन गंगा बही।
न पूरी कला तीरथों में रही॥
कमाऊ जड़ों की न पूजा टली।
कि विज्ञान फूला न विद्या फली॥
निकम्मे सुरों की न सेवा करो।
चढ़े भूतनां भूतड़ों से डरो॥
मसानी मियाँ को मना लीजिये।
जखैया रखैया बना लीजिये॥
करेंगे बली निर्बलों को अली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली।
कभी गाय बूढ़ी नहीं पालना।
किसी मिश्र को दान दे डालना॥
बड़ाई मिलेगी बड़ी आप को।
इसी भांति काटा करो पाप को॥
कहो गोलोक की जान ली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥
महा-तंत्र के मंत्र देते रहो।
खरी दक्षिणा दान लेते रहो॥
लगातार चेले बढ़ाते रहो।
नई चेलियों को पढ़ाते रहो॥
रहै श्याम के साथ श्यामा लली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥
अमीरो धुआँ धार छोड़ा करो।
पड़े खाट के बान तोड़ा करो।
मजेदार मूछें मरोड़ा करो।
निठल्ले रहो काम थोड़ा करो॥
चबाते रहो पान दोरे डली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥
रुई, नाज देशो दिया कीजिये।
बिदेशी खिलौने लिया कीजिये॥

हवेली घरों को सजाया करो।
पड़े मस्त बाजे बजाया करो॥
चढ़ें मोटरों पै मझोली न ली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥
खरी खाँड़ देशी न लाया करो।
बुरी बीट चीनी गलाया करो॥
लुके लाट, शीरा मिलाते रहो।
दुरंगी मिठाई खिलाते रहो॥
कहो? नाक यों धर्म की काट ली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥
बहू बेटियों को पढ़ाना नहीं।
घरेलू घटी को बढ़ाना नहीं॥
पढ़ी नारि नैया डुबो जायगी।
किसी मित्र की मैम होजायगी॥
बनेगी नहीं हंसनी कागली।
न विज्ञान फूला न विद्या फली॥

ब्रह्मचर्य का महत्व कवि ने कितने मनोहर शब्दों में किया है।

चूका कहीं न, हाथ गले, काटता रहा।
पैना कुठार, रक्त बसा, चाटता रहा॥
भागे भगोड़, भीरु भिड़ा, धीर न कोई।
मारे महीप, वृन्द बचा, वीर न कोई॥
सुप्रसिद्ध राम,-जामदग्न्य, का कुदान है।
महिमा-अखण्ड, ब्रह्मचर्य, की महान है॥
सुग्रीव का सुमित्र बड़े, काम का रहा।
प्यारा अनन्य,-भक्त सदा, राम का रहा॥
लङ्का जलाय, काल खलों, को सुझा दिया।
मारे प्रचण्ड, दुष्ट दिया, भी बुझा दिया॥
हनुमान वली, वीर-वरों, में प्रधान है।
महिमा-अखण्ड, ब्रह्मचर्य, की महान है॥
संसार सार, हीन सड़ा, सा उड़ा दिया।
अल्पज्ञ जीव, मन्द दशा, से छुड़ा दिया॥
अद्वैत एक, ब्रह्म सबों, को बता दिया।
कैवल्य-रूप, सिद्धि-सुधा, का पता दिया॥
भ्रम-भेद भरा, शङ्करेश, का न ज्ञान है।
महिमा-अखण्ड, ब्रह्मचर्य, की महान है॥
विज्ञान-पाठ, वेद पढ़ों, को पढ़ा गया।
विद्या-विलास, विज्ञ वरों, का बढ़ा गया॥
सारे असार, पन्थ मतों, को हिला गया।
आनन्द-सुधा, सार दया, का पिला गया॥
अब कौन दया, नन्द यती, के समान है।
महिमा-अखण्ड, ब्रह्मचर्य, की महान है॥

जितने ऋष्यङ्क निकले उन सबमें कविवर की उत्कृष्ट कविता निकला करती थीं।

कविवर के विद्वान् पुत्र श्री पं० हरिशङ्कर जी शर्म्मा भी एक बड़े कवि हैं। आप बड़ी विद्वत्ता से आर्य्यमित्र का संपादन कर रहे हैं। इससे बढ़ कर कवि की संसार को और क्या भेंट हो सकती है?

हम शङ्कर परिवार के साथ अपनी सम्वेदना प्रकट करते हैं और प्रार्थी हैं कि यह महाकवि चिरानन्द को प्राप्त हो।

——:०:——

शंका-समाधान

[प्रेषक—रविवर्मा भक्कि ।र, उज्जैन]

शङ्का

"(प्रश्न) तो क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है ?

(उत्तर) नहीं, जो उसमें अङ्क. बीज रेखा-गणित विद्या है वह सब सच्ची और जो फल की लीला है वह सब झूठी है।"

स० प्र० पृ० १७

यहाँ स्वामी जी फलित ज्योतिष को झूठ बतलाते हैं परन्तु इसके विरुद्ध सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में आप लिखते हैं "एकादशी व त्रयोदशी को छोड़ बाक़ी दस रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है।" यहां पर एकादशी व त्रयोदशी को छोड़के गर्भाधान करने की आज्ञा देना फलित ज्योतिष के अनुसार है। अतएव स्वामी जी का लेख परस्पर विरुद्ध ठहरता है। कृपया इसकी संगति लगावें।

समाधान

यह फलित ज्योतिष नहीं किन्तु शुद्ध गणित ज्योतिष है। इसमें फलित की गंध तक नहीं। जिस प्रकार भिन्न २ तिथियों में चन्द्रमा का प्रभाव समुद्र की लहरों पर भिन्न २ होता है जिससे ज्वार भाटा होते हैं इसी प्रकार भिन्न तिथियों में चन्द्रमा का प्रभाव स्त्रियों के मन और शरीर पर भी होता है। इसी शारीरिक प्रभाव के हिसाब से यह तिथियां निश्चित की गई हैं। शायद लोग फलित और गणित का भेद करने में भूल कर जाते हैं। ज्वार भाटे फलित ज्योतिष का भाग नहीं हैं। वे चन्द्रमा की स्तुति, या दान आदि के द्वारा घटाये बढ़ाये नहीं जा सकते। वे तो भौतिक घटनायें हैं। यदि मैं कहूं कि ज्येष्ठ का सूर्य्य मुझे सताता है तो मेरा यह कथन फलित ज्योतिष से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु गणित से। यदि मैं सूर्य्य की प्रार्थना करने लगूं या उसके उपलक्ष में ज्योतिषियों को दान देकर कुछ अनुष्ठान कराऊं जैसा कि फलित ज्योतिष वाले कराया करते हैं तो उससे ज्येष्ठ का सूर्य्य मुझे सताना कम न करेगा। यदि सूर्य्य ज्येष्ठ में सताता है तो इसलिये नहीं कि वह क्रुद्ध है। और अगहन में अपने ताप को मन्द कर देता है। वह इसलिये नहीं कि प्रसन्न है। यह तो सभी के साथ ऐसा ही करता है।

विशेष तिथियाँ जो वर्जित हैं वे सभी स्त्री पुरुषों के लिये न कि विशेष नक्षत्र या विशेष राशियों में उत्पन्न पुरुषों के लिये। इसी से सिद्ध होता है कि यह फलित ज्योतिष अथवा नक्षत्रों की तुष्टि से सम्बन्ध नहीं रखता यदि फलित ज्योतिष से अभिप्राय होता तो कहते कि जिसके अमुक ग्रह हों उसके लिये अमुक तिथियां वर्जित हैं और अन्य के लिये अमुक फलित ज्योतिष में तो नक्षत्रों के शान्त करने तथा विशेष दशाओं में विशेष अनुष्ठान करके नियत मार्ग का उल्लङ्घन करने का भी विधान है। परन्तु यहाँ यह भी नहीं।

शङ्का

"अंगरेज' वन, अन्त्यजादि से भी खाने पीने का भेद नहीं रक्खा है इन्होंने यही समझा होगा कि खान पान और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा परन्तु ऐसी बातों से सुधार कहां उल्टा बिगाड़ होता है।"

बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वामी जी जिन बातों में बिगाड़ मानते हैं आर्य समाजी लोग उन्हीं बातों में "सुधार" मानते हैं। अब आप ही बतलावें कि स्वामी जी गलती पर हैं या आजकल के आर्य समाजी ?

समाधान

स्वामी जी प्रत्येक दशा में सब के साथ खान पान करने के पक्ष में नहीं और यही मत बहुत से आर्य सामाजिकों का भी है। मतों में कुछ भेद देश काल के परिवर्त्तन से हो सकता है परन्तु यह प्रश्न स्थायी सिद्धान्तों का नहीं है। स्वामी जी ने उन लोगों का खण्डन किया है जो खान-पान को सुधार का विशेष अङ्ग समझते हैं। क्या जहां खान-पान की कोई रोक टोक नहीं वहां सुधार की आवश्यकता नहीं है ?

२५—जल से सने पवित्रों से प्रोक्षणियों को पवित्र करने का तात्पर्य्य यह है कि जलों में घी को रखता है। और जल में घी हितकर हो जाता है। क्योंकि यह जब बरसता है तो औषधियाँ उत्पन्न होती हैं? औषधियों को खाकर और जलों को पीकर उसका रस बनता है। इस (यजमान का) रस उत्पन्न करने के लिये ही (ऐसा किया जाता है)।

२६—अथाज्यमवेक्षते। तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति तदु होवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथंᳯ स्वयं नान्वाहुर्यत्र भूयस्य—इवाशिषः क्रियन्ते कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञऽऋत्विजआशिषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत।

२६—अब वह घी को देखता है। कुछ लोग यजमान को दिखलाते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य का इस विषय में यह कहना है। यजमान स्वयं ही अध्वर्यु क्यों नहीं हो जाते? वह स्वयं ही क्यों नहीं जपते जब अधिक आशीर्वाद दिये जाते हैं! उन लोगों की इस पर कैसे श्रद्धा होगी? जो आशीर्वाद ऋत्विज लोग देते हैं वह सब यजमान के लिये ही होते हैं। इसलिये अध्वर्यु ही देखे।

२७—सोऽवेक्षते। सत्यं वै चक्षुः सत्यंᳯ हि वै चक्षुस्तस्माद्यदिदानीं द्वौविवदमानावेयाता-महमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्माऽएव श्रद्दध्याम तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति।

२७—वह इसको देखता है...आँख ही सत्य है। आँख ही सत्य है। इस समय यदि यहाँ दो पुरुष आवें। एक कहे, 'मैंने देखा है", दूसरा कहे, "मैंने सुना है", तो उसी का विश्वास करेंगे जो कहता है "मैंने देखा है", न कि दूसरे का। इस प्रकार करने से वह घी को सत्य के द्वारा बढ़ाता है।

२८—सोऽवेक्षते। तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एष सत्य एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्रंᳯ ह्येतदमृतंᳯ ह्येतत्तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति।

२८—वह यह मन्त्रांश पढ़कर देखता है:—

तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि।

(यजु० १।३१)

"तू तेज है, शुक्र है, अमृत है।"

यह मंत्र ठीक ही है, क्योंकि घी तेज है, शुक्र है और अमृत है। इस प्रकार वह इसको इस मंत्र द्वारा बढ़ाता है।

———

(२)

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

१—स्रुकों को माँज कर गरम करना।

२—यजमान की स्त्री की कमर में कपड़े के ऊपर मौञ्जीबन्धन करना।

३—पत्नी घी की ओर देखे। फिर घी को वेदि में लाकर रखना।

४—प्रोक्षणी में पड़े हुये पवित्रों से घी शुद्ध करना।

५—शुद्ध घी को यजमान देखे।

---

(३)

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

१—जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत् पत्नी। (१।३।१।१२)

पत्नी यज्ञ का पिछला भाग है।

२—ओषधयो वै वासो (१।३।१।१४) कपड़ा ओषध का प्रतिनिधि है (कपास से बनता है)।

३—इयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्नी (१।३।१।१७)

यह पृथ्वी ही अदिति है। यह देवों की पत्नी (रक्षिका) है।

४—सत्यं वै चक्षुः (१।३।१।२७) आँख से देखा हुआ ही सत्य है। (सुना हुआ नहीं)।

Rgd. No. 2041

अनुवादक —

पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०

इस पुस्तक में बुद्ध के सदुपदेशों का मनोहर संग्रह है। जिससे प्रभावित होकर करोड़ों मनुष्य उनके जीवन काल में ही अपने जीवन को सुधार ले गये थे। इसके आरम्भ में २८ पृष्ठों की सुन्दर मनोहारिणी भूमिका है। भूमिका में सम्पूर्ण पुस्तक का सारांश लिख दिया गया है। इसके कुल २६ अध्याय हैं। यह छन्दोबद्ध प्राकृत भाषा में है जिसका सुन्दर, सरल और सरस हिन्दी अनुवाद प्रत्येक के नीचे दिया हुआ है। कागज़, छपाई सब उत्तम है। पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १) सजिल्द १॥)।

Printed and Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.